मानव-शरीर-रहस्य

द्वितीय भाग

लेखक

डॉक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा

बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०

चीफ़ मेडिकल आफ़िसर

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी.

सम्पादक

श्रीप्रेमचन्द

प्रकाशक

(राजा) रामकुमार प्रेस बुकडिपो

उत्तराधिकारी—नवलकिशोर-प्रेस बुकडिपो, लखनऊ

द्वितीयावृत्ति] १९५१ [मूल्य ४॥)

बिपिनबिहारी कपूर द्वारा
(राजा) रामकुमार यन्त्रालय में मुद्रित और प्रकाशित
उत्तराधिकारी—नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

विषय-सूची

प्लेट-सूची

प्लेट-नंबर	प्लेट-विवरण	पृष्ठ-संख्या

मानव-शरीर-रहस्य

द्वितीय भाग

वृक्क और उसका कार्य

शरीर में उदर के भीतर दाहनी और बाई ओर दो वृक्क स्थित हैं। शरीर की विषैली वस्तुओं का त्याग इनका कार्य है। शरीर में जो भिन्न-भिन्न रासायनिक क्रियाएँ होती है, उन सबसे कुछ-न-कुछ निकृष्ट पदार्थ बनते है। यदि वे पदार्थ शरीर ही में रहे, तो शरीर को उनसे हानि पहुँचे। कार्बन-डाइ-ओक्साइड एक ऐसी ही विषैली वायु है, जो भोजन के कुछ पदार्थों के भजन से शरीर में बनती है। फुप्फुस इस वायु को प्रश्वास द्वारा शरीर से निकाल देते है। यूरिया, अमोनिया, क्रियेटिनीन इत्यादि भी ऐसी ही वस्तु है, जिनको यकृत् रक्त से अलग कर लेता है और वे मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकाल दी जाती है.

अतएव वृक्क को शरीर का शुद्धिकर्ता कहना चाहिए, क्योंकि यह अग शरीर को सब विषैली वस्तुओं से मुक्त करता रहता है। जहाँ इसका कार्य बद हो जाता है, जैसा कि इसके रोगग्रस्त होने मे, तो शरीर की बहुत बुरी दशा हो जाती है। हम इसका अनुमान कर सकते हैं कि यदि हमारे मकान एक दो दिन भी

स्वच्छ न किए जायँ तो क्या दशा होगी ? इसी प्रकार यदि शरीर की स्वच्छता का कार्य किसी प्रकार रुक जाता है, तो शरीर रूपी मकान की भी वही दशा होती है । सारे शरीर पर शोथ आ जाता है। मूत्र निकलना कम हो जाता है। यूरिया इत्यादि वस्तुएँ, जो साधारणतया मूत्र के द्वारा निकला करती हैं, निकलनी बंद हो जाती है। इससे सारे शरीर में विष का संचार हो जाता है और अंत में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

किसी-किसी मनुष्य के शरीर मे दो के स्थान में एक ही वृक्क देखने मे आया है। कुछ रोगो मे भी, जैसे कि वृक्क के अर्बुद में, रोगग्रस्त वृक्क को निकालना पडता है। ऐसा करने के पूर्व इस बात की भली भाँति परीक्षा कर ली जाती है कि दूसरा वृक्क अपनी क्रिया उत्तम प्रकार से कर रहा है और कर सकता है। ऐसी अवस्थाओ में दूसरा वृक्क जो शरीर मे शेष रह जाता है, उसके आयाम मे वृद्धि हो जाती है, क्योकि उसको दो वृक्कों का काम करना पडता है। शरीर से सारा मूत्र और विषली वस्तुएँ, जो पहले दोनों वृक्को द्वारा शरीर से निकलते थे, वह अब एक ही वृक्क के द्वारा शरीर का त्याग करते है। इस कार्य की वृद्धि के कारण अंग को भी अपना आयाम बढ़ाना पडता है। अधिक काम करने के लिये अंग भी तो बडा होना चाहिए।

प्रकृति ने सारे शरीर मे यही प्रबंध रक्खा है। यदि दोनों अगों मे से एक अंग बेकाम हो जाता है, तो दूसरा अंग तुरत ही उनका काम करने के लिये अपने शरीर को बढा देता है। फुप्फुस मे भी ऐसा होता है। कभी-कभी एक फुप्फुस को बेकाम कर देना पडता है। राजयक्ष्मा-रोग में ऐसा किया जाता है। उस समय दूसरा फुप्फुस बडा हो जाता है और वह सारे शरीर के रक्त को

चित्र नं० ९७—वृक्क, गवीनी, मूत्राशय इत्यादि ।
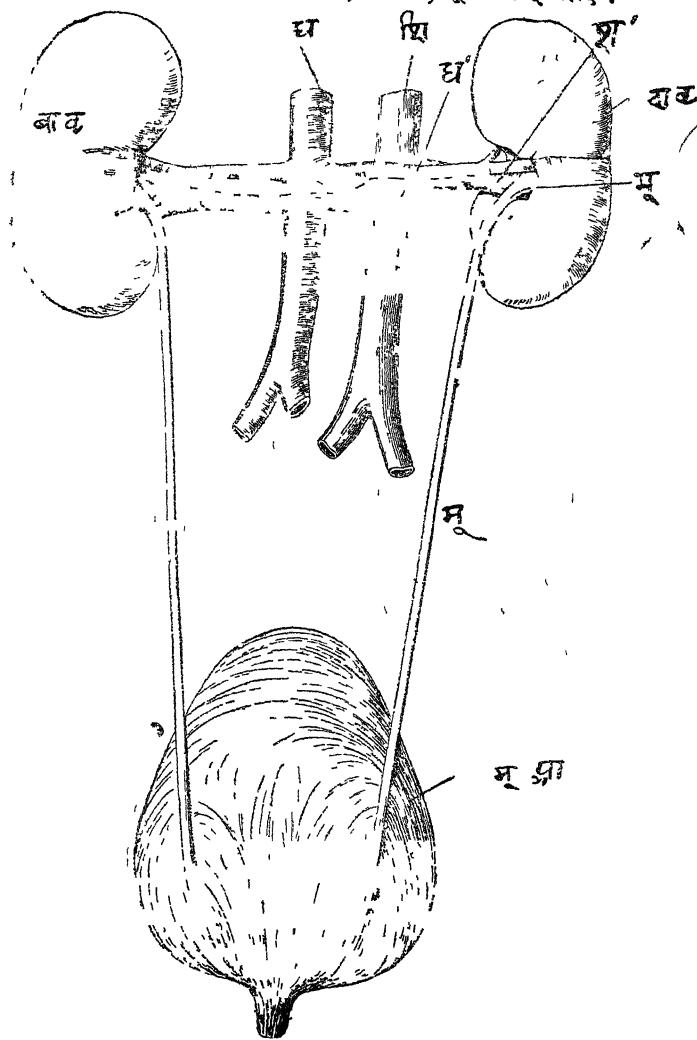
दा० वृ०—दाहना वृक्क बा० वृ०—बायाँ वृक्क ध०—बृहद् धमनी शि—महाशिरा ध०—वृक्क की धमनी शि०—वृक्क की शिरा मू०—गवीनी का मूत्राशयिक भाग मू०—गवीनी मू० आ०—मूत्राशय

शुद्धि करने लगता है। जिस शरीर में केवल एक ही अंग है, उसके भिन्न-भिन्न भागों में भी यही होता है। यदि एक भाग कुछ विकृत हो जाता है और अपने काम करने में असमर्थ होता है, तो उस अंग के दूसरे भागों मे तुरत ही वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार विकृत भाग के कार्य की क्षति पूरी हो जाती है।

मूत्र-वाहक-संस्थान, जिसका प्रधान अंग वृक्क है, वृक्क, दो नलियाँ, जिनके द्वारा वृक्क से मूत्र जाता है, जो गवीनी कहलाती है, मूत्राशय, और एक नली से मिलकर बनता है, जिसके द्वारा मूत्र शरीर से बाहर निकलता है। यह नली उत्पादक-संस्थान और इस मूत्र-वाहक-संस्थान दोनों के लिये साधारण है। इसके द्वारा वृक्क से मूत्र बाहर आता है और पुरुष में उत्पादक-ग्रंथियों से शुक्र भी बाहर निकलता है।

वृक्क—ये दोनों वृक्क उदर के भीतर पीछे की ओर रहते हैं। प्रत्येक वृक्क, पृष्ठ-वंश के दाहनी और बाईं ओर स्थित है। इसकी लंबाई ४ इंच और चौड़ाई २½ इंच के लगभग होती है। भार २ छटाँक से कुछ ऊपर होता है। देखने में ये लोभिए शाक के बीज के समान दिखाई देते हैं और इनका रंग बैंगनी होता है। वृक्क के ऊपर सौत्रिक तंतु का बना हुआ एक आवरण चढ़ा रहता है। इसको वृक्क का कोष कहते हैं। वृक्क के पीछे बारहवी पर्शुका रहती है। इसका वह किनारा, जो गोल होता है, बाहर की ओर रहता है और दूसरा छोटा किनारा, जहाँ पर धमनी, मूत्र-नलिका और शिरा के निकलने का स्थान है, पृष्ठ-वंश की ओर रहता है। इस स्थान को, जिसके द्वारा धमनी वृक्क में प्रवेश करती है और शिरा और मूत्र-प्रणाली बाहर निकलती है, वृक्क का मुख समझना चाहिए।

आंतरिक रचना—वृक्क को यदि हम किसी तेज चाकू से लंबाई की ओर दो समान भागों में काट दें, तो उसकी आंतरिक रचना हमको दिखाई देगी। यह बड़ी ही विचित्र है। वस्तुतः वृक्क बहुत बारीक नलियों का एक समूह है। ये नलियाँ एकत्रित होकर एक विशेष रूप धारण कर लेती है। वृक्क के जो दो भाग हैं, वे इन नलियों के भिन्न-भिन्न भागों से बने है। वृक्क में दो भाग दिखाई देते है; एक मध्यस्थ और दूसरा प्रांतस्थ। मध्यस्थ भाग बीच में रहता है और उसका रंग गहरा बैंगनी होता है। प्रांतस्थ भाग बाहर की ओर रहता है और उसका रंग हलका बैंगनी होता है।

चित्र नं० २८—वृक्क की लंबाई का परिच्छेद

चित्र में मीनारें और मूत्र-नलिकाओं के भाग दिखाए है, जिनसे होकर मूत्र मुख्य प्रणाली में पहुँचता है।

मध्यस्थ भाग में अनेक नलियाँ खुलती है। जिस स्थान में खुलती है, वह फैलकर एक मीनार के आकार का हो जाता है। इनको अँगरेजी में Pyramid कहते है। वस्तुतः यह वृक्क की सूक्ष्म नलियों का एक गुच्छा होता है। सारे वृक्क में इन मीनारो की संख्या १० या १२ के लगभग होती है। वृक्क से जो मूत्र-प्रणाली जिसको गवीनी कहते है, मूत्र को मूत्राशय तक ले जाती है। वह जिस स्थान पर वृक्क से निकलती है, वह स्थान आगे के भाग की अपेक्षा अधिक चौडा होता है। प्रत्येक नली जहाँ से आरभ होती है, वहाँ अधिक चौडी होती है। ज्यों-ज्यो वे आगे चलती है, त्यों-त्यो उसकी चौडाई कम होती जाती है। इसी प्रकार गवीनी भी वृक्क के पास अधिक चौडी है। आगे उसकी चौडाई कम हो जाती है। वृक्क के भीतर गवीनी का यह विस्तृत भाग ८ या १० नलिकाओ मे विभक्त हो जाता है और प्रत्येक भाग मीनार के शिखर से मिला रहता है, जिससे मीनारो के द्वारा जो कुछ भी मूत्र आता है, वह सीधा गवीनी की शाखाओं में चला आता है।

इन मीनारों की संख्या भिन्न-भिन्न पशुओ में भिन्न होती है। किसी-किसी पशु में केवल एक मीनार पाई जाती है।

इस प्रकार यह वृक्क केवल मूत्र लानेवाली सूक्ष्म नलिकाओं, केशिकाओं, शिराओं और रस-वाहिनी नलिकाओ का एक समूह है। वृक्क के प्रातस्थ भाग में सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं के गुच्छे रहते हैं। इन गुच्छों के चारो ओर से ये मूत्र-नलिकाएँ आरंभ होती हैं और प्रांतस्थ भाग मे होती हुई मध्यस्थ भाग में आकर गवीनी के भागो में समाप्त हो जाती है। इस प्रकार नलियाँ रक्त से जो कुछ मूत्र ग्रहण करती है, उनको गवीनी तक पहुँचा देती है।

ये सूक्ष्म मूत्र-नलिकाएँ, जो रक्त-नलिकाओ के गुच्छों, जिनको

मूत्रोत्सिका (Glomerulu) कहते हैं, के चारो ओर से आरंभ

चित्र नं० ५९—मूत्रोत्सिका
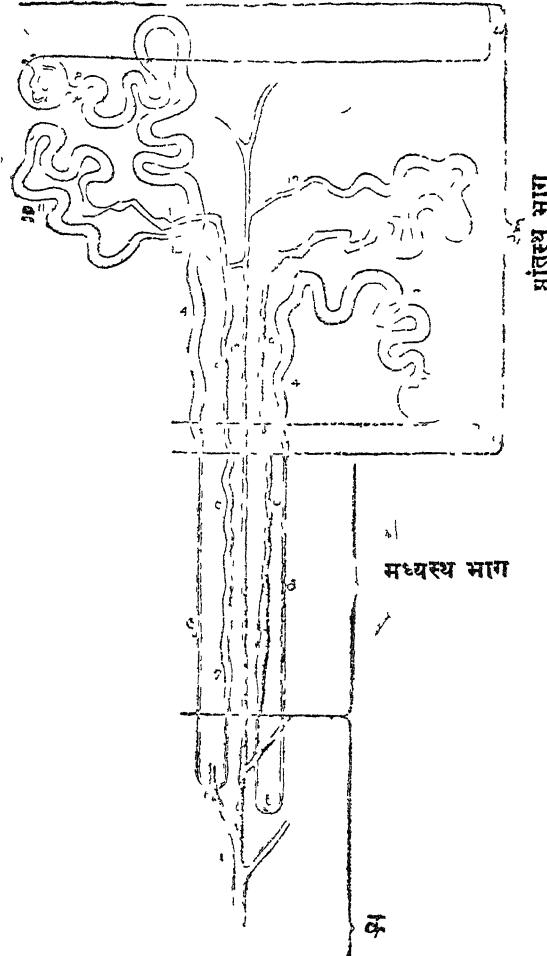
२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२—सूक्ष्म मूत्र प्रणालिका के भिन्न-भिन्न भाग जो १२ भाग के द्वारा मूत्र-प्रवाहिनी नलिका १३, १४ में मिल जाती है।

होकर अंग के मध्यस्थ भाग तक आती है। इनकी रचना बड़ी ही विचित्र है। इनका मार्ग कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। किसी भाग में वे बिलकुल सीधी रहती हैं। फिर दूसरे भाग में, इनके मार्ग में कई मोड होते हैं। नलिकाएँ साँप की गेंडली के समान दिखाई देती हैं। उनका प्रथम भाग, जो सीधे मार्ग का अवलंबन करता है, नीचे की ओर जाता है। फिर दूसरा भाग ऊपर की ओर चढ़ता है और वहाँ जाकर एक बड़ी नली में मिल जाता है। इसी प्रकार कई नलियाँ आकर एक बडी नली में मिलती है और वहाँ से मूत्र गवीनी की ओर जाता है। इसकी रचना को पूर्णतया जानने के लिये चित्र का ध्यानपूर्वक अवलोकन करना चाहिए। यहाँ कहने का इतना ही प्रयोजन है कि मूत्रोत्सिका वास्तव में वह स्थान है, जहाँ रक्त से दूषित अवयव और जल भिन्न होकर मूत्र के रूप में आ जाते है। यह अंग वृक्क के प्रांतस्थ भाग में रहता है। मूत्र-नलिकाएँ वहाँ से आरंभ होकर मध्यस्थ भाग की मीनारों के शिखरों में आती है जहाँ से मूत्र गवीनी में होता हुआ मूत्राशय में पहुँच जाता है।

वृक्क में रक्त-प्रवाह—जैसा ऊपर कहने से विदित है कि मूत्र रक्त-प्रवाह से बनता है। इसलिये वृक्क में रक्त का अधिक संचालन होना आवश्यक है। प्रत्येक वृक्क में बृहद् धमनी की एक बडी शाखा द्वारा रक्त आता है। ये शाखाएँ वृक्क के मुख में होकर, जिसके द्वारा शिरा और मूत्र-प्रणाली बाहर निकलती है, भीतर प्रवेश करती हैं। वहाँ पहुँचकर इनका छोटी-छोटी शाखाओं में विभाग हो जाता है। प्रत्येक शाखा ऊपर की ओर प्रांतस्थ भाग मे स्थित उत्सिका की ओर जाती है। वहाँ जो केशिकाओ के झुंड है, उनमें इन्हीं शाखाओं से रक्त पहुँचता है। इन केशिकाओं में रक्त भ्रमण करने

चित्र नं० ६०—वृक्क का रक्त वितरण
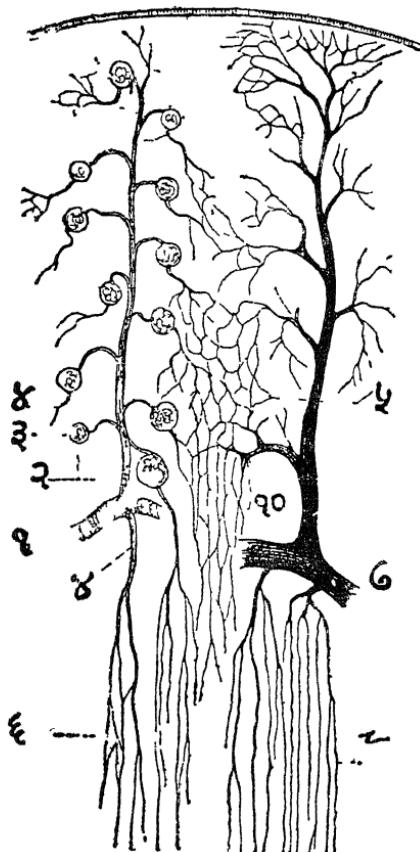
१—धमनी, २—धमनी की शाखा, ३—मूत्रोत्पिका; ४—उससे निकलनेवाली नलिका जो मध्यस्थ भाग को जाती है, ५—प्रांतस्थ भाग की केशिकाएँ; ६—मध्यस्थ भाग की केशिकाएं, ७—शिरा; ८—प्रांतस्थ भाग की शिराएँ; ९—वृक्क के भागों के बीच में जानेवाली शिराएँ।

के पश्चात् फिर एक शिरा में चला जाता है। वह शिरा फिर अनेक भागों में विभक्त होती है, जो मूत्र-वाहिनी सूक्ष्म नलिकाओं के बीच में वितरित है।

चित्र न० ६१—मेल्पिघियाई के अंग (Malpighian body) मूत्रोत्सिका, मूत्र-नलिका और रक्त-नलिका का संबंध दिखाया गया है।

१—धमनी, २—धमनी की नलिका जो ग्लोमेरूलस को जा रही है, २—मूत्रोत्सिका, ३—ऊपर का कोष जहाँ से मूत्र-नलिका आरंभ होती है, ४-४ मूत्र-नलिका, ५—केशिकाएँ, ६—केशिका-जाल, ७—वृक्क की शिरा की एक शाखा।

इस प्रकार यह शिरा एक धमनी की भाँति केशिकाओं में विभक्त हो जाती है, जिनसे सूक्ष्म नलिकाओं में रक्त पहुँचता है। इन केशिकाओं का रक्त फिर छोटी-छोटी शिराओं द्वारा एकत्रित होता है और अंत में उस बड़ी शिरा में, जो वृक्क से निकलकर महाशिरा में मिलती है, चला जाता है।

गवीनी—प्रत्येक वृक्क से मूत्र गवीनी नामक नलिकाओं द्वारा मूत्राशय तक जाता है। अतएव शरीर में दो गवीनी होती हैं; एक

दाहिनी ओर, दूसरी बाईं ओर। प्रत्येक गवीनी लगभग १६ इंच लंबी होती है। ऊपर की ओर यह वृक्क के मुख से आरंभ होकर नीचे की ओर मूत्राशय तक जाती है। वहाँ पहुँचकर, मूत्राशय की दीवार को छेदकर उसके भीतर एक छिद्र द्वारा प्रवेश करती है। शरीर के अंगों की अन्य समान नलियों की भाँति ये भी सौत्रिक तंतु से निर्मित है। उनके भीतर की ओर कुछ श्लैष्मिक कला रहती है। सौत्रिक तंतु और श्लैष्मिक कला के बीच में कुछ अनैच्छिक मांसपेशी का भाग रहता है।

इसी नली द्वारा मूत्र मूत्राशय में पहुँचता है। वृक्क के मूत्र में कभी-कभी पथरी इस प्रणाली में आकर रुक जाती है, जिससे रोगी को अत्यंत पीडा होती है।

मूत्राशय—मूत्राशय, जैसा इसके नाम से विदित है, मूत्र के आश्रय का स्थान है। यह एक थैला है, जिसमें मूत्र भरा रहता है। खाली होने पर यह कुछ त्रिकोणाकार-सा दीखता है। मूत्र के भरने पर बिलकुल गोल हो जाता है। इसका नीचे का भाग मूत्र-मार्ग से, जिसके द्वारा वह शरीर से बाहर निकलता है, जुडा रहता है। इस कारण वह धीरे-धीरे आकार में कम होता जाता है। यहाँ तक कि उस नली के साथ मिल जाता है। मूत्राशय में रक्त और लसीका की नलिकाएँ काफी होती है।

मूत्राशय में ही अधिकतर पथरी बना करती है। इसका कारण, जैसा आगे चलकर विदित होगा। मूत्र से सम्मिलित कुछ लवणो का एकत्रित हो जाना होता है।

वृक्क का मस्तिष्क से नाडियो द्वारा सबध रहता है।

वृक्क का कर्म—वृक्क का कर्म मूत्र बनाना है। धमनियों के द्वारा वृक्क में रक्त पहुँचता है और वृक्क से अशुद्ध रक्त और मूत्र

निकलता है। इस प्रकार वृक्क के पास एक प्रकार का तरल पदार्थ पहुँचता है। उससे वृक्क दो प्रकार के पदार्थ बना देता है।। ये दोनों पदार्थ उस पदार्थ से, जिससे वे बनते हैं, अवयवों में भिन्न होते हैं। यह काम वृक्क के सेलों का है। सेल स्वयं इस शक्ति को उत्पन्न करते हैं। मूत्र में रक्त की अपेक्षा, जो धमनी द्वारा वहाँ आता है, बहुत से पदार्थ अधिक होते हैं। यूरिया, यूरिक अम्ल इत्यादि रक्त की अपेक्षा मूत्र मे अधिक होते है। मूत्र में यूरिया की मात्रा २% के लगभग होती है; पर रक्त में वह केवल ०.०३% होती है। इसी प्रकार दूसरी वस्तुएँ भी है। यह शक्ति वृक्क के सेलों में है, किंतु वे रक्त से कुछ विशेष वस्तुओं को भिन्न कर लेते है।

यह शक्ति उनको उस रक्त के द्वारा मिलती है जो उनका पोषण करता है। इस कारण यह आवश्यक है कि वृक्क में रक्त का प्रवाह उत्तम प्रकार से होता रहे। वृक्कों में जब रोग हो जाता है तो उस समय शुद्ध रक्त से लाभ उठाने की वृक्क में शक्ति नहीं रहती। वे मूत्र से दूषित अवयवों को दूर नही कर सकते; उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे समय में ऐसी औषधि देना, जिससे अधिक मूत्र बने, व्यर्थ और हानिकारक है। ऐसी दशा में वृक्को पर से कार्य का भार जितना भी हटाया जा सके उतना हटाने का उद्योग करना चाहिए जिससे उनको विश्राम मिले। आवश्यकता पडने पर चर्म से वृक्क का काम लिया जा सकता है।

मूत्र दो प्रकार के अवयवो से बना हुआ है। एक जल और दूसरे घन पदार्थ। इन दोनो के मिश्रण का नाम मूत्र है। घन पदार्थ में यूरिया, यूरिक अम्ल वे अन्य लवण, जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा, होते हैं। अब प्रश्न यह है कि वृक्क का कौन-कौन-सा भाग किस किस पदार्थ को बनाता है। हम देख चुके है कि वृक्क में

कई प्रकार की रचनाएँ उपस्थित हैं। उत्सिका की रचना भिन्न ही है। जो मूत्र-प्रवाहिनी सूक्ष्म नलिकाएँ हैं, उनकी बनावट दूसरी ही है। यदि इन सबों का कार्य समान ही है तो रचना के भिन्न होने की कौन-सी आवश्यकता है। इस कारण यह प्रतीत होता है कि मूत्र के भिन्न-भिन्न अवयव भिन्न-भिन्न भागों द्वारा बनाए जाते है अथवा कोई भिन्न-भिन्न कर्म उनके द्वारा किए जाते हैं, जिनका परिणाम यह होता है कि मूत्र अपने उस स्वरूप में, जिसको हम देखते हैं, शरीर से बाहर निकलता है।

कुछ प्रयोगकर्ताओं का विचार था कि उत्सिका एक छन्ने की भाँति काम करता है। वह कुछ वस्तुओं को बाहर जाने देता है और दूसरे प्रकार की वस्तुओं को रोक लेता है। छन्ने में होकर भी कोई वस्तु तभी छनती है जब उस पर भार बढ़ता है। उत्सिका में भी इसी प्रकार रक्त का भार अधिक रहता है। उसमे जो नलिका रक्त लाती है वह रक्त को बाहर ले जाने-वाली नलिका से कहीं बड़ी है। इस प्रकार वृक्क मे जितना रक्त आता है उतना बाहर नही जाता। इससे वहाँ रक्त का भार बराबर अधिक बना रहता है। इसी कारण रक्त से कुछ अवयव अलग होकर मूत्र-नलिकाओं में आ जाते है और इनसे मूत्र बन जाता है।

लडविग का सिद्धांत—इस विषय मे दो प्रयोगकर्ताओं के सिद्धांत प्रसिद्ध है। एक का नाम लडविग है और दूसरे का बोमेन (Ludwig & Bowman)। लडविग अपने प्रयोगों द्वारा इस परिणाम पर पहुँचा था कि मूत्र के सारे भाग उत्सिका ही मे बनते हैं, किंतु उस मूत्र का संगठन भिन्न होता है। इसमें लवण और जल की मात्रा साधारण रक्त के प्लाज्मा ही के बराबर होती

है। जब मूत्र वहाँ से बनकर आगे को चलता है और सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा बहता है तो उस समय जल का बहुत-सा भाग इन नलिकाओ की श्लैष्मिक कला द्वारा सोख लिया जाता है। साथ में कुछ लवण भी सोख लिए जाते है। इस कारण मूत्र में उपस्थित लवणों की निष्पत्ति बढ जाती है। साधारण रक्त के प्लाज़्मा में ०.०३% से अधिक यूरिया नही होता, किंतु मूत्र में २% होता है। लडविग के अनुसार उस प्रथम मूत्र के, जो उत्सिका में उत्पन्न होता है, कुछ जल के शोषण से यूरिया की इतनी अधिक निष्पत्ति हो जाती है। अन्य लवणों के बारे में भी उसका यही विचार था।

बोमेन का सिद्धांत—बोमेन का सिद्धात इससे भिन्न है। उसके अनुसार उत्सिका मे केवल मूत्र का जल और कोई साधारण लवण जैसे कि सोडियम-क्लोराइड (Nacl) आदि बनते हैं। दूसरी जितनी वस्तुएं है जैसे यूरिया, यूरिक अम्ल, हिप्यूरिक अम्ल इत्यादि वे सूक्ष्म नलिकाओं में बनते है। इस प्रकार जल और साधारण लवण उत्सिका से आते है और यूरिया इत्यादि लवण उनके साथ मार्ग मे मिल जाते है; इस प्रकार मूत्र बन जाता है। उसका विचार था कि उत्सिका केवल एक छन्ने की भाँति क्रिया करता है। उसके सेलों मे स्वयं कुछ चुनाव की शक्ति (Selective power) नही है, जैसा कि शरीर के बहुत से अंगों के सेलों में है। उसके मत के अनुसार सूक्ष्म नलिकाओ में रक्त से विशेष लवणो को चुनने की शक्ति है।

इस प्रकार इन दोनों सिद्धांनो में बहुत अन्तर है। एक दूसरे के विरुद्ध है। लेकिन एक बात को दोनों मानते हैं। वह यह कि उत्सिका और सूक्ष्म-नलिका दोनो की क्रियाएं एक दूसरे से भिन्न हैं; इन दोनों के काम अलग-अलग हैं।

आधुनिक मत—आजकल इस शास्त्र के वेत्ता बोमेन का ही सिद्धांत मानते हैं। कम से कम वे उसके सिद्धात के अंतिम भाग से पूर्णतया सहमत है कि सूक्ष्म-नलिकाओं के सेलो का यह कर्म है कि वे रक्त से यूरिया जैसे लवणो को सोख लेते है और मूत्र मे मिला देते है। किंतु सिद्धांत के प्रथम भाग से बहुतों का मतभेद है कि उत्सिका केवल एक छन्ने की भाँति काम करता है। कुछ विद्वानो का मत है कि उत्सिका को केवल एक छन्ने की भाँति नही माना जा सकता। उसके सेल जीवित है, तो कोई कारण नही कि वे शरीर के दूसरे सेलों की भॉति कार्य न करें। उनका विचार है कि इन सेलो में भी चुनाव की शक्ति है और वे उसका प्रयोग करते हैं।

दूसरों का कहना है कि उत्सिकाओं की क्रिया वैसे ही होती है जैसी कि लसीका-स्थानों (Lymph hearts) को परिमित करनेवाली झिल्लियों की होती है। उनके द्वारा लिंफ से छनकर कुछ अवयव दूसरी ओर चले जाते है। सभव है कि उत्सिका के सेलों में चुनाव की शक्ति हो, पर अभी तक इसका कोई उचित प्रमाण नही मिला है। सूक्ष्म-नलिकाओं द्वारा लवणो के बनने मे अनेक प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है।

वृक्क की क्रिया का मुख्य प्रयोजन रक्त मे सम्मिलित भिन्न-भिन्न वस्तुओ की मात्रा को परिमित रखना है। जहाँ भी रक्त में कोई वस्तु अपनी स्वाभाविक सीमा से अधिक होती है त्यो ही वृक्क उसे रक्त से अलग कर देते है। यूरिया इत्यादि वस्तुएँ इसके उदाहरण है। शर्करा की थोडी सी मात्रा रक्त मे प्रत्येक समय उपस्थित रहती है। किंतु इक्षुमेह (Diabetes) मे, जहाँ इसकी मात्रा स्वाभाविक सीमा से बढ जाती है, वृक्क उसको मूत्र के द्वारा निकालने

लगते है। वृक्क के सेल इस संबंध में बडे अनुभवो मालूम होते है। ज्यों ही रक्त में किसी प्रकार किसो वस्तु की मात्रा बढ़ जाती है त्यो ही वृक्क के सेलों को क्रिया भी बढ जाती है और वे तुरंत ही उसे रक्त से पृथक् करना आरंभ कर देते हैं। जितने शरीर मे विष पहुँचते हैं, इन सबका वृक्क पर बहुत प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे वृक्क के द्वारा प्रवाह करते है। वृक्क उनको रक्त से अलग करने का उद्योग करता है और इसमें कभी-कभी स्वयं वृक्क के कुछ सेलो का नाश भी हो जाता है।

इस प्रकार रक्त के दोष को दूर करने का कार्य वृक्क का है। इस कार्य मे उसको यकृत् और फुप्फुस से बहुत सहायता मिलती है। जब रक्त मे कार्बन-डाइ-ओक्साइड की मात्रा बढ़ती है तो फुप्फुस तेज़ी से काम करने लगते है; श्वास जोर से चलने लगता है; और सारी कार्बन-डाइ-ओक्साइड की अधिकता दूर हो जाती है। रक्त के विषैले पदार्थों को यकृत् दूर कर लेता है। शरीर मे नाइट्रोजन की जो अधिकता होती है, उसको यकृत् ही दूर करता है। इस प्रकार यकृत् यूरिया इत्यादि को प्रोटीनों के अवशिष्ट भागों से बनाता है और वह रक्त द्वारा वृक्क के पास लाई जाती है, जहाँ से वह शरीर से बाहर निकल जाती है। रक्त मे शर्करा के अधिक होने से वृक्क के सेल उसे रक्त से पृथक् कर लेते हैं और शरीर से बाहर फेंक देते हैं। जब कभी रक्त में जल का भाग अधिक होता है तो वृक्क उसको भी अलग करते है।

मूत्र-प्रवाहक ओषधि—कुछ ओषधियाँ ऐसी होती हैं जो मूत्र का प्रवाह अधिक कर देती हैं। वह मूत्र-प्रवाहक अथवा मूत्रल कहलाती हैं। अँगरेज़ी में इनको Dıcuretıcs कहते हैं। बहुधा कुछ रोगो मे इन वस्तुओ को रोगी को देने की आवश्यकता पडती है। वृक्क की क्रिया

इनसे कई प्रकार से बढ़ जाती है। कुछ वस्तु वृक्क के सेलों को क्रिया करने को उत्तेजित कर देते हैं। उत्तेजना के अधिक होने से मूत्र अधिक बनने लगता है। यदि वृक्क में किसी प्रकार रक्त-भार बढ़ा दिया जाय तो भी मूत्र का प्रवाह अधिक हो जाता है।

रक्त-भार बढ़ाने के संबंध में यह कहना आवश्यक है कि यदि धमनी के द्वारा शुद्ध रक्त का प्रवाह बढ़ाया जाय तो उससे रक्त-भार बढ़ने के कारण मूत्र अधिक बनता है। यदि वृक्क की शिरा, जहाँ वह वृक्क से निकलती है, बाँध दी जाय तो उससे भी रक्त-भार बढ़ जायगा; क्योंकि वृक्क के भीतर तो रक्त जायगा पर बाहर नहीं निकलेगा। शिरा के बाँधने से जो रक्त-भार बढ़ाया जायगा उससे मूत्र का प्रवाह नही बढ़ेगा। कदाचित् उसका कारण यह है कि शिरा को बाँधने से रक्त वृक्क के बाहर तो नही जा सकता, पर उसके भीतर धमनी द्वारा आता अवश्य है। इससे वृक्क के भीतर का रक्त बहुत गाढ़ा हो जाता है; क्योंकि उसमें रक्त-कण इत्यादि की स्वाभाविक संख्या से भी मात्रा बढ़ जाती है। इस कारण रक्त से जल पृथक् नही हो सकता। अधिक मूत्र उत्पन्न करने के लिये रक्त की अधिक मात्रा के प्रवाह की आवश्यकता है। यही कारण है कि जब वृक्क की धमनी द्वारा रक्त अधिक भेजा जाता है तब तो अधिक मूत्र बनता है और शिरा के रोक देने से मूत्र-प्रवाह और भी कम हो जाता है।

बहुत-सी मूत्र-प्रवाहक ओषधियाँ हृदय की क्रिया को बढ़ाकर मूत्र का प्रवाह बढाती है, क्योंकि वृक्क में जब रक्त अधिक पहुँचने लगता है तो मूत्र भी अधिक बनता है। ऐसी ओषधियों के अतिरिक्त जो ओषधियाँ सीधे वृक्क के सेलों पर काम करती हैं, वे सूक्ष्म नलिकाओं की श्लैष्मिक कला को अवश्य हानि पहुँचाती हैं।

मूत्र का गवीनी के द्वारा मूत्राशय में जाना—वृक्क की नलिकाओं में जो मूत्र बनता है वह बूँद-बूँद करके मूत्राशय में पहुँचता है। प्रत्येक वृक्क से एक-एक गवीनी मूत्राशय को जाती है। इस प्रणाली की दीवारो में कुछ अनैच्छिक मांस-पेशी के सूत्र रहते है। इस कारण इनमे कुछ सकोचन होता रहता है। इससे प्रणाली का मूत्र मूत्राशय मे जाता रहता है। इसके अतिरिक्त मूत्र की जो बूँद प्रणाली मे वृक्क से आती है वह अपने से पूर्व की बूँद को ढकेलती हे।

इन नलियों का अंतिम आधा या तीन चौथाई इंच का भाग मूत्राशय की दीवार के भीतर रहता है। यहाँ पर इसका मार्ग टेढा होता है। मूत्राशय के भीतर जिस स्थान पर इसका छिद्र स्थित है वहाँ का भाग एक अंकुर की भाँति कुछ उभरा रहता है। इस प्रणाली के मूत्राशय की दीवारो द्वारा टेढा होकर जाने या छिद्र तक मांस-पेशी मे घिरे होने के कारण मूत्राशय से मूत्र वापस नहीं लौट सकता।

मूत्र का मूत्राशय मे पहुँचने का कोई विशेष क्रम नही है और न मूत्र का दोनो प्रणालियो मे एक ही साथ बहना आवश्यक है। व्रत के दिनो मे, जब कुछ भोजन नही मिलता तब मूत्र की गति दो या तीन बूँद प्रति मिनट होती है। मूत्र प्रवाह जोर से भीतर श्वास लेने के समय, अथवा व्यायाम या परिश्रम के समय बढ़ जाता है। जिस समय मूत्र मूत्राशय के भीतर प्रवेश करता है उस समय गवीनी का छिद्र और इसके चारों ओर का स्थान ऊपर को उठ जाता है, छिद्र खुलता हैं और उसमे होकर मूत्र की बूँदें आशय मे पहुँच जाती हैं। इसके पश्चात् छिद्र फिर बंद हो जाता है और मूत्राशय के संकुचित होने पर भी मूत्र गवीनी के द्वारा पीछे को नही लौट सकता।

मूत्र-त्याग—जब मूत्राशय मूत्र से भर जाता है तो मूत्र-त्याग की इच्छा उत्पन्न होती है। साधारणतया मूत्राशय में २५० सी० सी० के लगभग मूत्र आ सकता है। जब तक मूत्र इसमें कम रहता है उस समय तक मूत्र-त्याग की इच्छा नहीं होती। जब मात्रा इससे अधिक हो जाती है तब मूत्र-त्याग की इच्छा होती है। जितनी मात्रा अधिक होती है उतनी ही इच्छा प्रबल होती है। उस समय मूत्राशय की पेशियों में धीमी-धीमी कंपनाएँ होने लगती है। ज्यों-ज्यों मूत्र का भार बढता है, त्यों-त्यों मूत्राशय फैलता है और कंपनाएँ बढती जाती है। अंत में कंपना या संकोच इतने वेग से होता है कि भीतर का सारा मूत्र बाहर निकल जाता है, क्योंकि कंपन के वेग से वह संकोचक पेशी, जो मूत्राशय और मूत्र-मार्ग के संयोग-स्थान पर रहती है और साधारणतया मार्ग को बंद किए रहती है, खुल जाती है।

मूत्राशय में इस संकोचक पेशी का एक विशेष स्थान होता है। जहाँ पर शिश्न का मूत्र-मार्ग मूत्राशय के भीतर खुलता है उस स्थान को चारों ओर से घेरे हुए एक मास-पेशी का छल्ला रहता है। यह साधारणतया ऐसे वेग से संकुचित रहता है कि भीतर के मूत्र को एक बूँद भी बाहर नहीं आ सकती। इसके अतिरिक्त मूत्र-मार्ग के चारों ओर कुछ ऐसी पेशियाँ रहती है जो अपने सकोच से मूत्र को रोक सकती है। यदि एक शलाका (Catheter) को मूत्राशय में मूत्र निकालने के लिये डाला जाय, तो जब तक शलाका सकोचक पेशी को पार न कर लेगा तब तक भीतर से मूत्र बाहर न निकलेगा।

मूत्राशय का नाडियो के साथ संबध रहता है। पीठ के भाग के कशेरुकाओं पर नाडियों का एक जाल सा होता है। उसी से मूत्राशय को कुछ नाडियाँ आती है। वही पर सुषुम्ना के भीतर

एक केंद्र रहता है, जिससे मूत्राशय को सूत्र आते है । जब मूत्राशय बहुत भर जाता है, तो वहाँ से उत्तेजना सुषुम्ना को जाती है । जहाँ से वह नाडियों के जाल द्वारा मूत्राशय की संकोचक पेशियों को चली जाती है जिससे मूत्र-मार्ग खुल जाता है । साथ में मूत्र-मार्ग की पेशियाँ भी ढीली पड जाती है । बस, मूत्राशय की पेशियाँ संकोच करती है और मूत्र-त्याग की क्रिया पूर्ण की जाती है ।

उदर की पेशियों से मूत्र-त्याग में बहुत सहायता मिलती है ।

मूत्र—साधारणतया मनुष्य चौबीस घंटे में अपने शरीर से लग-भाग २४ छटाँक मूत्र त्याग करता है । देश और काल के अनु-सार इसमें भिन्नता होती है । जाडे के दिनों मे गरमी की अपेक्षा अधिक मूत्र आता है । जो शीत प्रदेश है, उनमें उष्ण प्रदेशों की अपेक्षा अधिक मूत्र-त्याग होता है । रात्रि की अपेक्षा दिन में अधिक बार मूत्र का त्याग करना पडता है । अधिकतर स्वस्थ मनुष्य रात्रि को एक भी बार मूत्र-त्याग के लिये नहीं उठते । जिनको रात्रि मे तीन या चार बार उठना पडता है उनको किसी प्रकार का रोग समझना चाहिए ।

चित्र नं० ६२—यूरिया के क्रिस्टल
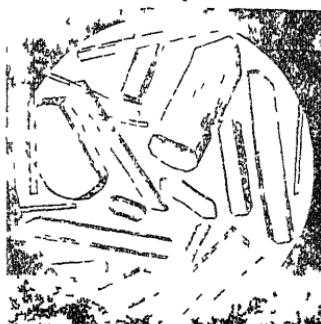
मूत्र का रंग समय के अनुसार बहुत बदलता है। रात्रि भर सोने के पश्चात् प्रातःकाल जो मूत्र त्याग किया जाता है उसका रंग गहरा होता है। गरमी के दिनों में जब शरीर के चर्म से स्वेद निकलता है तब भी मूत्र का रंग गहरा होता है। इन सब दशाओं में, जब मूत्र में लवणों की संख्या अधिक होती है और जल कम होता है, मूत्र का रंग गहरा पीला हो जाता है। यही कारण है कि ज्वर के दिनों में मूत्र गहरे रंग का और जलता हुआ होता है।

चित्र नं० ६३—यूरिक अम्ल के कई प्रकार के क्रिस्टल।

साधारणतया मूत्र का रंग हलके पीले रंग का होना चाहिए। मूत्र की रंजक वस्तुएँ यकृत् के द्वारा बनती हैं और पित्त में सम्मिलित रहती है। तुरंत के मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होती है; क्योंकि इसमें कुछ अम्ल वस्तुएँ सम्मिलित रहती हैं। कुछ समय तक रखने पर वह क्षारीय हो जाता है। कुछ अन्य दशाओं में भी उसमें क्षार उत्पन्न हो जाता है। खूब पेट भरकर भोजन करने के पश्चात् भी मूत्र क्षारीय होता है।

जैसा कई बार ऊपर कहा जा चुका है, मूत्र दो प्रकार के अवयवों से मिलकर बनता है। इसमें एक तो जल होता है और दूसरे कुछ ठोस पदार्थ रहते है। मूत्र के १५०० भागों में १४४० भाग जल और शेष ६० भाग ठोस पदार्थों के होते है, जिनमें यूरिया, यूरिक अम्ल, हिप्यूरिक अम्ल, सोडियम क्लोराइड, गंधक अम्ल, अमोनिया, क्रियेटिनीन, क्लोरीन, पोटाशियम, सोडियम और केलशियम मुख्य है। मूत्र मे सबसे अधिक भाग जल का होता है और ठोस पदार्थों में यूरिया और सोडियम क्लोराइड सबसे अधिक होते हैं।
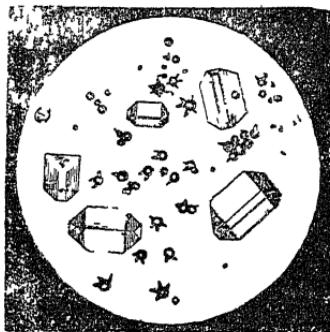
चित्र नं० ६४—मूत्र की तलछट, जिसमें ट्रिपल फास्फेट (Tripple Phosphat) और अमोनिया यूरेट (Ammonium Urate के क्रिस्टल दिखाई देते है।

इन वस्तुओं में यूरिया और क्रियेटीन व क्रियेटिनीन का प्रथम यकृत् के साथ वर्णन किया जा चुका है। अमोनिया मूत्र में नाइट्रोजेन ही से बनता है। इस अमोनिया को शरीर अंत में यूरिया के रूप में परिवर्तित कर देता है, किंतु जो रक्त अमोनिया के साथ वृक्क में पहुँचता है वह उस अमोनिया को पृथक् करके मूत्र में मिला देता है।

कुछ रोगों में मूत्र की दशा विकृत हो जाती है । इसमें ऐसी वस्तुएँ आने लगती है, जो साधारण अवस्था मे नही आर्तां। मूत्र में निम्न-लिखित वस्तुओं की परोक्षा करनी होती है—

चित्र नं० ६९—केलशियम आक्जेलेट के क्रिस्टल (Crystals of Calcium Oxalate)
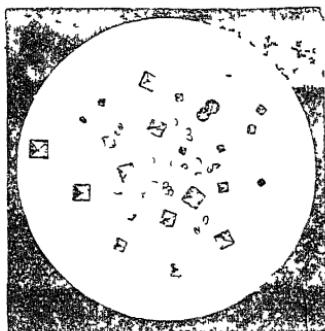
१. प्रोटीन—साधारणतया स्वच्छ मूत्र में किसी प्रकार की प्रोटीन नही होती। कुछ रोगो मे, विशेपकर वृक्क के रोगों में, मूत्र में अलबूमन Albumin आने लगता है।

२. शर्करा—केवल मधुमेह में शर्करा मूत्र में आती है, नही तो उसका लेश भी नहो होता।

३. पित्त—कामला में मूत्र मे पित्त आता है । मूत्र का रंग भी बदल जाता है । पीले से वह गहरा भूरा या काले रंग का हो जाता है ।

४. रक्त—यह केवल सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा निश्चित प्रकार से मालूम हो सकता है। रक्त के लाल कण दिखाई देते हैं।

५. पस—पूय ; जब मूत्र-मार्ग के किसी भाग में कोई फोड़ा इत्यादि होता है तब मूत्र में पूय आती है।

ऊपर की वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ और वस्तुओं के कण मालूम होंगे जैसे—यूरेट, फोस्फेट, कार्बोनेट, आक्जेलेट इत्यादि। ये सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा ही दिखाई देते हैं।

त्वचा

राज जब मकान की ईंटों को चूने से जोड चुकता है तब उसको ऊपर से चूने के प्लास्तर से ढक देता है जिससे मकान देखने में सुंदर दीखे और उसकी ऊपरी सतह एक समान हो। केवल यही नहीं, किंतु उसका प्रयोजन प्लास्तर करने से मकान की दृढता का बढ़ाना भी होता है। यदि मकान पर प्लास्तर न किया जाय, तो वर्षा का जल सहज मे ईंटों के द्वारा दीवारों में घुसकर उन्हें नष्ट कर देगा। धूप से भी अधिक बचाव न होगा, क्योंकि विना प्लास्तर हुई दीवारें ताप को नहीं रोक सकती। भीतर की सब वस्तुएँ गरम हो जाती है और रहनेवालो को बडी असुविधाएँ होती है।

उसी प्रकार यद्यपि हमारा शरीर मुख्यतया अस्थि, मांस-पेशी अथवा दूसरे अगों का बना हुआ है, किंतु यदि वे सब इस त्वचा-रूपी प्लास्तर से न ढके जायँ, तो शरीर सुंदर न दीखेगा। चर्म-रहित शरीर एक भयानक वस्तु दिखाई देगी, चर्म शरीर को बाहर के अनेक शत्रुओं से बचाता है, जीवाणु और कृमि इत्यादि को शरीर के भीतर प्रवेश नहीं करने देता। वह शरीर को ताप के अतिक्रम से रक्षा करता

है। न केवल यही, किंतु उसके द्वारा श्वास-क्रिया भी होती है। चर्म रक्त को शुद्ध करता है। संज्ञा-वाहन चर्म का मुख्य काम है।

चित्र नं० ६६—हाथ की उँगली के उपचर्म का परिच्छेद जिसमें कुछ चर्म का भाग भी दिखाई पड़ता है।

रचना—ऐसे-ऐसे मुख्य और विशेष कार्य करने के लिये चर्म की उपयुक्त रचना की गई है। सबसे ऊपर होने से चर्म इस प्रकार

चित्र नं० ६७—चर्म की आंतरिक रचना।
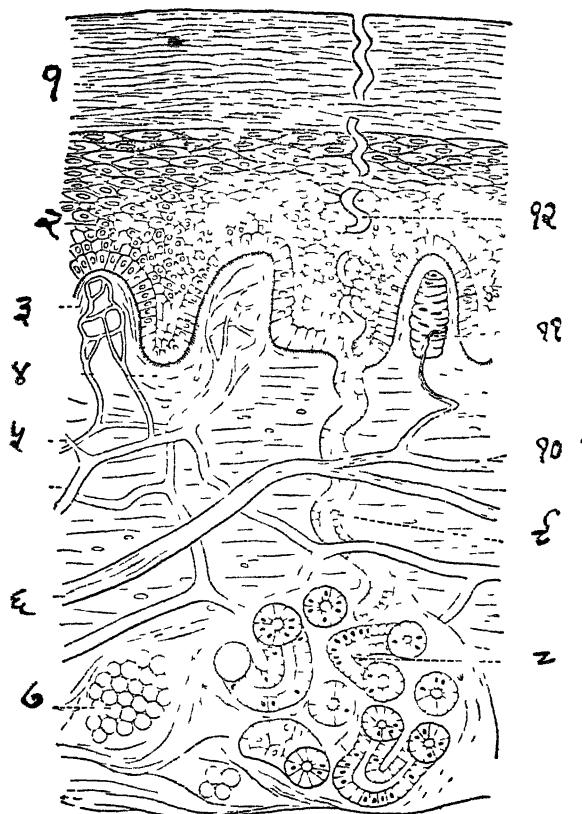
१—उपचर्म का ऊपरी भाग; २—उपचर्म का नीचे का भाग;
३—चर्म का अंकुर; ४—चर्म का सौत्रिक तंतु;
५—रक्त-नलिका; ६—नाडी; ७—वसा के कण;
८—स्वेद-ग्रंथि की नलिकाएँ जो फट गई है;
९—स्वेद ले जानेवाली नलिका; १०—नाड़ी;
११—स्पर्श-कण; १२—स्वेद-नलिका उपचर्म में स्थित हैं।

स्थित है कि उसको बाहर का बहुत कुछ आघात सहन करना पडता है। इस कारण उसमें टूट-फूट भी बहुत होती है। हम जो वस्त्र धारण करते है वह चर्म पर सदा रगडा करते है। जिन वस्तुओं को हाथ मे लेकर हम काम करते है उनसे भी चर्म को कुछ हानि ही पहुँचती है। इस कारण चर्म को इस प्रकार रचा गया है कि वह बाहर के आघातो से नीचे के अंगो की उत्तम प्रकार से रक्षा कर सके।

हम प्रथम परिच्छेद मे देख आए है कि सारा शरीर प्रोटोप्लाज़्म के छोटे छोटे टुकडों का, जिनको सेल कहते हैं, बना हुआ है। यह त्वचा भी इन्ही सेलों की बनी हुई है। त्वचा का सबसे ऊपरी भाग इन सेलों को बहुत ही पास-पास सटाकर बनाया गया है। इन सेलो का आकार भी चपटा कर दिया गया है। वे सेल एक दूसरे पर इस भाँति लगे हुए हैं जैसे कि मकान की ईंटें एक दूसरे पर बैठी होती हैं और इनका आकार भी मकान की ईंटों ही की भाँति होता है।

यद्यपि चर्म इतना मुलायम और चिकना मालूम होता है कि उसकी अपेक्षा उत्तम से उत्तम मखमल और रेशम भी कुछ नहीं है, तो भी वह कठिन और सहनशील है। हम मोजे, दस्ताने, कमीज़ और जो अन्य वस्त्र धारण करते है वे सब फटते चले जाते हैं, पर चर्म ज्यों का त्यों ही बना रहता है, यद्यपि उसको बाहर के इतने आघातों और प्रभावों को सहन करना पड़ता है। जिस स्थान पर उसे अधिक काम करना पड़ता है, उस स्थान पर वह और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार पाँव के तलवे और हाथ की हथेली की त्वचा कितनी मोटी और कठिन हो जाती है। किसी-किसी स्थान पर वह आधा इंच मोटी होती है।

सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा देखने से मालूम होगा कि चर्म वस्तुतः कई भागों में विभाजित है। सबसे ऊपर का परत, जिसको उपचर्म कहते हैं, एक कठिन वस्तु के कई परतों के समूह से बना है। इस भाग के नीचे चर्म रहता है। जिसकी रचना ऊपर के परत की भाँति कठिन और निर्जीव नहीं है। इस स्थान के सेल आकार में कुछ चौखूंटे होते है। कुछ लेखको ने उपचर्म के सेलों को मुनक्का और नीचे के सेलों को हरे अंगूरो के एक बक्स से उपमा दी है, जिसमें यह वस्तु सटाकर भर दी गई है। इन सेलो में, यह कहा जा सकता है कि किसी प्रकार का जीव नही होता। उनमें न तो रक्त-वाहिनी नलिकाएँ होती हैं और न किसी भाँति की कोई नाडियाँ ही। इस कारण उनमे किसी प्रकार की संज्ञा भी नही होती। उपचर्म के नीचे चर्म का जो भाग रहता है उसमें नाडियाँ और रक्त-नलिकाएँ रहती है। वास्तव में यह वह भाग है जो हमारे मस्तिष्क को संज्ञा पहुँचाता है। उसकी नाडियों द्वारा हमारे त्वचा पर उत्पन्न हुई सूचनाएँ मस्तिष्क को जाती हैं। जब कभी जलने से या गरम जल के पड जाने से शरीर पर छाला पड़ जाता है, तो हम उसको सहज ही काट सकते है और हमको किसी प्रकार का कष्ट भी नही होता। इसका कारण यही है कि उसमे कोई नाडी उपस्थित नही है। यह एक प्रकार से शरीर की भलाई ही के लिये है। यदि नाड़ियाँ ऊपर के चर्म मे भी उसी प्रकार रहती, जैसे कि चर्म के अधोभाग में है, तो प्रत्येक समय हमको पीडा, कष्ट, दर्द, उष्णता इत्यादि प्रतीत हुआ करती और उससे हमारा जीवन दुखमय हो जाता।

उपचर्म के ये सेल कभी समाप्त क्यों नही होते? जब इनमें जीव नहीं है, तो स्पष्टतया इनमें उत्पत्ति भी नही होनी

चाहिए। जब इन पर इतना अधिक बाह्य प्रभाव पडता है, तब इनमे टूट-फूट भी अधिक होनी आवश्यक है। तो फिर ये सदा कैसे उपस्थित रहते है? अथवा शरार के रक्षा की पहली लाइन कैसे पूर्ण रहती है?

उपचर्म की पूर्ति—यह रेखा इसी भाँति पूरी रहती है जैसे कि लडाई में सैनिको को प्रथम रेखा पूर्ण रहती है। प्रथम लाइन मे जहाँ कोई सिपाही मरा कि तुरन्त पीछे की लाइन से किसी सैनिक ने उसका स्थान ले लिया। इसी प्रकार उपचर्म के सबसे ऊपरी परत के सेल ज्यों ज्यो घिसकर या मरकर शरीर से भिन्न होते जाते हैं, त्यो-त्यो नीचे के परत के सेल उसके स्थान में पहुँच जाते हैं। साथ ही नीचे के नरम चौखूँटे सेल कडे पडते जाते है और ऊपर को सरकते जाते है। ज्यों-ज्यों चर्म के भाग मे सेलों की उत्पत्ति होती है, त्यो त्यो नए सेलों के ऊपरी परतवाले सेल ऊपर की ओर खिसक जाते हैं। हमारे जीवन भर यही होता रहता है। यदि हम अनुमान करें कि शरीर से कितने सेल हमारे जीवन में निकल गए होंगे, तो उनकी सख्या बहुत अधिक होगी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इन सेलो में किसी प्रकार से रक्त नहीं पहुँचता; क्योंकि वहाँ कोई रक्त-नलिकाएँ नही है। इन सेलो को भी पोषण की तो आवश्यकता होती ही है। फिर वह उनको किस प्रकार मिलता है? यह उपचर्म के सेल नीचे के भाग के सेलों से पोषण ग्रहण करते है। इनमे यह शक्ति है कि वे जिन सेलों के संपर्क में रहते है, उनसे अपना पोषण शोष लेते है। यदि उपचर्म को एक स्थान से काटकर किसी दूसरे स्थान पर, घाव इत्यादि पर, लगा दिया जाय, तो कुछ समय मे यह नवीन उपचर्म का टुकडा उस स्थान पर जम जायगा और नीचे के सेलों से पोषण ग्रहण करने लगेगा।

बाल—हमारे शरीर की त्वचा का अधिक भाग बालों से ढका रहता है। ये बाल एक नली की भाँति होते है जिनका कुछ भाग चर्म के भीतर रहता है। ये भी उसी प्रकार के सेलों से बनते

चित्र नं० ६८—बाल अपने कोष में स्थिति दिखाया गया है।
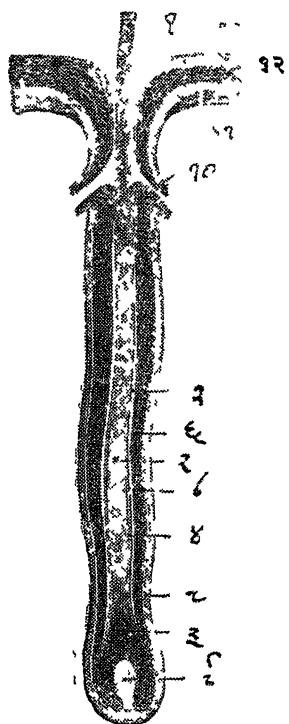
१. चर्म के ऊपर निकला हुआ बाल का भाग; २. कोष के भीतर स्थित बाल; ३. बाल का नवीन भाग जो, ६. अंकुर के ऊपर आ रहा है; ४. बाल का बाहरी भाग; ५. बाल-कोष का खोखला स्थान; ६. कोष का उपचर्म; ७. कोष के चर्म और उपचर्म के बीच का स्थान; ८. कोष का चर्म के समान भाग; १०. एक प्रकार की ग्रंथियों के मुँह जिससे तैल के समान वस्तु निकलती है; ११. चर्म; १२. उपचर्म; १३. उपचर्म का कड़ा ऊपरी भाग।

है, जैसे कि उपचर्म मे पाए जाते हैं। उनके नीचे का भाग कुछ चौडा होता है और वे चर्म में एक गड्ढे के भीतर रहते है। बाल का रग एक विशेष रजक वस्तु के कणों के कारण होता है। वृद्धावस्था में इस वस्तु का नाश हो जाता है। इस कारण बालो का रग श्वेत हो जाता है। नख की बनावट भी इसी प्रकार की है। उसके सेल उपचर्म के सेलो से भी अधिक कठिन होते है।

वर्ण—चर्म का वर्ण, जिसकी इतनी महिमा है, एक विशेष वस्तु से उत्पन्न होता है, जिसको रंजक वस्तु (Pigments) कहते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न भागो के रंग का कारण, नेत्र, चर्म, बाल इत्यादि के रंग का कारण, यही रजक वस्तु है। शरीर की त्वचा में यह वस्तु उपचर्म के निचले भागों मे रहती है। जब कभी इस वस्तु की अधिकता होती है तब उससे रग अधिक गहरा या काला हो जाता है। रंजक वस्तु के कम होने से रंग हलका हो जाता है। कुछ ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं जिनके पलक, बाल, आँखे इत्यादि सभी श्वेत होती है। उनमें रंजक वस्तुओं की एकदम अनुपस्थिति होती है। अगरेजी मे ऐसी अवस्था को Albinism कहते है।

संज्ञा—त्वचा का एक विशेष काम संज्ञा का है। ज्यों ही हमारे शरीर पर कोई जंतु बैठता है, पिन चुभती है, अग्नि की चिनगारी गिर पडती है, उष्ण जल किसी अग पर गिर जाता है अथवा कोई चुटकी काट लेता है, तो यह सब मस्तिष्क को तुरंत ही मालूम हो जाता है। यह चर्म का या त्वचा का कार्य है कि उन संज्ञाओ का मस्तिष्क को संवहन करे। यह शक्ति चर्म-भाग के नीचे के परतो में रहती है। वहाँ अनेक नाडियाँ होती है। इस स्थान में विशेषता यह होती है कि इन नाडियो के अंतिम

भाग कुछ चौडे और गोल हो जाते हैं । इन भागों को 'स्पर्शकण'

चित्र नं० ६१—स्पर्शकण ।
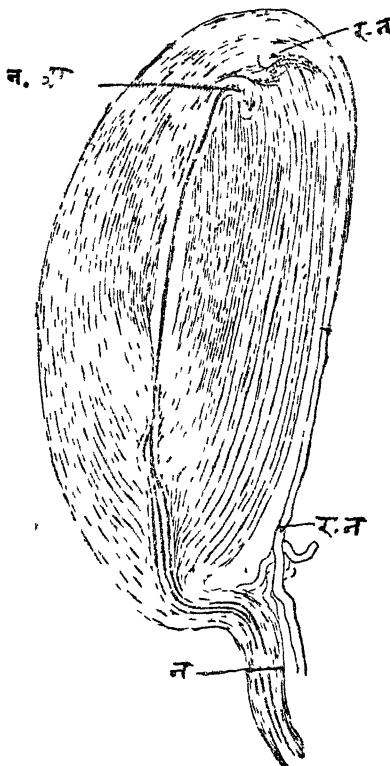
न.—नाडी जो कण के भीतर जा रही है ।

न. अ.—नाडी-सूत्र मुड़े हुए अंतिम भाग में समाप्त हो रहा है ।

र. न.—रक्त-नलिका ।

कहते है। इनका विशेष नाम Pacinian Corpuscle है। इस भाग को स्पर्श की सज्ञा का वाहक माना जाता है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि शीत, उष्ण, दुख, भार इत्यादि बातो का ज्ञान चर्म को होता है। ऐसा समझना भूल है। वास्तव में ज्ञान नाड़ियो का कर्म है। जब नाडियॉ मस्तिष्क को किसी बात की सूचना देती है तब हमे वह अनुभव करता है। इन सब भिन्न-भिन्न ज्ञानों को करनेवाली भिन्न-भिन्न नाड़िय होती है। कुछ नाडियाँ केवल शीत व उष्णता ही का ज्ञान कराती है। दूसरी नाडियाँ भार ही से सबध रखती है, तीसरी नाडियो का काम केवल कष्ट का प्रतीत करना है। त्वचा की इस सबध मे भली भॉति परीक्षा की जाय, तो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव के लिये भिन्न-भिन्न स्थान पाए जायँगे। कुछ स्थानों में एक प्रकार की सज्ञा मिलेगी तो दूसरे स्थान में दूसरे प्रकार की सज्ञा पाई जायगी। इन भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को ले जानेवाली भिन्न-भिन्न नाड़ियो का वितरण भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है। बहुधा एक नाडी कई प्रकार की संज्ञाएँ ले जाती है, क्योंकि एक ही नाडी में कई प्रकार के सूत्र रहते हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजना को ग्रहण करते है। उष्णता को जितनी उत्तमता से गाल अनुभव करता है, उ[illegible] अन्य भाग नही कर सकता। उष्णता के तनिक से अतर को वहाँ का चर्म मालूम कर लेता है। इसी प्रकार भार का अनुभव हाथ का ऊपरी भाग, अग्रबाहु और माथे का चर्म अन्य स्थानों की अपेक्षा कम से कम दुगुनी उत्तमता से मालूम कर सकते है। इन स्थानों से वे नाडियॉ, जिनमें यह विशेष शक्ति है, मस्तिष्क को उत्तेजना पहुँचाती है।

इसी प्रकार दुख का अनुभव करना भी चर्म का काम है। इस कर्म को करनेवाली विशेष नाड़ियॉ है और नाडियो के सूत्र है, जो

मस्तिष्क को यह बताते हैं कि अमुक स्थान पर दुख है । शरीर के सारे स्थानों मे इस अनुभव को प्रतीत करने की समान शक्ति नही होती और सभव है कि प्रत्येक व्यक्ति में भी समान न हो । हम बराबर देखते है कि कुछ मनुष्य इतनी आसानी से दुख का अनुभव नही करते जितना कि दूसरे करते हैं । ग्रामीण जन धूप के समय बहुधा नंगे पाँव काम किया करते हैं । उनको उससे कुछ दुख नहीं मालूम होता, क्योकि उनके पाँवों की वे नाडियाँ जो उष्णता को अनुभव कर सकती थी व चर्म की वे नाड़ियाँ जो धूप को अनुभव करती थी मृतप्राय हो जाती है । बहुतेरों के शरीर में यदि काँटा इत्यादि चुभ जाय, तो भी उनको नहीं मालूम होता । इसका कारण नाडियों का संज्ञाहीन हो जाना है । इन अनुभवों को बहुत ही सहज में प्रतीत करना यह बताता है कि मनुष्य की नाडियो की दशा बहुत उत्तम है । साधारणतया देखा जाता है कि जो मनुष्य इन तनिक तनिक से शारीरिक परिवर्तनों का अनुभव कर लेता है उसकी मानसिक शक्ति भी प्रबल होती है । उसकी विचार-शक्ति अधिक विकसित होती है । जिनका चर्म मोटा होता है, उनकी बुद्धि भी मोटी होती है । जो लोग मस्तिष्क से बहुत उत्तम काम ले सकते है, जिनकी विचार-शक्ति प्रबल होती है उनकी त्वचा में दुख को प्रतीत करने की शक्ति भी बहुत होती है । जिन मनुष्यों को दुख बहुत प्रतीत होता है उनके शरीर में यदि कोई व्रण इत्यादि हो जाता है तो वह बहुत सुगमता से और शीघ्र ही आराम भी हो जाता है; क्योंकि ऐसे मनुष्यो की वे नाडियाँ जिन पर मांस-पेशियो की वृद्धि निर्भर करती है, जिनको पोषक नाड़ी कहते है, उनकी दशा भी उत्तम होती है ।

यह दुख, शीत, उष्णता इत्यादि का अनुभव होना शरीर के लिये बहुत लाभदायक है। यदि हम इन बातों का अनुभव न कर सकते तो संभव था कि हमारे विना जाने हुए ही हमारे शरीर को अधिक हानि हो जाया करती। कोई मनुष्य हमारा हाथ या पाँव काट डालता और हमको मालूम भी न होता। अथवा उष्ण जल से हमारा शरीर जल जाता और हमको उसका ज्ञान भी न होता।

विष त्याग-कर्म—त्वचा का कुछ और भी कर्म है। हम देख आए है कि यकृत् और वृक्क शरीर के कितने मुख्य कार्य करते हैं। वृक्क शरीर की विषैली वस्तुओं को शरीर से बाहर निकाल देता है। वृक्क के अपना काम बंद कर देने पर शरीर में कैसे भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे रोगों में चिकित्सक वृक्क को विश्राम देने के लिये त्वचा से सहायता लेते है। उसके द्वारा यह विष-त्याग का काम करवाते हैं। साधारणतया भी त्वचा वृक्क के कार्य में बराबर सहायता देती है। उसके द्वारा जो स्वेद निकलता है उससे शरीर के बहुत से विषैले पदार्थ निकल जाते हैं।

यदि त्वचा का कुछ भाग काटकर सूक्ष्म दर्शक यंत्र के द्वारा देखें तो हमें चर्म भाग के नीचे बहुत सी पतली-पतली गेंड़-लियों के आकार की रचनाएँ दिखाई देंगी। ये स्वेद ग्रंथियाँ हैं। प्रत्येक ग्रंथि से एक नली निकलती है जो त्वचा के ऊपर एक छिद्र द्वारा खुलती है। ऐसे छिद्रों की संख्या त्वचा पर बहुत अधिक है। यह अनुमान किया जाता है कि त्वचा पर इन छिद्रों की संख्या दो से तीन हजार प्रति वर्ग इंच है। हथेली की त्वचा पर एक वर्गइंच में ३५०० छिद्र गिने गए हैं। सारे शरीर पर पचीस लाख ग्रंथियाँ

कही जाती हैं, जिनको यदि लबाई की ओर से मिला दिया जाय तो पच्चीस मील लंबी एक नली बन जाय ।

यह इतना लंबा-चौड़ा प्रबंध रक्त से स्वेद निकालने के लिये किया गया है । साधारणतया स्वेद में जल और थोड़ा सा साधारण नमक, सोडियम क्लोराइड होता है, इनके अतिरिक्त उसमें कोई विषैली वस्तु नहीं रहती । कुछ दशाओं में स्वेद में विषैली वस्तु आने लगती है । विशेषकर जब वृक्क के रोगग्रस्त होने पर चर्म से काम लेते हैं तब स्वेद द्वारा शरीर में बना हुआ विष निकलता है । साधारणतया स्वेद में किसी प्रकार का विष नहीं रहता ।

यह अनुमान किया जाता है कि साधारणतया एक मनुष्य के शरीर से चौबीस घंटे मे दो सेर के लगभग स्वेद निकलता है। जिन लोगों को फ़क्टरी इत्यादि मे अथवा इंजिनों के पास गर्मी में काम करना पड़ता है उनके शरीर से बहुत अधिक स्वेद निकलता है । एक घटे में तीन सेर स्वेद तक नापा गया है । संभव है कि उष्ण प्रदेशों में इससे भी अधिक स्वेद निकलता हो। यह तीस मील की लंबी नलिका का गूढ़ प्रबंध इस जल और नलिका से लवण को रक्त से भिन्न करने के लिये किया गया है।

जल शरीर की एक बड़ी ही विशेष वस्तु है । शरीर के प्रत्येक अग के बनने मे जल भाग लेता है । नाड़ियो मे ८०% जल होता है, फुस्फुस में ८७%, नेत्र मे ९२% और रसो इत्यादि में तो इनसे भी अधिक होता हे । इसी के द्वारा पोषक वस्तुएं एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, क्योकि रक्त मे वह जल ही होता है जो उसकी तरलता को बनाए रखता है । इसी प्रकार जल के द्वारा अन्य विषैली वस्तुएँ भी शरीर से बाहर निकलती हैं।

मूत्र में सबसे अधिक भाग जल ही का होता है। यही जल स्वेद-ग्रंथियों द्वारा निकलकर शरीर की उष्णता को कम करता है। जितनी अधिक गरमी होती है उतना ही शरीर से अधिक स्वेद भी निकलता है।

चर्म में स्वेद-ग्रंथियों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की भी ग्रंथियाँ होती है जिनसे एक प्रकार की चिकनी वस्तु निकलती है। इस वस्तु का कार्य शरीर के चर्म को चिकना रखना है। ये ग्रंथियाँ बालों की जड़ों में होती है और अपने बनाए हुए तरल को बालों की जड़ ही में छोड़ देती हैं। वहाँ से वह चर्म पर आ जाता है। इस प्रकार यह वस्तु चर्म और बाल दोनों को कोमल बनाए रखती है।

चर्म से सदा ऊपर का परत गिरता रहता है। यह कहावत है कि प्रत्येक सात वर्ष में मनुष्य बदल जाता है, बहुत कुछ सत्य है। उप-चर्म के सेलों का बराबर नाश हुआ करता है, क्योंकि ये मृत होकर झड़ जाते है और उनके स्थान पर नीचे के नवीन सेल आ जाते है। ये सेल गिरते समय अपने साथ और भी शरीर की त्याज्य विषैली वस्तुओ को ले जाते है। कुछ रोगों में शरीर पर दाने बन जाते है, यह प्रकृति का उद्योग होता है कि शरीर से रोग का विष बाहर निकल जाय।

शारीरिक उष्णता को स्थिर रखना—शरीर का चर्म शारीरिक उष्णता को ठीक रखने में सबसे बड़ा भाग लेता है और उसका यह मुख्य कार्य है।

हमारे वायु-मंडल के तापक्रम में सदा परिवर्तन हुआ करता है। कभी वायु-मडल का ताप घट जाता है, कभी बढ़ जाता है। किंतु हमारे शरीर का ताप, जिसको प्रत्येक समय उसी

परिवर्तन-शील वायु-मंडल में रहना पड़ता है, सदा समान रहता है। शरीर का ताप-क्रम सदा ९८·४ फेरनहीट ही रहता है। शरीर से उष्णता सदा बाहर को निकला करती है। इस कारण शरीर सदा उष्णता उत्पन्न किया करता है। जैसा हम देख चुके हैं, भोजन से यह उष्णता उत्पन्न होती है।

यदि शरीर से उष्णता का नाश तो अधिक हो और उत्पत्ति कम हो तो शरीर अपनी उष्णता स्थिर नहीं रख सकता और इससे शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी। अतएव शरीर का चर्म आवश्यकतानुसार उष्णता के बाहर निकल जाने या उसको रोकने का काम करता है।

कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनके द्वारा उष्णता बहुत सहज में निकल जाती है। ऐसी वस्तुओं को ताप का उत्तम वाहक कहा जाता है। किंतु जिन वस्तुओं के द्वारा अधिक ताप नहीं निकल सकता उनको बुरा वाहक व अवरोधक कहते हैं।

यदि शरीर को किसी उत्तम वाहक वस्तु से ढक दिया जाय, तो शरीर से बहुत जल्दी उष्णता निकल जायगी। यदि किसी अवरोधक वस्तु से ढका जाय तो उष्णता बाहर नहीं निकलेगी। इस प्रकार किसी बहुत उत्तम वाहक के द्वारा ढकने से शरीर की उष्णता इतनी जल्दी कम की जा सकती है कि मनुष्य की थोड़े ही समय में मृत्यु हो जाय। यदि एक खरगोश के चर्म पर वार्निश कर दी जाय, तो वह कुछ समय के पश्चात् मर जायगा। बहुतों का कहना है कि ऐसा करने से चर्म का विष बाहर नहीं निकल सकता और चर्म का कर्म बन्द हो जाता है। इस कारण मृत्यु होती है। यदि वार्निश किए हुए खरगोश के शरीर को कुछ साधनों द्वारा गरम रक्खा जाता है तो वह नहीं मरता। जिस समय

पोप लियो दसवें (Pope Leo X) को रोम में पादरियों का सिंहासन मिला तो उस समय नगर में उसका जलूस निकाला गया। जलूस में सोने के पत्र से ढककर एक बच्चे को भी प्रदर्शित किया गया था। अभिप्राय यह था कि वह बच्चा स्वर्ण युग (Golden age) का सूचक था, जिससे लोग समझें कि अब वह स्वर्ण-युग फिर आ गया है। छः घंटे के पश्चात् वह बच्चा मर गया। स्वर्ण उष्णता का अत्यंत उत्तम वाहक है। उसके पत्र द्वारा बच्चे के शरीर की उष्णता का बहुत शीघ्र नाश हुआ। इससे वह जीवित न रह सका।

जिस प्रकार उष्णता का शरीर से बाहर निकलना अधिक किया जा सकता है, उसी प्रकार बुरे वाहकों से शरीर को ढकने से शरीर की उष्णता का बाहर निकलना कम हो जाता है। ऊन, पर इत्यादि के वस्त्र जाड़ों के दिनों में इसीलिये पहने जाते हैं। प्रकृति ने पक्षियों को जिन वस्त्रों से ढका है उनमें इतनी उष्णता है कि वे जाड़े के दिनों में उनके शरीर की उष्णता को कम नहीं होने देते। प्रकृति ने उनके शरीर की उष्णता का प्रबंध भी और तरह से किया है।

मनुष्य को अपने शरीर की उष्णता सदा एक समान ही बनाए रखनी पड़ती है। इसलिये प्रकृति ने उसकी देह के चर्म में कुछ ऐसा प्रबंध कर दिया है कि वह आवश्यकता के अनुसार अधिक उष्णता का विसर्जन कर सके अथवा उष्णता को देह से न निकलने दे। प्रत्येक स्थान में उष्णता को उत्पन्न करनेवाला रक्त है, क्योंकि वह भोजन और आक्सीजन दोनों को प्रत्येक अंग में पहुँचाता है जिनसे उष्णता उत्पन्न होती है। इस उष्णता से रक्त भी उष्ण हो जाता है, जिससे वह संचालन के समय दूसरे अंगों को भी उष्ण कर देता है।

यकृत् और पेशी उष्णता उत्पन्न होने के मुख्य स्थान हैं। यहाँ पर रक्त उष्ण होकर नलिकाओं द्वारा सारे शरीर में भ्रमण करता है। भ्रमण करता हुआ कि चर्म की नलिकाओं और केशिकाओं में भी जाता है, जहाँ से उष्णता का विसर्जन होता है। ये नलिकाएँ देह के सारे चर्म में बहुतायत से फैली हुई हैं। इन नलिकाओं का मस्तिष्क से संबंध रहता है। चर्म में नाडियों का ऐसा प्रबन्ध है कि उनकी क्रिया से ये रक्त-नलिकाएँ संकुचित होती हैं और विस्तृत भी हो जाती है। एक प्रकार की नाडियों का कर्म नलिकाओं को संकुचित करना है; उनको Vaso Constrictors कहते हैं और दूसरे प्रकार की नाड़ियाँ रक्त-नलिकाओं का विस्तार करती है। इनको Vaso-dilato s कहते है। जब नलिकाओं का विस्तार हो जाता है, तो उनमें अधिक रक्त जाने लगता है और जब वे संकुचित हो जाती हैं, तो उनमें जानेवाले रक्त की मात्रा कम हो जाती है।

जाडे और गरमी के दिनो मे प्रकृति इसी प्रबंध से उष्णता का शरीर से बाहर जाना कम और अधिक कर देती है। जाडे के दिनो मे नगा शरीर करने से पीला दिखाई देता है, क्योंकि चर्म की नलिकाओं के संकुचित होने से चर्म मे रक्त का जाना कम हो जाता है। गरमी के दिनों में चर्म की नलियों के विस्तृत होने से रक्त का संचालन बढ जाता है; क्योंकि इनसे अधिक उष्णता शरीर से बाहर निकलती है।

इसलिये जाडे के दिनो में त्वचा को श्वेत देखकर भय नही खाना चाहिए, क्योंकि उसका केवल यह अर्थ है कि रक्त चर्म की नलिकाओं से भीतर की नलिकाओ मे चला गया है। हाँ, यदि ठड के दिनों में भी चर्म की नलिकाएँ विस्तृत और रक्त से भरी

हुई दिखाई दें, तो उसे बहुत बुरा समझना चाहिए। जो लोग शराब बहुत पीते है, उनमें यह दशा देखने में आती है। शराब से चर्म की सब नलिकाएँ ढीली पड जाती हैं और उनमें रक्त का प्रवाह अधिक हो जाता है जिससे शरीर की उष्णता का अधिक नाश होता है। जाडे के दिनों में इसकी अधिकता से मृत्यु तक हो सकती है।

इस प्रकार शरीर अपनी उष्णता को समान रखने का उद्योग करता है। कभी-कभी शरीर का यह उद्योग निष्फल हो जाता है। ऊपर कहा हुआ प्रबंध नहीं काम करता। उस समय स्वेद-ग्रंथियाँ शरीर को सहायता देती है। उनसे जो स्वेद शरीर पर बहता है उसके द्वारा शरीर ठंडा होता है। यह स्वेद न केवल स्वयं ही शरीर को ठंडा करता है किन्तु गरमी के कारण जब यह भाप बनकर उडता है तो इस क्रिया से अधिक शीत उत्पन्न होता है। जब भी किसी तरल का वाष्पी भवन (Evaporation) होता है तो उससे ठंड उत्पन्न होती है। वाष्पी भवन जितना जल्दी होता है उतनी ही अधिक ठंड उत्पन्न होती है। हम साधारणतया देखते हैं कि गरमी के दिनों में ऐसे मिट्टी के बर्तनों में, जिनसे कुछ जल रिसता रहता है, जल अधिक ठंडा होता है। बरफ़ जमाने की मशीन में बीच के कोष्ठ में तो दूध और शर्करा रहती है और बाहर के कोष्ठ में नौसादर और कुछ और वस्तुएँ रहती है जिनसे अमोनिया बनता है। यह वस्तु बहुत शीघ्र उडनेवाली है। अतएव जिस समय मशीन चलाते हैं, उस समय यह वस्तु बहुत तेजी से उड़ती है और भीतर का दूध जम जाता है। इसी प्रकार शरीर से स्वेद के उड़ जाने से शरीर की उष्णता कम हो जाती है और शरीर शीतल हो जाता है। यह साधारण अनुभव

है कि वर्षा के दिनों की उष्णता ग्रीष्म-काल की उष्णता से अधिक कष्टदायक होती है ; क्योकि उन दिनो में पसीना शरीर से नही उडता। मनुष्य आर्द्र उष्णता की अपेक्षा शुष्क उष्णता को कहीं अधिक सहन कर सकता है।

त्वचा और सूर्य-प्रकाश—सूर्य का प्रकाश संसार की सब वस्तुओ को शक्ति देनेवाला है। इसकी महिमा हम गत परिच्छेदों मे कुछ देख चुके है। वृक्षों को उत्पन्न करना, वृक्ष में पत्तियों को लगाना, पत्तियो में उनका भोजन उत्पन्न करना, जिसे हम ग्रहण करके शरीर में शक्ति धारण करे, यह सब सूर्य की किरणों ही के काम है। संसार में जितनी वस्तुएँ हम देखते हैं, सभी में सूर्य के प्रकाश की शक्ति का कुछ न कुछ परिचय अवश्य ही मिलता है।

सबसे उत्तम संक्रामक अर्थात् रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करनेवाला सूर्य-प्रकाश है। जो जीवाणु कई घंटों तक जल मे उबालने से नही मरते, वे सूर्य-प्रकाश मे थोड़े ही समय में मर जाते है। सूर्य-प्रकाश हमारे स्वास्थ्य के लिए बहुत उत्तम है। यह प्रकाश दो प्रकार के भागों का बना होता है, एक तो वह जो हम देखते है और दूसरा भाग इससे परे है जिसकी लहरें हमको दृष्टिगोचर नहीं होती। इस भाग को Ultra-Violet रश्मियो का बना हुआ कहते हैं। यह अल्ट्रावायलेट भाग हमारे स्वास्थ्य के लिये बहुत हितकर है। प्र.ाश का वह भाग, जो प्रचंड उष्णता उत्पन्न कर देता है, स्वास्थ्य के लिए उत्तम नहीं है। उष्ण प्रदेशों में विशेषकर ग्रीष्मकाल मे सूर्य-प्रकाश में उष्णता उत्पन्न करनेवाला भाग अधिक रहता है। दूसरा भाग कम होता है। प्रातःकाल अरुणोदय की किरणो के इस भाग से लाभ उठाया जा सकता है।

शरीर के चर्म में इस भाग को शोषने और आतप-किरणो से

रक्षा करने की भी शक्ति काफी है। चर्म में जो रंजक कण होते है वे नीचे के भागों को तीव्र किरणों से बचाते हैं। वे उन किरणों को बहुत कुछ सोख लेते हैं। इसी कारण जो लोग उष्ण-प्रदेशों में रहते हैं उनके चर्म में ये रंजक कण बहुत अधिक हो जाते हैं। इससे उनका रंग काला होता है। ये कण शरीर को प्रकाश से रक्षा करते हैं। शीत-प्रदेशों में रहनेवालों को इन कणों की इतनी आवश्यकता नही होती, क्योंकि वहाँ के प्रकाश में इतनी अधिक उष्णता की किरणें नही होतीं। जिन लोगों को धूप में अधिक काम करना पड़ता है उनके चर्म में भी ये रंजक कण बन जाते है। शरीर स्वयं अपनी रक्षा का साधन उत्पन्न कर लेता है। यह भली प्रकार विदित है कि धूप में काम करने से वर्ण काला हो जाता है।

कुछ पशु ऐसे होते हैं जिनमें जब वे चाहें तब रंजक कणों को चर्म के ऊपरी भाग में ले आने की शक्ति होती है। गिरगिट के लिये यह विख्यात है कि वह रंग बदला करता है। इन पशुओं को जब आवश्यकता होती है तो वे रंग के कणों को चर्म के ऊपरी भाग में ले आते हैं और अपनी रक्षा करते हैं।

चर्म के द्वारा श्वास-कर्म—यह कर्म वास्तव में फुस्फुस का है। परन्तु चर्म भी इस कर्म को करता है। त्वचा शुद्ध वायु से ऑक्सीजन ग्रहण करती है और कार्बन-डाइ-ओक्साइड वायु को लौटा देती है। त्वचा की नलियों मे जो रक्त बहता है वह नंगे शरीर पर वायु के संपर्क में आता है और तब यह गैसों का परि-वर्तन होता है। इस प्रकार त्वचा फुस्फुस को सहायता देती है। यद्यपि त्वचा का श्वास-कर्म फुस्फुस के श्वास-कर्म का स्थान नहीं ले सकता, तो भी इससे रक्त की शुद्धि में सहायता अवश्य मिलती है।

त्वचा इस कर्म को करती ही नहीं है, किन्तु फुम्फुस से यह कर्म करवाती भी है। श्वास-कर्म के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि चर्म से सदा कुछ उत्तेजनाएँ मस्तिष्क को जाती रहती है जिनसे श्वास केंद्र उत्तेजित हो जाता है और श्वास-कर्म होने लगता है। प्रथम बार जो नवजात शिशु श्वास लेता है उसका विशेष कारण चर्म होता है।

जो लोग चर्म को बहुत अधिक वस्त्रों से ढक देते है वे स्वास्थ्य के लिये अच्छा नही करते। त्वचा जब वायु के सम्पर्क में आती है तो इसकी सब क्रियाएँ बढ़ जाती हैं। रक्त का संचालन भी अधिक होता है, रक्त की शुद्धि होती है और त्वचा के द्वारा शरीर का विष बाहर निकलता है। त्वचा के नीचे जो नाडियाँ रहती है, जिनके द्वारा मस्तिष्क को उत्तेजनाएं पहुँचती है, वे वायु के संपर्क से अपना कर्म अधिक वेग से करती है। बहुत अधिक वस्त्रों का पहनना, जिनसे वायु शरीर के चर्म तक पहुँच ही न पाए, चर्म को अपनी क्रिया करने से रोक देता है।

कुछ लोगो को सदा यह ध्यान रहता है कि वायु यदि ठंडी हुई तो वह उनके शरीर को हानि पहुँचाएगी। उनको जुकाम इत्यादि हो जायगा। जो मनुष्य ऐसे है जिनको बहुत सहज मे ये रोग हो जाते है उनको और भी अधिक आवश्यक है कि वे शुद्ध और ठंडी वायु में अधिक समय व्यतीत करें। यदि वह सदा से ऐसा करते, तो कदाचित् वे इस रोग के ग्रास न बने होते। उनको सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि शरीर में स्वयं ही ऐसा प्रबन्ध है कि वह अपनी शीत व ताप से रक्षा कर लेता है। इस सम्बन्ध में उनके चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है।

बच्चों को शुद्ध वायु की बडो से भी अधिक आवश्यकता होती

है। इनको थोड़े समय तक नग्न रखना लाभदायक है। इनकी त्वचा काम करना सीखती है। शुद्ध वायु के लगने से उनमें शक्ति और उत्साह आता है। उनके अंगों के कर्म अधिक तेजी से होते हैं। नित्यप्रति उचित समय पर जब न बहुत ठंड हो न बहुत उष्णता, तब बच्चों को नग्न शरीर करके खुली वायु में उनसे किसी प्रकार का हल्का व्यायाम कराना चाहिए। बाल्य काल से ऐसा करने से वे बच्चे शीत इत्यादि से कभी कष्ट न पाएँगे।

त्वचा पर मालिश करना बहुत उत्तम है। ऐसा करने से स्वेद-ग्रंथियों के सारे छिद्र खुल जाते हैं और उनमें एकत्रित पदार्थ बाहर निकल आते हैं। इसी प्रकार चिकने तरल को बनानेवाली जो ग्रंथियाँ हैं वे भी अधिक काम करने लगती हैं और चर्म को चिकनाई देनेवाला पदार्थ भी अधिक बनता है। इसके अतिरिक्त सारे चर्म का रक्त संचालन बढ़ जाता है जिससे चर्म को अधिक पोषण मिलता है। मालिश चर्म का व्यायाम है। जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ दशा में रखने के लिए हमें व्यायाम करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार चर्म के लिए भी व्यायाम आवश्यक है।

मानव-राज्य का संचालक

नाड़ी-मंडल

मनुष्य की देह में पाँच फुट छः इंच की ऊँचाई पर स्थित दृढ़ अस्थियों द्वारा निर्मित कपाल-मंदिर मे मस्तिष्क रहता है। कपाल बनाने में शरीर की सबसे अधिक दृढ़ अस्थियो का प्रयोग किया गया है और उसकी रचना बडी ही विचित्र है। इसमें कई कोष्ठ होते है जिनमें मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भाग रहते है। अनेक छिद्र भी होते है जिनके द्वारा मस्तिष्क अपने नाडीरूपी तारों को इस शरीर-साम्राज्य के प्रत्येक भाग मे वहाँ की सब बातों की खबर रखने के लिए और भिन्न-भिन्न विभागों के कर्मचारियों को आवश्यकतानुसार आज्ञाएँ देने के लिए भेजता है। शरीर के प्रत्येक भाग को मस्तिष्क से नाड़ियाँ जाती हैं और वहाँ प्रत्येक

भाग से नाड़ियाँ आती है। जानेवाली नाड़ियाँ सूचनाओं को ले जाती है। पेशियों की क्रियाएँ, अंगों का संचालन, उनकी गति सब इन्हीं नाड़ियों पर निर्भर करती हैं। जो नाड़ियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से मस्तिष्क को जाती है वे शारीरिक दशाओं की मस्तिष्क को सदा सूचना देती है जिससे मस्तिष्क तदनुसार निश्चय करके जिन अगा से आवश्यक होता है कर्म करवाता है।

मनुष्य के जितने कर्म है सब मस्तिष्क की शक्ति का फल है। यदि शरीर के अंगो का सम्बन्ध मस्तिष्क से विच्छिन्न कर दिया जाय तो वे अपना कर्म करने में बिलकुल असमर्थ हो जायँगे। मस्तिष्क को शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वह अपरिमित है। मनुष्य को ससार का उच्च से उच्च कोटि का महात्मा बनानेवाला भी मस्तिष्क है और नीच से नीच लंपट, धूर्त्त, दुराचारी भी मस्तिष्क ही के प्रभाव से बनता है। ससार की अत्यत गूढ़ समस्याएँ यह मस्तिष्क ही सुलझाता है। संसार के जितने बड़े से बड़े काम हुए हैं, आविष्कार हुए है, रेल, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन, वायुयान इत्यादि बनाए गए है अथवा रात-दिन वैज्ञानिक लोग जो नए-नए आविष्कार करते है वह केवल मस्तिष्क की शक्ति का प्रदर्शन है। नेपोलियन को नेपोलियन बनानेवाला और पागलखाने के एक पागल को उन्मत्त की दशा में पहुँचानेवाला भी मस्तिष्क ही है।

मस्तिष्क की शक्तियों का भी अभी तक वैज्ञानिक लोग पूर्णतया पता नहो लगा सके है। ऐसा क्यों होता है कि मेरे तनिक सी इच्छा करने पर मै एक बडा काम कर डालता हूँ। मेरे रात-दिन के कार्य, लिखना, भाषण करना, विचारना इत्यादि

साधारण कार्य नहीं होते । वे संयुक्त कार्य होते हैं । शरीर मे अनेक क्रियाएँ होती हैं जिनके मिलने से मेरा वांछित कर्मरूपी परिणाम निकलता है । केवल चलने मे शरीर की दो सौ से अधिक पेशियाँ काम करती हैं । लेकिन मुझे उनका ज्ञान भी नहीं होता। विचार करने में मैं कैसी अद्भुत बातों की अपने मन में कल्पना कर सकता हूँ। जो वस्तु मैंने कई वर्ष पहले देखी थी उसका तनिक सा भी नाम लेने से उस समय की देखी हुई वस्तु का मेरे सामने एक चित्र खिंच जाता है। यह सब किस प्रकार होता है ? मस्तिष्क में ऐसी कौन सी विधि होती है, जिससे मस्तिष्क इतनी असंख्य बातों को स्मरण रखता है ?

मनुष्य का जीवन ही एक प्रकार से मस्तिष्क पर निर्भर करता है। बुरे-भले को समझने की शक्ति तो मस्तिष्क की ही है। अग्नि को जलानेवाली वस्तु और जल को शीतल करनेवाली वस्तु समझना मस्तिष्क ही का काम है। अपनी रक्षा के उपाय मनुष्य मस्तिष्क ही से करता है।

पशु भी इसी प्रकार अपने ज्ञान के लिये मस्तिष्क पर निर्भर करते हैं। सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप मे हमको मस्तिष्क के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। जो सबसे नीची श्रेणी के जन्तु है, जैसे अमीबा इत्यादि, उनमें भी चेतना की शक्ति वर्तमान है। यद्यपि इन एकसेलीय जीवों में किसी प्रकार के नाडी-ततु का पता नहीं लगता, इनके शरीर में कोई ऐसी भिन्न स्पष्ट रचना नहीं है जिसका गुण ज्ञान समझा जा सके तो भी ये जन्तु अनुभव कर सकते है । यदि अमीबा को अपने से छोटा कोई जन्तु मिल जाता है तो वह तुरन्त उसे भक्षण कर लेता है। इस

ज्ञान की शक्ति कि हमारा खाद्य पदार्थ यहाँ है, इन एकसेलीय जीवो में भी है।

ज्यों-ज्यों जीवो की श्रेणी उच्च होती जाती है त्यों-त्यो मस्तिष्क की रचना का विकास होता जाता है। जेली मछली (Jelly fish) एक अत्यत कोमल जन्तु होता है। वह एक खुले हुए छाते के समान आकारवाला होता है, किंतु छाते से बहुत छोटा होता है। उसका व्यास कोई एक इंच के लगभग होता है। यह जन्तु इतना पतला होता है कि उसके द्वारा दूसरी ओर

चित्र नं० ७०—जेली नाम की मछली।
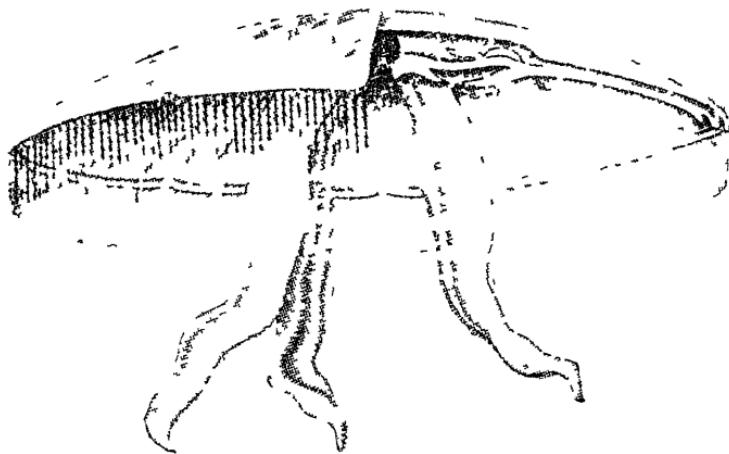
(Parker and Haswell)

का प्रकाश दिखाई देता है। इसके शरीर के किनारों पर चार स्थानों में कई छोटी-छोटी ग्रंथियाँ मिलती है। ये ग्रंथियाँ बहुत

पतली-पतली रज्जुओं से जुडी रहती है। इन जन्तुओं का नाडी-मंडल यही है। वे ग्रंथियाँ नाड़ी-केंद्र हैं और रज्जु नाडी है।

चित्र नं० ७१—केचुवे का नाडी मंडल
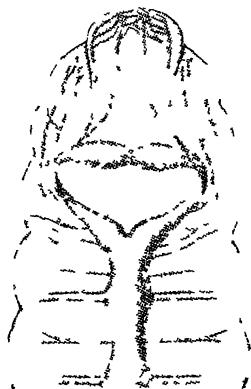
(Parker and Haswell)

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है त्यों-त्यों नाडी-मंडल की रचना भी गूढ होती जाती है। हम देखते हैं कि ऊपर कहे हुए जंतु से जब तक केचुवे (Earthworm) की श्रेणी में आते है तो वहाँ स्पष्ट नाडी-मडल मिलता है। केचुवे के सबसे अग्र भाग में, जो हमारे सिर के समान है, नाडी-ततु का एक चक्र रहता है जो एक मुद्रिका के स्वरूप में स्थित होता है। इस मुद्रिका के दोनों ओर से लम्बे-लम्बे सूत्र निकलकर जंतु के शरीर में दोनो ओर उसके अन्तिम भाग तक चले जाते हैं। इन सूत्रों में स्थान-स्थान पर ग्रथियाँ रहती हैं, जिनसे बहुत बारीक सूत्र शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में जाते हैं।

इसी प्रकार ज्यों-ज्यों विकास की श्रेणी उच्च होती जाती है, त्यों-त्यों मस्तिष्क का विकास भी अधिक होता जाता है। मछलियों के मस्तिष्क में नाडी-मंडल बहुत अधिक विकसित होता है। बंदरो इत्यादि मे मस्तिष्क का और भी अधिक विकास हो जाता है। उनके मस्तिष्क मे कही अधिक भाग होते है और उनकी रचना अधिक गूढ़ होती है। जिस पशु में जितना अधिक गूढ मस्तिष्क होता है, उतनी ही उसकी विचार शक्ति अधिक विकसित होती है। मनुष्य का मस्तिष्क सब पशुओ से अधिक गूढ है। गहरी लकीरे और उभरे हुए लम्बे-लम्बे भाग सब पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में अधिक है। न केवल यही, किन्तु कुछ मनुष्यों मे ये गहरी रेखाएँ और उभार अन्य की अपेक्षा अधिक पाए जाते है। और उसी के अनुसार उनमे बुद्धि का विकास भी अधिक पाया जाता है। बुद्धिमान्, शिक्षित और चतुर मनुष्यो के मस्तिष्को में ये रेखाएँ और उभार अधिक होते है, किन्तु जो मूर्ख होते है उनके मस्तिष्को में इतने अधिक चिह्न नहीं होते।

इस प्रकार शारीरिक यन्त्र का सचालक मस्तिष्क है। अपने अस्तित्व तक के लिये शरीर के सब अंग मस्तिष्क पर निर्भर करते हैं, वे इसी के बनाए हुए मार्ग पर चलते है। इन यान्त्रिक कर्मों का किस प्रकार सचालन होता है, मस्तिष्क के कौन से भाग की क्या क्रिया होती है और उन विविध अगो मे कहाँ से उत्तेजनाएँ जाती है, इन सब बातो का पता वैज्ञानिक लगा चुके है। उनको मालूम हो गया है कि यदि मस्तिष्क के अमुक स्थान मे उत्तेजना उत्पन्न होगी अथवा वहाँ से उत्तेजना जायगी तो शरीर के अमुक अग की क्रिया होगी। इन स्थानो को केंद्र कहते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क मे बाईं ओर,

ऊपरी पृष्ठ पर एक स्थान है जिसको 'भाषण-केंद्र' कहते है। हमारे बोलने और बातचीत करने का कर्म इस केंद्र के अधीन है। यदि इस केंद्र का नाश कर दिया जाय तो हमारी बातचीत करने की शक्ति जाती रहे। इसी प्रकार अन्य क्रियाओ के भी केंद्र होते है। बाहु की पेशियो की गति का केंद्र जंघा के केंद्र से भिन्न है। श्वासीय और कई अन्य प्रकार के केंद्रो का पहले उल्लेख हो चुका है। यदि इन केंद्रों का नाश कर दिया जाय तो जिस अंग से वे सबंध रखते है उनका कर्म नष्ट हो जायगा।

इस प्रकार के कई सौ केंद्रो का पता लग चुका है किंतु मस्तिष्क के वे स्थान, जो मनुष्य के उच्च कर्मों से सबंध रखते हैं, नही मालूम हो सके है। हमको अभी तक नहीं मालूम कि दूसरे जीवो पर दया करना मस्तिष्क के कौन से भाग का काम है, ईश्वर-वदना करने मे कौन भाग काम करता है; गूढ प्रश्न किस भाग के द्वारा हल किए जाते है। हम नहीं कह सकते कि आत्म-त्याग, स्वदेशानुराग, स्वावलबन, परसेवा की चित्त-वृत्ति, इत्यादि उत्तम कर्म, जो मनुष्य को पशु की श्रेणी से निकालकर मनुष्य के शब्द को सार्थक करते है और उच्च श्रेणी मे रखते हैं, कौन से भाग द्वारा किए जाते है। किंतु इतना हम अवश्य जानते हैं कि ये सब उच्च कर्म मस्तिष्क ही की प्रेरणा से होते है। जितने विचार-संबंधी कर्म है उसको मस्तिष्क ही करता है। मनुष्य को Lord of Creation की पदवी दिलवानेवाला मस्तिष्क ही है।

मनुष्य और पशु मे बहुत कम अंतर है। जितने भी कर्मों या भिन्न-भिन्न अंगो के कार्यों का गत परिच्छेदो में उल्लेख किया गया है या आगे किया जायगा इन सब कर्मों को पशुओं के अंग भी उसी

प्रकार करते है जैसे कि मनुष्य के अंग करते हैं। उनके हृदय भी सारे शरीर में रक्त का संचालन करते है और शरीर के प्रत्येक अंग का पालन करते है। उनके फुस्फुस भी श्वास कर्म द्वारा वायु से ऑक्सीजन ग्रहण करते है और रक्त की शुद्धि करते हैं। उनके पेशी, आमाशय, अंत्रियाँ इत्यादि सब उसी भाँति कर्म करते हैं जैसे कि हमारे अग करते है। जो नीचे की श्रेणी के जंतु है उनकी रचना कुछ भिन्न है। किंतु जो अग है उनका वही कार्य है जो हमारे शरीर में है। भिन्नता केवल मस्तिष्क मे है, और वह भी उच्च कर्मों में, शरीर की गति के व बहुत सी क्रियाओ के वहाँ भी वैसे ही केंद्र है जैसे कि हमारे मस्तिष्क में है। किंतु जहाँ हमारे मस्तिष्क के केंद्र बहुत बडे है वहाँ उनके केंद्र छोटे है, जिसका यह अर्थ है कि हमारे मस्तिष्क का केंद्र बहुत ही उत्तम प्रकार से क्रिया करवा सकता है; किन्तु उनके मस्तिष्क साधारण और भद्दी क्रिया करवाएँगे। किंतु हमारा मस्तिष्क जो उच्च कर्म कर सकता है वह पशुओं का मस्तिष्क नहीं कर सकता। उनके मस्तिष्क में वे केंद्र विकसित नहीं हुए है, प्रकृति ने उनमे वह शक्ति उत्पन्न नही की है जो उनसे उच्च मानसिक कर्म करा सके। यही मनुष्य और पशुओं में अंतर है। वास्तव में विकास का आधार ही मस्तिष्क है। ज्यों-ज्यों मस्तिष्क की शक्तियाँ अधिक होती गई है त्यों त्यो विकास भी उच्च होता गया है।

मस्तिष्क ने सारे शरीर में अपना एक जाल फैला रक्खा है। यहाँ से अनेक तार जाते है और अनेक इसमें आते है। जहाँ तहाँ इन तारों पर बडे-बडे गृह बना दिए गए है जिन पर इनका पालन-पोषण निर्भर करता है। इस इंद्रजाल की तनिक अधिकतर परीक्षा करनी आवश्यक है।

मस्तिष्क की रचना—कपाल जो आठ अस्थियों से बना

हुआ है उसके भीतर मस्तिष्क रहता है। यह बिलकुल गोल नहीं होता, किंतु कुछ अंडे के आकार के समान होता है। जब इसको कपाल से निकाला जाता है तो यह एक पिलपिले धूसर रंग के पदार्थ का बना हुआ प्रतीत होता है। वह चिकना और सपाट नहीं मालूम होता, किंतु उसमें बहुत सी गहराई और उभार हैं।

चित्र नं० ७२—बृहत् मस्तिष्क।
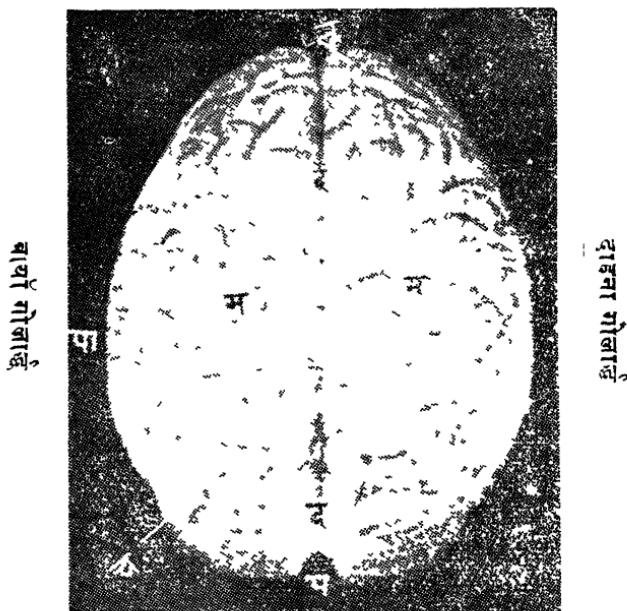
(हमारे शरीर की रचना से)

यह गहराई सीता कहलाती है और उभार को चक्रांग कहा जाता है। प्रत्येक चक्रांग के दोनों ओर सीतायें और प्रत्येक सीता

के दोनों ओर चक्रांग रहते है। इस प्रकार एक सीता के पश्चात् चक्रांग और चक्रांग के पश्चात् फिर सीता रहती है। सारे मस्तिष्क में इसी प्रकार प्रबंध है।

शरीर से बाहर निकालने पर मस्तिष्क के चार भाग बहुत स्पष्ट दिखाई देते है। सबके ऊपर मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग रहता है। यह बृहत् मस्तिष्क कहलाता है। इसके दो भाग होते हैं, एक दाहना और दूसरा बायाँ। इन दोनों भागों को गोलार्द्ध कहते हैं। यदि इनको ऊपर से एक दूसरे से तनिक हटा कर देखा जाय तो ये नीचे की ओर एक विशेष भाग

चित्र नं० ७३—नाड़ी मंडल के ऊपरी और मध्यस्थ भाग का एक मान-चित्र, जिसमें मस्तिष्क आदि का प्रबंध दिखाने का प्रयत्न किया गया है।
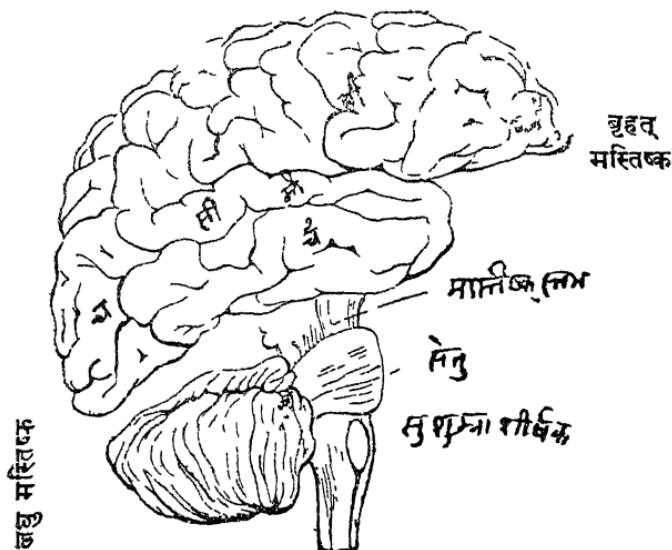
चित्र नं० ७४—मस्तिष्क और सुषुम्ना के ऊपरी भाग का पार्श्विक दृश्य।
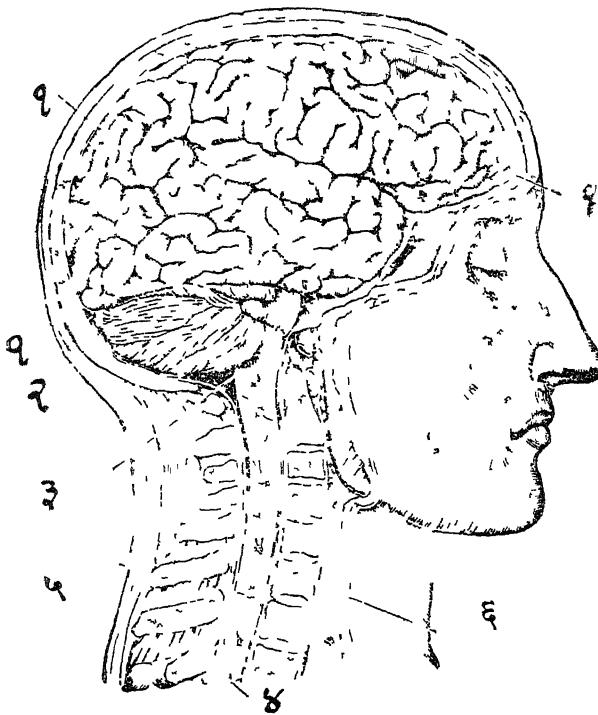
१—वृहत् मस्तिष्क के चक्रांग
२—लघु मस्तिष्क
३—सुषुम्ना-शीर्षक
४—सुषुम्ना
५—कशेरुकाओं के कंटक
६—कशेरुकाओं के गात्र

द्वारा जुड़े हुए दिखाई देंगे जिसको महासंयोजक कहते हैं। इन दोनों गोलार्द्धों के नीचे और पीछे की ओर लघु मस्तिष्क रहता है जो आकार में एक छोटे से गोले के समान है। लघु मस्तिष्क से नीचे की ओर निकलता हुआ एक दंड के समान भाग दिखाई देता है। यह सुषुम्ना कहलाता है। सुषुम्ना और मस्तिष्क के बीच का चौडा भाग सुषुम्ना-शीर्षक कहलाता है।

सुषुम्ना—यह सुषुम्ना मस्तिष्क के नीचे से आरंभ होकर पृष्ठ-वंश की नली के भीतर होती हुई पृष्ठवंश के अंत तक चली जाती है। पीठ के निचले भाग में जाकर यह बहुत पतली हो जाती है और अंत में कुछ नाड़ियों के रूप मे समाप्त हो जाती है। इस सुषुम्ना से प्रत्येक दो कशेरुकाओ के बीच के स्थान से होकर दोनों ओर नाड़ियाँ निकलती है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागो में चली जाती है। ये नाडियाँ सौषुम्निक नाड़ियाँ कहलाती है।

सौषुम्निक नाड़ियाँ—इन नाडियों के ३१ जोड़े सुषुम्ना से निकलते है। प्रत्येक नाडी दो मूलो से निकलती है जो कुछ दूरी तक भिन्न रहते हैं, किंतु पश्चात् दोनो मिलकर एक नाडी बनाते है। एक मूल सुषुम्ना के आगे से निकलता है और दूसरा पीछे से। आगे की ओरवाला पूर्व मूल और पीछेवाला पश्चात् मूल कहलाता है। दोनों के मेल से एक नाडी बनती है। पश्चात् मूल पर नाडी-सेलों के समूह एक ग्रंथि के स्वरूप मे रहते है। जैसा आगे चलकर मालूम होगा। पूर्व और पश्चात् मूल दोनों की क्रियाएँ भिन्न है और दोनों में दो प्रकार के सूत्र रहते है।

मस्तिष्कीय नाड़ियाँ—जिस प्रकार सुषुम्ना से नाड़ियाँ निकलकर सारे शरीर में फैलती है उसी भाँति स्वयं मस्तिष्क-

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १

मस्तिष्क की स्थूल-रचना
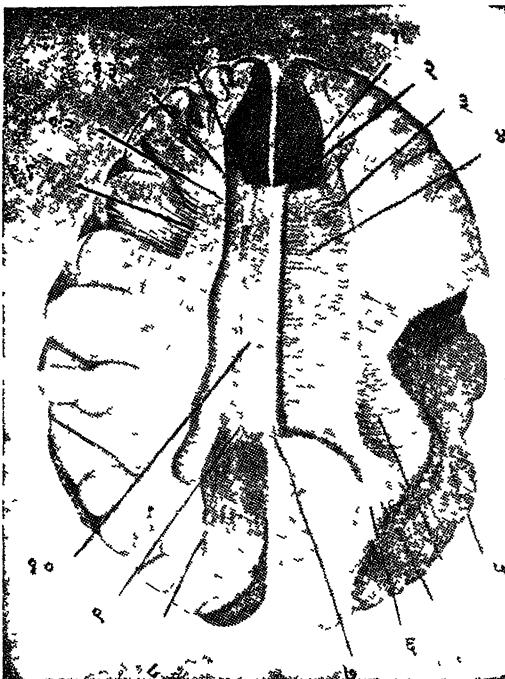
Cunningham's Practical Anatomy

(डा० त्रि० ना० वर्मा-कृत हमारे शरीर की रचना से)

१ ललाट खंड को जानेवाले सूत्र। २. महासंयोजक का जानु। ३ कटा हुआ पृष्ठ । ४. अनुप्रस्थ सूत्र। ५. अधः अनुदैर्घ्य सूत्र गुच्छ। ६. पाश्चात्य खंड को जानेवाले सूत्र। ७. मध्य अनुदैर्घ्य रेखा। ८ महासंयोजक की पाश्चात्य पुच्छ। ९. सूत्रों का एक गुच्छा जो महासंयोजक को बीच के लगभग चारों ओर से घेरे हुए है। १०. महासंयोजक। ११, १२. कुछ सूत्र एक दूसरे के ऊपर होकर निकल रहे हैं। १३. महासंयोजक से मस्तिष्क के भिन्न २ भागों को जानेवाले कुछ सूत्र। १४. ९ के द्वारा दिखाते हुए सूत्रों का अलग भाग। पृष्ठ-संख्या ३५०

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २

मस्तिष्क का मध्यम पृष्ठ

(डा० त्रि० ना० वर्मा-कृत हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ३५१

प्लेट नं० २ की व्याख्या

१=महासंयोजक जानु के नीचे नेवाला एक चक्रांग (Gyrus subcallosus)

२=महासंयोजक नासा

३=एक विशेष भाग (Paraterminal body)

४=इस भाग से तीसरे कोष्ठ की अगली दीवार बनती

५=(चित्र के भीतर) हाइपोफिसिस की डंठल

६=सीता , ७=धनुराकार पिंड का दाहिना भाग , ८=नं० ६ सीता का अंतिम भाग

९=पार्श्विक खंड का मध्य पृष्ठगत भाग (चतुरस्र खंड)

१०=उभरी हुई रेखा ११=पीनियल ग्रंथि १२=पार्श्विक पाश्चात्य सीता का अन्त

१३=पाश्चात्य खंड का भाग १४=पार्श्विक पाश्चात्य सीता

१५=सीता १६=चक्रांग १७=नं० १५ सीता का प्रारम्भिक भाग

१८=चौथे कोष्ठ की अगली छत १९=चौथे कोष्ठ की पिछली छत

उ ल=ऊर्ध्व ललाट चक्रांग

उ सं=उपसंयोजक चक्रांग

अ=मध्यम सीता के अंतिम भाग के पास का चक्रांग

आ=मध्यम सीता का अन्त

ज=महासंयोजक का जानु

प= ,, की पुच्छ

य=यवनिका का शेष भाग

धु=धनुराकार पिंड

थ (काला)=थैलेमस का वह भाग जो तीसरे कोष्ठ की पार्श्विक दीवार बनाता है

थ (श्वेत)=तीसरे कोष्ठ के बाहर रहनेवाला थैलेमस का भाग । स्तंभ और चतुष्पिंड से "मध्य मस्तिष्क" बनता है, इन दोनों के बीच में जो नाली है उसको मध्य मस्तिष्क की सुरंग कहते हैं ।

चित्र नं० ७५—मस्तिष्क का अधोभाग।
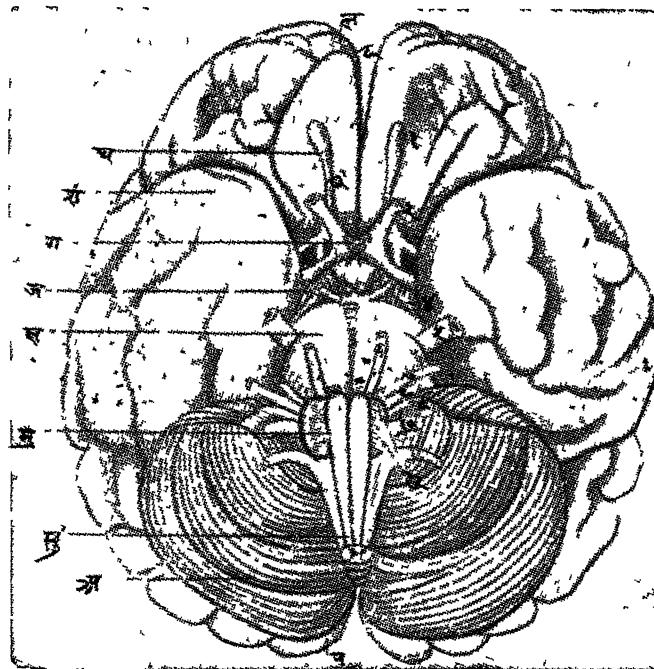
(हमारे शरीर की रचना से)

ल—ललाट ध्रुव, द—दरार या अन्तर, घ—घ्राणखंड, श—शंखध्रुव, ग—हाइपोफिसिस ग्रंथि, ज—मस्तिष्क स्तंभ, स—सेतु, सु—सुषुम्ना-शीर्षक का सूत्रपिंड, सु'—सुषुम्ना का प्रारम्भिक भाग, अ—लघु मस्तिष्क, प—पाश्चात्य ध्रुव।

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२—बारहो नाड़ियाँ।

से भी नाड़ियों के १२ जोड़े निकलते हैं और भिन्न-भिन्न अंगों में जाते हैं। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

१. प्रथम नाडी—यह नाडी हमारी नासिका में आकर बहुत बारीक सूत्रों में विभक्त होकर नासिका-पटल पर फैल जाती है। गंध का ज्ञान इसी नाडी के द्वारा होता है।

२. दूसरी नाडी—यह दृष्टि-नाडी है। ये नाडियाँ नेत्रों के कृष्ण पटल पर, जिसको रेटीना (Retina) कहते है, फैल जाती है। जब हम कोई वस्तु देखते है तो उसकी छाया इस पटल पर बनती है और यह नाडी मस्तिष्क को उसकी सूचना देती है। यह देखने का काम वास्तव में मस्तिष्क का है। कभी-कभी नेत्र ठीक रहते है, किन्तु इस नाडी में विकार आ जाने से दृष्टि जाती रहती है।

३. तीसरी नाडी—इनका नेत्रों के चलने से सम्बन्ध है।

४. चौथी नाडी—यह भी नेत्रो की गति में सहायता देती है। तीसरी और चौथी दोनों नाडियो का नेत्रों की पेशियो से सम्बन्ध है।

५. पाँचवी नाडी—मस्तिष्क को यह सबसे बडी नाडी है। आगे चलकर इसकी तीन शाखाएँ हो जाती है। इसके सूत्र मुख और सिर पर वितरित है।

६. छठो नाडी—यह भी नेत्र से सम्बन्ध रखती है।

७. सातवी नाडी—मुख के पेशियों से इसका सम्बन्ध है। उनकी गति इस नाडी के ऊपर निर्भर करती है। जब इस नाडी का स्तंभ हो जाता है तो मुख की सब मांस-पेशियाँ ढीली पड जाती हैं।

८. आठवी नाडी कर्ण में आती है। इसके द्वारा हम श्रवण करते हैं। शब्द की लहरें वायु द्वारा हमारे कर्ण के परदे पर जाकर लगती हैं। उनका आघात कुछ सूक्ष्म अस्थियों द्वारा कर्ण के अंतः-

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ४

सुषुम्ना और इससे निकलनेवाली नाडियों के मूल

प्रथम ग्रैवेयक नाडी

प्रथम वक्षकीय नाडी

प्रथम कटि नाडी

प्रथम त्रिक नाडी
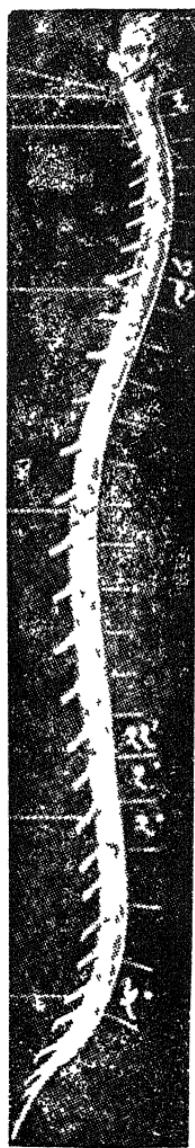
ग्रैवेयक कशेरुकों में रहनेवाला सुषुम्ना का भाग।

१ से ७=ग्रीवा के कशेरुक।

वक्षीय कशेरुको मे रहने वाला सुषुम्ना का भाग।

१ से १२=वक्षप्रात के कशेरुक।

कटि कशेरुकों के भीतर स्थित सुषुम्ना का भाग
१ और २=कटि कशेरुक

पृष्ठ-संख्या ३५३

(हमारे शरीर की रचना से)

भाग में पहुँचता है और वहाँ से शब्द का ज्ञान इस नाड़ी के द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचता है। यदि इस नाडी को काट दिया जाय, तो कर्ण-यंत्र के ठीक रहते हुए भी हमे कुछ न सुनाई देगा।

९. नवीं नाड़ी—इसका जिह्वा और कठ की पेशियो से संबंध है। वहाँ की मांस-पेशियों की गति इस नाड़ी ही के द्वारा होती है।

१०. दसवीं नाडी—इस नाड़ी का स्वर-यत्र, फुस्फुस, हृदय, आमाशय, अंत्रियो इत्यादि से संबंध है। अतएव इस नाड़ी की विशेषता सहज ही में समझी जा सकती है। यदि इस नाड़ी को काट दिया जाय, तो कैसा भयंकर परिणाम होगा ?

११. ग्यारहवी नाडी—इसका सबंध ग्रीवा की कुछ मांस-पेशियों से रहता है।

१२ बारहवी नाडी—यह जिह्वा की पेशियो का संचालन करती है और जिह्वा के नीचे रहती है। अँगरेज़ी में इसको Hypoglossal कहते है।

मस्तिष्क के कोष्ठ—ऊपर बताया जा चुका है कि मस्तिष्क दो गोलार्द्धों का बना हुआ होता है जो आपस में जुडे रहते है। यदि इन गोलार्द्धों को काटकर देखा जाय तो ये भीतर से खोखले मिलेंगे। दोनों गोलार्द्धों में एक समान विशेष आकार का शून्य स्थान रहता है। यह स्थान बहुत बडा नही होता, किंतु इसका आकार टेढ़ा होता है। नीचे की ओर इसका एक भाग पाँव सरीखा निकला रहता है। इस प्रकार यह दो कोष्ठ होते हैं। इनको Ventricles कहा जाता है। दोनो ओर के कोष्ठ आपस में मिले रहते है, किंतु मिलने के स्थान पर इनके बीच में एक परदा रहता है। इन कोष्ठों में कुछ तरल रहता है। किसी-किसी रोग में इस तरल में वृद्धि हो जाती है।

चित्र नं० ७६—बृहत् मस्तिष्क का ऊपरी भाग काट दिया गया है, जिससे दोनों पार्श्व के कोष्ठ दिखाई देते हैं।
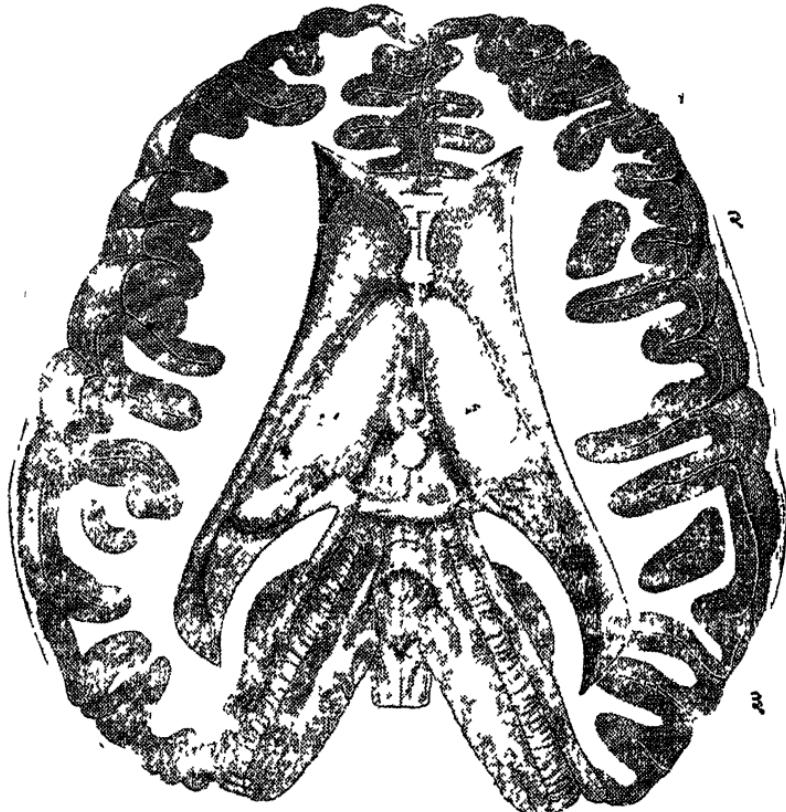
१ अंतिम श्रृंग ; २ मस्तिष्क के कोष्ठ , ३ पश्चात् श्रृंग

बृहत् मस्तिष्क की स्थूल रचना—बृहत् मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों पर चक्राग और सीताएँ रहती है। मस्तिष्क का रंग ऊपर से कुछ भूरा होता है। किंतु यदि हम एक चाकू से इसको

प्लेट नं० ५ की व्याख्या

च=चक्राङ्ग

१=ऊर्ध्व ललाट सीता , २=मध्य ललाट सीता ; ३=अधः ललाट सीता , ४ और ५=मध्यमाग्र सीता के दो भाग ; ६ (श्वेत चित्र के भीतर) =मध्यम सीता ; म=मध्यम सीता ; ७=पार्श्विक सीता का पिछला क्षितिज भाग , ८=ऊर्ध्व शंख सीता , ९=मध्यम शंख सीता , १०=पार्श्व पाश्चात्य सीता का अंतिम भाग ; ११=१० और ११ के बीच एक रेखा खींची जाय तो मस्तिष्क का जितना भाग इस रेखा के पीछे रहेगा वह 'पाश्चात्य खंड' होगा , १२=इस सीता का कुछ भाग पार्श्विक खंड में रहता है और कुछ पाश्चात्य खड में ; १३=सीता ; १४=चंद्राकार सीता ; १५=सीता ; १६=लघु मस्तिष्क ।

चित्र के भीतर—

प (श्वेत)=पार्श्विक सीता का आरंभिक भाग, १ और २ के बीच में पार्श्विक सीता की 'उद्गामी शाखा' , २ और ३ के बीच में अगली क्षितिज शाखा ; पा पा=पाश्चात्य पार्श्विक चक्रांग । ऊ. पा च.=ऊर्ध्व पार्श्विक चक्रांग ; ऊ. पा.=ऊर्ध्व पाश्चात्य चक्राग , अ. पा.=अधःपाश्चात्य चक्रांग ।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ५

मस्तिष्क का बहिः पृष्ठ

(डा० त्रि० ना० वर्मा कृत हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ संख्या २५४

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ६

सेतु, लघु मस्तिष्क और सुषुम्ना शीर्षक

(डा० त्रि० ना० वर्मा-कृत हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ३५५

काटकर भोतर का भाग देख तो उसका रंग श्वेत दिखाइ देगा। सारा मस्तिष्क इन्ही दो प्रकार के पदार्थों का बना हुआ है। एक का रंग धूसर है, इस कारण उसको धूसर पदार्थ (Grey Matter) कहते हैं। दूसरा जिसका रंग श्वेत है, स्वेत पदार्थ (White Matter) कहलाता है। धूसर पदार्थ श्वेत पदार्थ को चारों ओर से घेरे रहता है, इस कारण जब हम चाकू से काटकर

चित्र नं० ७७—वृहत् मस्तिष्क को पार्श्व की ओर से काटकर भिन्न-भिन्न सूत्रों का मार्ग और क्रम दिखाया गया है।
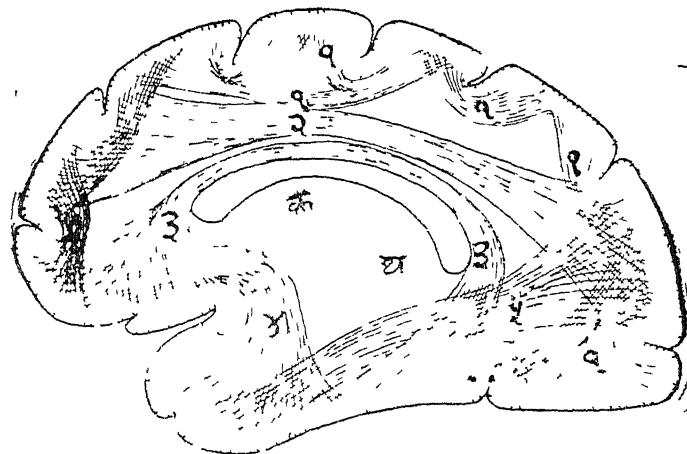
१. १—चक्रांगों के संयोजक सूत्र। [Starr]
२—ललाट और पश्चाद ंग को मिलानेवाले सूत्र।
३—ललाटांग और शाखांग को मिलानेवाले सूत्र।
४—ललाटांग और शंखांग को मिलानेवाले सूत्रो का समूह।
५—शंखांग और पश्चादग को मिलानेवाले सूत्र।
क—केलाकार पिंड।
थ—थैलेमस।

देखते है तो ऊपर हमको भूरे पदार्थ का एक परत मिलता है और इसके नीचे श्वेत पदार्थ मिलता है।

यदि हम और गहरा काटे तो हमको जहाँ-तहाँ श्वेत पदार्थ के बीच में धूसर पदार्थ के द्वीप मिलेंगे। यह धूसर पदार्थ का समूह श्वेत पदार्थ में इसी प्रकार वर्तमान है जैसे समुद्र में द्वीप। इनको अँगरेज़ी में Neucleus कहा जाता है। अर्थात् नाड़ी-मंडल के ये द्वीप-केंद्र है। ये केंद्र वृहत् मस्तिष्क के नीचे की ओर रहते है। इस प्रकार के तीन बडे-बडे मुख्य केंद्र है। छोटे केंद्र और भी है। ये स्थान वास्तव में नाडी-सेलो के समूह है।

मस्तिष्क मे अनेक सूत्र आते है और उसी प्रकार अनेक सूत्र उससे बाहर जाते है। ये सूत्र इन केंद्रो में होने हुए निकलते हैं। मस्तिष्क में जो अनेक केंद्र है, वे इन्ही सूत्रो द्वारा एक दूसरे से संयोजित है। एक केंद्र से इन सूत्रों द्वारा दूसरे केंद्र को सूचना जाया करती है। मस्तिष्क की सारी क्रिया इन केंद्रो और सूत्रो पर निर्भर करती है। जब हम यह सोचते है कि सुषुम्ना के समान मोटी नाडी इन्ही सूत्रों की बनी हुई है और मस्तिष्क मे भी इन सूत्रों की बहुत संख्या है तो हम अनुमान कर सकते है कि सारे सूत्रो की कितनी अधिक संख्या होगी।

यद्यपि जब से सृष्टि आरंभ हुई है तभी से मनुष्य मस्तिष्क से काम लेता चला आया है, किंतु यह बडी ही आश्चर्यजनक बात मालूम होती है कि पश्चिम के प्राचीन समय के विद्वान्, जिनको उस समय पूर्ण पंडित माना जाता था, मस्तिष्क के कर्म से अनभिज्ञ थे। अरस्तू (Aristotle) का विचार था कि मस्तिष्क का कर्म हृदय के ताप को कम करना है। जब कभी हृदय बहुत तप्त हो जाता है तो मस्तिष्क उस पर ठंडा जल छोड़

देता है जिससे हृदय की अग्नि कुछ कम हो जाती है। ग्रीस के प्राचीन लोगों को कुछ-कुछ भासमात्र था। प्लेटो का विचार था कि "मस्तिष्क विचार-शक्ति का मन्दिर" है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न बातें सोचते थे।

चित्र नं० ७८—मस्तिष्क के अन्य सूत्रों के मार्ग का दूसरा चित्र।

मस्तिष्क और नाडियों के कर्म का ठीक प्रकार से उसी समय ज्ञान हुआ है जब से शारीरिक विज्ञान में आधुनिक विधियों द्वारा प्रयोग करना आरम्भ हुआ है। गैलेन के समय में यह निश्चित प्रका से मालूम किया गया था कि मस्तिष्क के कर्म दो प्रकार के हैं; एक उत्तेजनाओं को ग्रहण करना और दूसरा उत्तेजनाओं को भेजना।

इसी प्रकार दो भाँति की नाड़ियाँ भी है, एक मस्तिष्क को चर्म और शरीर के अंगों से कुछ सूचनाएँ ले जाती हैं और दूसरी मस्तिष्क से अंगों और चर्म को आज्ञाएँ लाती है। उस समय से बराबर मस्तिष्क की शक्ति और कर्म जानने के लिए अनेक प्रयत्न और प्रयोग होते रहे है और दिन-रात हो रहे है। उनका परिणाम यह हुआ है कि हम अब यह जानने लगे है कि मस्तिष्क, जो केवल नाड़ी-सेलों का एक समूह है वह न केवल भिन्न-भिन्न प्रकार की आज्ञाएँ भेजता और सूचनाएँ ग्रहण ही करता है, किन्तु जितनी विचार-सम्बन्धी बाते है उन सबका स्थान यही है। सारे विचार, मनुष्यत्व के गुण, भले-बुरे का ज्ञान इत्यादि मस्तिष्क ही के द्वारा होता है।

यद्यपि हम प्रयोगों द्वारा मस्तिष्क के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुके है, किंतु मस्तिष्क की अपरिमित शक्तियो को देखते हुए यही कहना पडता है कि हमारा ज्ञान अभी तक समुद्र में एक बूँद के समान है। सहस्रों वैज्ञानिक इस अंग का गूढ़ रहस्य मालूम करने का उद्योग कर रहे हैं, किंतु अभी तक मस्तिष्क के सब रहस्य नहीं मालूम हुए है।

मनुष्य के मस्तिष्क में यह एक विशेषता है कि जन्म के पश्चात् उसका मस्तिष्क बहुत तेजी से बढता है। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसका मस्तिष्क उसके शरीर की अपेक्षा छोटा होता है। इसके पश्चात् उसकी बराबर वृद्धि होती रहती है, यहाँ तक कि मस्तिष्क जन्म के समय की अवस्था की अपेक्षा पाँच गुणा बडा हो जाता है। इससे अधिक नहीं बढ़ता। दूसरे पशुओं में ऐसा नहीं होता। बनमानुष मे, जो मनुष्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जन्मावस्था की अपेक्षा मस्तिष्क केवल थोड़ा ही सा बढ़ता है।

कुछ लोगों का विचार है कि जिस मनुष्य के मस्तिष्क का आकार जितना बडा होता है, उतनी ही उसमें बुद्धि अधिक होती है। यदि पशुओं का भी इस संबंध में विचार किया जाय तो यह अवश्य ही उपयुक्त मालूम होता है, किंतु साधारणतया यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता।

पशुओं के मस्तिष्क चिकने और सपाट होते हैं। उन पर सीता और चक्रांग बहुत कम होते है। यदि पशुओं के मस्तिष्को का अध्ययन किया जाय तो हम देखेंगे कि नीची श्रेणी के पशुओं की अपेक्षा ऊँची श्रेणी के पशुओ के मस्तिष्कों मे चक्रांग और सीता अधिक होते है। बंदर, बनमानुष इत्यादि के मस्तिष्क हमारे मस्तिष्को से बहुत कुछ मिलते-जुलते है। छोटे बच्चे के मस्तिष्क में भी यह सीता और चक्राग कम होते हैं; किंतु ज्यों-ज्यों हमारी अवस्था बढती है और मस्तिष्क का अधिक विकास होता है, त्यों-त्यों उसके सीता और चक्रांगो में भी वृद्धि होती है। न केवल यही, किंतु यदि हम मनुष्य की असभ्य जातियों के मस्तिष्क को सभ्य जातियों के मस्तिष्कों से तुलना करे तो भी यही परिणाम निकलेगा। ज्यों-ज्यो विचार शक्ति और बुद्धि की अधिकता होती जाती है त्यों-त्यों मस्तिष्क का भार और उस पर चक्रांग इत्यादि अधिक होते जाते है। किंतु यह कोई ऐसा नियम नहीं है कि जिसको हम अटूट कह सके। कार्ल पियर्सन और डॉक्टर रेमंडपर्ल (Karl Pearson and Dr. Raymond Pearl) ने २१०० पुरुषों के और १०३४ स्त्रियों के मस्तिष्कों को तोला था। उनका कथन है कि "मस्तिष्क के भार और उसकी शक्ति, बुद्धिमत्ता इत्यादि मे कोई संबंध नही मालूम होता।' इन लोगों ने कई भिन्न भिन्न जातियों के, स्वीडन-निवासी, बैवेरियन,

हैस्सिपन, बोहीमियन और अँगरेज जाति के मस्तिष्कों को तोला था। इस सबसे वह लोग ऊपर कहे हुए परिणाम पर पहुँचे। इन पाँचों जातियों में सबसे कम भार अँगरेज़ जाति के मस्तिष्क का है। बायरन के मस्तिष्क का भार २२३८ ग्राम था, डाक्टर गम्बाटा का मस्तिष्क १२६४ ग्राम भारी था। डाक्टर हेल्महोल्ज़ का मस्तिष्क २२½ छटाँक था। इस प्रकार बायरन का मस्तिष्क गम्बाटा के मस्तिष्क से लगभग दुगना और हेल्महोल्ज़ के मस्तिष्क से ड्योढ़ा था; किंतु इसका यह अर्थ नहीं माना जा सकता है कि बायरन इन और लोगों की अपेक्षा बुद्धि में भी इतना ही अधिक प्रखर था।

इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि जब हम सारे पशुओं का विचार करते हैं, तब पशु की बुद्धि के विकास के अनुसार उसके मस्तिष्क का आकार और भार अधिक होता चला जाता है। यहाँ तक कि हम मनुष्य तक पहुँचते हैं। किंतु वहाँ पहुँचकर यह नियम भंग हो जाता है। वहाँ बुद्धि का संबंध मस्तिष्क की रचना से होता है। उसकी आंतरिक रचना जितनी गूढ़ होती है और उस पर चक्रांग और सीताओं की अधिकता होती है, उतना ही बुद्धि का विकास भी अधिक होता है।

मस्तिष्क के केंद्र—मस्तिष्क अनेक प्रांतों में विभक्त है। शरीरांग-विद्या और शरीर क्रिया-विज्ञान के विद्वानों ने व्याख्या की सुगमता के लिये उसको कई भागों मे बाँटा है। किंतु शरीर-कार्य-विज्ञान के विद्वान् उसको कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रांतो मे विभक्त करते हैं। यह भली प्रकार से मालूम हो चुका है कि मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों द्वारा भिन्न-भिन्न क्रिया होती है। इस प्रकार हाथ को उठाने का काम एक स्थान से

होता है ; टाँगों की क्रिया को करनेवाला भाग दूसरा है ; हृदय का केंद्र एक स्थान पर है और फुस्फुस का दूसरे स्थान पर। इसी प्रकार समस्त मस्तिष्क भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ है। ये स्थान केंद्र कहे जाते हैं।

केंद्रों का अन्वेषण—सन् १८६१ में फ्रांस के एक विद्वान् ने, जिसका नाम ब्रोका (Broca) था, यह पता लगाया था कि भाषण का केंद्र बाईं ओर स्थित है। जिन रोगियों में किसी रोग से भाषण-शक्ति का नाश हो गया था और उनकी मृत्यु हो गई उनमें, मृतक-परीक्षा पर, बाईं ओर एक विशेष स्थान में, जिसको अब भाषण-केंद्र कहते हैं, जमा हुआ रक्त मिला। जिससे विदित होता था कि रोग में, उस स्थान में, रक्त-प्रवाह हुआ था जिसके कारण वहाँ के सेलों को हानि पहुँची और इस कारण उनकी शक्ति का नाश हो गया। इससे डाक्टर ब्रोका ने यह विचारा कि यही भाषण-केंद्र का स्थान है। तीन साल के पश्चात् एक दूसरे प्रयोगकर्ता ने डाक्टर ब्रोका के परिणामों का समर्थन किया। उसने मालूम किया कि जिन रोगियों की भाषण-शक्ति का नाश होता है उनमें सदा बाईं ओर एक विशेष स्थान पर सेलों की क्षति के लक्षण दिखाई देते हैं।

इसके पश्चात् दूसरे लोगों ने यह विचारा कि संभव है कि भिन्न-भिन्न स्थानों के लिये मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न केंद्र हों। इस बात का अन्वेषण करने के लिये नाना प्रकार के प्रयोग आरंभ हुए। इनके द्वारा मालूम हुआ कि मस्तिष्क में दो प्रकार के मुख्य प्रांत हैं। एक सचालक, जो शरीर में नाना प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करते हैं और दूसरे सांवेदनिक, जो सुख-दुःख, शीत, घाम, ताप, स्वाद इत्यादि का अनुभव करते हैं। इस प्रकार यदि संचालक

स्थान का नाश कर दिया जाय तो जिस अंग से उस स्थान का संबंध था उसकी गति जाती रहेगी। किंतु यदि विद्युत्-धारा द्वारा उस केंद्र को उत्तेजित किया जाय तो अंग की गति बढ़ जायगी। इन दोनो साधनो से मस्तिष्क के प्रांतों का कर्म मालूम किया जा सकता है। यदि मस्तिष्क के किसी भाग पर विद्युत्-धारा लगाएं तो तुरंत ही उससे संबंध रखनेवाला अंग ज़ोर से क्रिया करने लगेगा। यदि मस्तिष्क के उस प्रांत का संबंध अग्रबाहु से है तो बाहु के अग्र भाग की पेशियाँ तुरंत संकोच और विस्तार करने लगेंगी। किंतु यदि मस्तिष्क का यह भाग काट डाला जाय तो बाहु कर्म करना छोड़ देगी। उसका पक्षाघात हो जायगा।

चित्र नं० ७६—बृहत् मस्तिष्क का केंद्र।

श्रावण=श्रवण।

संवेदन=सांवेदनिक ज्ञान।

चेहरा=मुख।

(हमारे शरीर की रचना से)

इस प्रकार प्रयोगो द्वारा यह मालूम किया जा चुका है कि अग्रबाहु, बाहु, वक्षोदर, जंघा, जानु, टखना, पाद इत्यादि भिन्न-भिन्न अंगो के लिये भिन्न-भिन्न सेल विशेष स्थानों मे नियत हैं। हृदय का केंद्र, फुफ्फुस का केंद्र, अंत्रियों का केंद्र इत्यादि अनेक क्रियाओ के केंद्र भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित है। इनकी स्थिति का भी ठीक प्रकार पता लग चुका है। पलक चलानेवाला केंद्र, जिह्वा का केंद्र, स्वर-यंत्र का केंद्र, मूत्र-त्याग का केंद्र इत्यादि अनेक केंद्र हैं, जिनके ऊपर ये क्रियाएँ निर्भर हैं। उनके नाश हो जाने से क्रिया नही होती। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम हो चुका है कि शरीर के दाहने भाग के अंगों को संचालन करनेवाले केंद्र बाईं ओर स्थित है और बाईं ओर को संचालन करनेवाले केंद्र दाहनी ओर स्थित हैं। जो अग केवल एक ही हैं, उनके केंद्र मस्तिष्क में कही एक स्थान पर वर्तमान है। मस्तिष्क का वह भाग, जो देखता है, पीछे की ओर स्थित है। इसी प्रकार श्रवण-स्थान और घ्राण स्थान भी पीछे की ही ओर स्थित है। ये सांवेदनिक स्थान है।

यद्यपि इस प्रकार के अनेक स्थानो का पता लग चुका है, तो भी मस्तिष्क का अधिक भाग ऐसा है जिसके कर्म का कुछ पता नही लगा है। उनकी उत्तेजनाओ से कुछ फल नही निकलता। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के प्रयोगों मे अनेक कठिनाइयाँ पडती है। मान लिया जाय कि यदि किसी स्थान की उत्तेजना मे दया का भाव उत्पन्न होता है तो प्रयोग के समय उस भाव का कोई ऐसा प्रत्यक्ष स्वरूप न दिखाई देगा, जिसका हम अनुभव कर सके। इसी प्रकार जो भी ऐसी बात हैं, जिनका अस्तित्व केवल विचार ही में है, उनका हमको कोई भी प्रमाण

नही मिल सकता, क्योंकि जिस पशु और व्यक्ति पर प्रयोग किया जा रहा है, वह अचेतनावस्था में है। संभव है कि मस्तिष्क के जिन भागो की उत्तेजना से कोई फल नही निकलता, वे सब ऐसे ही उच्च कर्मों के क्षेत्र हों।

मस्तिष्क की सबसे अधिक अद्भुत शक्ति स्मरण-शक्ति है। जो कुछ हम देखते है, सुनते है, उन सब बातों की स्मृति मस्तिष्क मे संगृहीत हो जाती है जो उस वस्तु के फिर देखने और सुनने पर फिर जागृत हो उठती है। इस क्रिया में वस्तुतः बहुत से केंद्र काम करते है।

यद्यपि यह मालूम किया जा चुका है कि मस्तिष्क में अनेक केंद्र है और एक क्रिया के लिये एक ही केंद्र है, किंतु वास्तव में ऐसा कोई कर्म नही होता जिसमें केवल एक ही केंद्र काम करता हो। प्राचीन शारीरिक शास्त्रज्ञ कहते थे कि 'सारा मस्तिष्क काम करता है।' एक प्रकार से यह बिलकुल ठीक है। हमारे सामने खाने के लिये एक भोजन पदार्थ आता है। मान लिया जाय कि भोजन पदार्थ नारगी है। नारगी केवल सुनने ही से हमको कई प्रकार के ज्ञान हो जाते हैं। उसके रंग का ज्ञान, उसके गंध का ज्ञान, उसकी रचना का ज्ञान कि उस पर छिलका है और छिलके के भीतर फाँके है, उसमें रस है और बीज है, हमको छिलका उतार कर खाना है इत्यादि अनेक ज्ञान एक ही साथ होते है। इन सबमें अनेक केंद्र काम करते हैं। यदि हम कोई खेल खेलते हैं तो भी नाना प्रकार के ज्ञानों का उदय होता है; किस प्रकार से खेल खेला जाता है, कितने मनुष्यों के साथ खेला जाता है; किस प्रकार हार-जीत होती है, हमको जीतना चाहिए इत्यादि अनेक भावनाएँ एक साथ उत्पन्न होती हैं। हमारा प्रत्येक कार्य एक

संयुक्त कार्य होता है जो कई भिन्न-भिन्न कर्मों का फल होता है। इस प्रकार यह कहना कि समस्त मस्तिष्क काम करता है अनुचित नहीं है।

बृहत् मस्तिष्क भावनाओं और सचालन का स्थान कहा जा सकता है। सुख-दुःख इत्यादि के भाव बृहत् मस्तिष्क मे उत्पन्न होते हैं और अगो का संचालन भी यहीं से होता है। किन्तु बहुत से कर्मों के छोटे-छोटे केन्द्र सुषुम्ना और मस्तिष्क के अन्य भागों में भी स्थित होते है जिससे यदि बृहत् मस्तिष्क का बडा केन्द्र नष्ट हो जाय तो दूसरे केन्द्र काम चला सकते हैं। यदि एक मछली के बृहत् मस्तिष्क के गोलार्द्धों को निकाल दिया जाय तो भी वह अपने बहुत से साधारण कर्म करती रहती है। इसके शरीर को संचालन करनेवाली उत्तेजनाएँ उसकी आँखो और कानों के द्वारा आती है। इन अगो के केन्द्र इस जन्तु में बृहत् मस्तिष्क में स्थित नहीं होते। इस कारण इस भाग का नाश करने से उनके केन्द्रो का भी नाश नहीं होता। बृहत् मस्तिष्क न रहने पर भी वह अपने भोज्य-पदार्थों को देख सकती है और उसे निगल सकती है। उसकी तैरने की शक्ति का भी कुछ ह्रास नहीं होता। एक मेंढक, जिसका बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया गया है, उछलकर कीडे पकड सकता है और दूसरे साधारण काम कर सकता है। शार्क (Shark) नाम की मछली में यदि उसका बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया जाता है, तो उसका परिणाम इससे भिन्न होता है। शार्क बिलकुल बेकाम हो जाती है, उससे हिला भी नहीं जाता और न वह अपने भोज्य को ही पकडने मे समर्थ होता है। इसका कारण यह है कि इस मछली मे घ्राणेन्द्रियाँ विशेष होती है। उनके द्वारा यह सब अनुभव करती है। यदि मस्तिष्क का वह भाग,

जिसका प्राणशक्ति से संबंध है, मस्तिष्क से काट दिया जाय तो भी वही परिणाम होगा जो सारे मस्तिष्क काटकर निकाल देने से होता है।

यदि एक पक्षी का बृहत् मस्तिष्क निकाल दिया जाय तो वह बिलकुल चुपचाप बिना हिले डुले एक ही स्थान पर, जहाँ उसे बैठा दिया जाय, बैठा रहेगा; मानो सो रहा है। और जब तक उसे छेड़ा न जायगा वह उसी दशा में बैठा रहेगा। यदि उसे वायु में छोड़ दिया जाय तो अपनी दृष्टि की सहायता से वह बराबर उड़ता चला जायगा और अन्त को किसी वृक्ष की शाखा पर जा बैठेगा। किन्तु वह स्वयं अपने-आप कुछ कर्म न करेगा।

स्तनधारी पशुओं में ऐसा प्रयोग करने से बहुत हानिकारक फल निकलते हैं। पहले तो उनमें रक्त-प्रवाह इतना अधिक होता है कि उनकी मृत्यु हो जाती है। तिस पर भी जो जीवित रहते हैं, उनकी दशा मेंढक की ऐसी हो जाती है। वह बहुत से कर्म कर सकते हैं, किन्तु वे सब परावर्तित क्रियाएँ होती हैं अर्थात् सुषुम्ना के द्वारा हो जाता है। स्वयं पशु की अपनी इच्छा से कर्म करने की शक्ति जाती रहती है। स्मरण-शक्ति, भावनाएँ और अन्य उच्च कर्मों की शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम जितने ऊँचे श्रेणी के पशुओं पर यह प्रयोग करते हैं, उतनी ही उनकी अधिक हानि होती है। नीचे की श्रेणी के जन्तुओं को इतनी हानि नहीं होती। उच्च श्रेणी के पशुओं में वे सारे गुण नष्ट हो जाते हैं जो उनको नीचे की श्रेणी के पशुओं से भिन्न करते हैं। मनुष्य में यह प्रयोग असंभव है।

मस्तिष्क के सब भागों का कार्य अभी तक नहीं मालूम हो सका है। मस्तिष्क का सबसे आगे का भाग, जो ललाट अस्थि के

पीछे रहता है, उसके कर्म का पता नहीं लग सका है। किंतु लोगों का यह विचार है कि यह भाग बुद्धिमत्ता का स्थान है। जो मनुष्य बहुत बुद्धिमान् और चतुर होते है, उनमें यह भाग विस्तृत पाया जाता है; किंतु इसका कोई प्रमाण नही है। वे केवल अनुमान की बातें हैं।

संभव है कि मस्तिष्क का कुछ भाग ऐसा हो जिसकी हमको आवश्यकता नहीं है। अथवा उसमें कुछ ऐसे गुणों का निवास हो जो अभी तक मनुष्य में उत्पन्न ही नही हुए है। कई ऐसी घटनाएँ हो चुकी है जहाँ मनुष्यों के मस्तिष्क के भाग कपाल से निकल गए हैं, किंतु उन पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा है। डाक्टर बैडले (Baddeley) ने एक ऐसे लडके का वर्णन किया है जिसके सिर पर चोट लगने से उसका सिर फट गया और फटे हुए सिर में से मस्तिष्क का कुछ भाग बाहर निकल गया। उस लडके को उस समय तो चोट से कष्ट हुआ, किंतु वह फिर बिलकुल ठीक हो गया और उसकी विचार शक्ति भी वैसी ही रही जैसी पूर्व में थी। वेट प्रांत के एक मनुष्य के कपाल से एक आघात के कारण सिर फटकर 'दो चम्मच भर' मस्तिष्क बाहर निकल गया। इसके पश्चात् वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् हो गया। दूसरे डाक्टरो का भी, जो युद्ध के अस्पताल में काम करते थे और जिनको बहुत बार ऐसे योद्धाओ की चिकित्सा करनी पड़ी थी जिनके कपाल से गोली इत्यादि से मस्तिष्क बाहर निकल आया था, ऐसा ही अनुभव है।

लघु मस्तिष्क का कर्म—बृहत् मस्तिष्क के नीचे लघु मस्तिष्क होता है। इसका कर्म भी बहुत समय तक नहीं मालूम था। बृहत् मस्तिष्क की भाँति लघु मस्तिष्क के संबंध में भी

लोगों के अद्भुत विचार थे। एक बहुत पुराना विचार यह था कि यह अंग किसी प्रकार उत्पादन के साथ संबंध रखता है। कुछ लोगों का विचार था कि जीवन के जो आवश्यक कार्य है, वे इस अंग पर निर्भर करते है। तीसरा मत यह था कि हमारी अनुभव की शक्ति लघु मस्तिष्क पर निर्भर करती है। सुख, दुःख, कष्ट, शीत इत्यादि के अनुभव का स्थान यह अंग है।

इस अंग का ठीक-ठीक कार्य मालूम करनेवाला फ्लाउरेन्स (Flourens) नामक वैज्ञानिक था, जिसने सबसे पूर्व यह बताया कि लघु मस्तिष्क का मुख्य कर्म हमारी गति को ठीक रखना है। कोई-कोई रोग ऐसा होता है, जिसमे पाँव लडखडाने लगते है। हाथों से भी वस्तु ठीक प्रकार से नही पकडी जाती है। ऐसा तभी होता है, जब लघु मस्तिष्क अपने कर्म को ठीक प्रकार से नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न पेशियों से उचित समय पर इस प्रकार काम करवाना, जिससे हमारी गति ठीक होती चली जाय और किसी प्रकार हमारा आधार न जाता रहे, यह लघु मस्तिष्क का कार्य है।

जैसा सारे मस्तिष्क में प्रबंध है वैसा ही यहाँ भी है; एक बडा मुख्य केंद्र होता है और उसके नीचे गौण केंद्र होते हैं। मुख्य केंद्र अपनी क्रिया से गौण केंद्रों को कर्मरत कर देता है। एक बार सारी मशीन को वह चला देता है, जिससे नीचे के केंद्र सब काम करने लगते है। इसके पश्चात् मुख्य केंद्र चुप हो बैठता है; किंतु छोटे केंद्र काम किए जाते हैं। मुख्य केंद्र के क्रिया आरंभ करने के पश्चात् यह काम गौण केंद्रों का है कि वे देखे कि किस समय पर और किस क्रम से कौन पेशी काम करती है। जिस प्रकार बड़ा अफसर छोटे अफसरों को एक काम करने के लिये कह देता है।

इसके पश्चात् यह काम छोटे अफसरों का होता है कि वह किस प्रकार से किस-किस व्यक्ति के द्वारा कौन-कौन काम करवाएँ, जिससे बड़े अफसर की आज्ञा के अनुसार काम हो जाय। मस्तिष्क में भी ठीक यही प्रबंध है। बड़े केंद्रों के साथ अनेक छोटे केंद्र होते है जो मुख्य केंद्र को सहायता देते है। इस लघु मस्तिष्क के साथ भी पिंड और सुषुम्ना इत्यादि में ऐसे केंद्र है जो उसके साथ शरीर को गति के समय ठीक रखने में बहुत सहायक होते है।

लघु मस्तिष्क को अपना काम करने में चर्म, नेत्र, पेशी, सधि और विशेषतया कर्ण के आंतरिक भाग से बहुत सहायता मिलती है। इन स्थानों से प्रत्येक समय लघु मस्तिष्क को सूचनाएँ जाती रहती हैं जो उसको शरीर की प्रत्येक गति का ज्ञान करा देती हैं। इस ज्ञान के अनुसार वह उचित मांसपेशियों को कार्य करने की आज्ञा देता है।

कर्ण की बनावट बड़ी ही विचित्र है। उसके आनरिक भाग मे तीन नलिकाएँ होती है जो अर्द्ध चक्र के समान होती है। इनके भीतर एक प्रकार का तरल होता है, जिसमें कुछ कण रहते है। ये तीनो नलिकाएँ एक ओर आपस मे जुड़ी रहती है। इनसे नाडी के कुछ सूत्र मस्तिष्क को जाते है जो वहाँ तक सूचना पहुँचाते हैं। इन तीनो नलिकाओ का इस प्रकार प्रबंध है कि प्रत्येक प्रकार की गति का सीधा रहना, टेढा हो जाना, उलटा हो जाना इत्यादि भिन्न-भिन्न स्थितियो का वह पूर्णतया अनुभव कर सकती है। स्थिति के अनुसार नलिका के भीतर कणो की स्थिति मे भी परिवर्तन हो जाता है। बस, वे कण उस नाडी को, जिसके सूत्र वहाँ फैले हुए है, उत्तेजित कर देते हैं और तुरन्त सूचना नाड़ी-मंडल को पहुँच जाती है। लघु मस्तिष्क के पास

जब यह सूचना पहुँचती है तो वह तुरंत ही उसके अनुसार दूसरे पेशियों को आज्ञा देता है, जिससे वे सब मिलकर शरीर को इस भाँति रखते हैं कि उसको कोई हानि नहीं पहुँचने पाती। इस प्रकार लघु मस्तिष्क को शरीर की स्थिति ठीक रखने और पेशियों की क्रिया को सगठित करने में कर्ण के अंतर्भाग से बहुत सहायता मिलती है। ये नलिकाएँ मुख्यतया इसी कार्य के लिये बनाई गई मालूम होती हैं। इनकी रचना का विशेष वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

नेत्रों द्वारा भी लघु मस्तिष्क को बहुत सहायता मिलती है। एक मानसिक रोग में जिसका नाम Locomotor Ataxy है, रोगी की यह दशा होती है कि यदि वह नेत्र बंद करके चलने का उद्योग करता है तो उसके पाँव लडखडा जाते हैं और वह गिर पडता है। यह रोग की अवस्था पर निर्भर करता है कि वह कितना चल सकता है। नेत्र बंद कर सीधा चलना साधारण स्वस्थ मनुष्य को भी कठिन होता है। कुछ पशुओं के नेत्रों को निकाल देने से वे चलने में बिलकुल ही असमर्थ हो जाते हैं। उनका सिर घूमने लगता है और वह भी चक्कर खाने लगते हैं।

इसी प्रकार स्पर्श और गति का ज्ञान भी लघु मस्तिष्क को सहायता देता है। जब हम पृथ्वी पर चलते हैं तो हमारे पाँव पृथ्वी को स्पर्श करते हैं और उनसे हमारे नाडी-मंडल को इस बात का ज्ञान होता रहता है कि हम उचित स्थान पर चल रहे हैं या नहीं। यदि हमारे पाँव के नीचे एकदम नरम पृथ्वी या कीचड़ आ जाय तो यदि हम उसकी ओर नहीं भी देख रहे हैं तो भी हम तुरंत ही सँभलकर चलने लगेंगे। किंतु प्रयोगों से यह मालूम हुआ है कि इस संबंध में संधियों से जो मस्तिष्क को सूचनाएँ

सेतु, सुषुम्ना शीर्षक सामने से
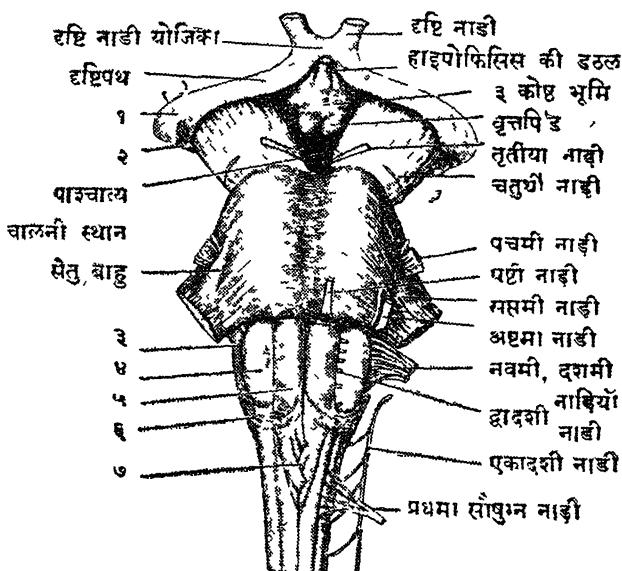
(हमारे शरीर की रचना से)

१,२—दो उभार जो दृष्टिपथ से संबंध रखते हैं, ३, ४—गुठ्ठी पिंड, ५—सूची पिंड; ६—उपरितन सतोरण नाड़ी-सूत्र; ७—नाड़ी-सूत्र एक ओर से दूसरी ओर जा रहे हैं।

जाती रहती हैं, वे चर्म और त्वचा की सूचनाओं से अधिक महत्त्व की है। जब हम चलते हैं तो हमें ज्ञान रहता है कि हमारी पेशियाँ और संधियाँ क्या कार्य कर रही हैं। यह ज्ञान अन्त में ऐसा हो जाता है कि उसकी ओर हम तनिक भी ध्यान नहीं देते और वह क्रिया स्वयं होती रहती है। यदि हम तनिक भी उसको विचारें तो हम प्रत्येक गति में पेशियों और संधियों की क्रिया का अनुभव कर सकते हैं। हम चाहें उसकी ओर ध्यान दें या न दें; किंतु उस गति में क्रिया करनेवाली पेशियों से सदा उत्तेजनाएँ मस्तिष्क को जाती रहती है जो बताती हैं कि हम किस स्थान में किस प्रकार स्थित है।

लघु मस्तिष्क की क्रिया को मालूम करने के लिये भी उन दोनो विधियों का प्रयोग किया जाता है, जिनके द्वारा बृहत् मस्तिष्क का कर्म मालूम किया गया था; अर्थात् एक उत्तेजना और दूसरे उस अंग का विनाश। यदि किसी पक्षी मे यह भाग नष्ट कर दिया जाता है तो उसकी उड़कर किसी स्थान में पहुँचने की शक्ति जाती रहती है। यदि उसको वायु में छोड दिया जाय तो वह सीधा नहीं उड सकता, उसकी गति बहुत ही क्रमहीन होगी और वह शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पडेगा।

यदि यह भाग किसी पशु के शरीर से भिन्न कर दिया जाय तो उसकी पेशियों में निर्बलता आ जायगी, उसकी चाल ठीक न रहेगी, वह लडखडाता हुआ एक शराब पिए हुए व्यक्ति की भाँति चलेगा।

यदि किसी पक्षी में उसके अन्तस्थकर्ण की नलिकाएँ, जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, नष्ट कर दी जायँ तो उसका प्रभाव लघु मस्तिष्क के नाश करने से कम न होगा। एक कबूतर

पर ऐसा प्रयोग किया गया था। उसका सिर सदा वक्ष से लगा रहता था। सिर के ऊपर का भाग सदा नीचे की ओर रहता था। दाहना नेत्र सदा बाईं ओर देखता था और बायाँ नेत्र दाहनी ओर को। उसका सिर सदा इधर से उधर और उधर से इधर को हिला करता था। प्रत्येक समय उसके शरीर में कुछ न कुछ निरर्थक गति हुआ करती थी। वह कबूतर न बैठ सकता था, न एक समान कुछ समय के लिये खड़ा हो सकता था, न वह चुपचाप पड़ा ही रह सकता था। कभी वह वायु में ऊपर उड़ने का उद्योग करता, फिर नीचे गिर पड़ता। वह बड़े ज़ोर से कलाबाज़ी खाता, जिससे फिर पृथ्वी पर आकर गिर जाता। दो-चार दिन के पश्चात् उसकी यह उन्मत्त दशा कुछ कम हुई। दो सप्ताह के पश्चात् वह फिर सीधा खड़ा होना सीख गया। यदि उसकी आँख ढक दी जाती तो फिर वही पुराने लक्षण प्रकट हो जाते थे।

इससे यह स्पष्ट है कि कर्ण की ये नलिकाएँ कैसे महत्त्व की वस्तु हैं। यदि हम आँखें मूँद कर भी चलें या हमको ले जाया जाय तो ये हमको बता देती हैं कि हम किस ओर को ले जाए जा रहे हैं। यदि हमको अचानक दूसरी ओर घुमा दिया जाय तो भी इनकी सहायता से तुरन्त ही मालूम हो जायगा। हम उस गति को भी अनुभव करते हैं, जिससे हम छिपाए जा रहे हैं। यह उन नलिकाओं के भीतर तरल और कणों का प्रभाव है कि हमको इन सब बातों का ज्ञान इतनी जल्दी हो जाता है। ज्ञान करानेवाले मुख्य यंत्र नलियाँ हैं जो इन सूचनाओं को मस्तिष्क तक ले जाती हैं।

सुषुम्ना का कार्य—सुषुम्ना मस्तिष्क से शरीर के प्रांतों को

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट न० ८

सुषुम्ना के भिन्न-भिन्न दिशाओं के चित्र
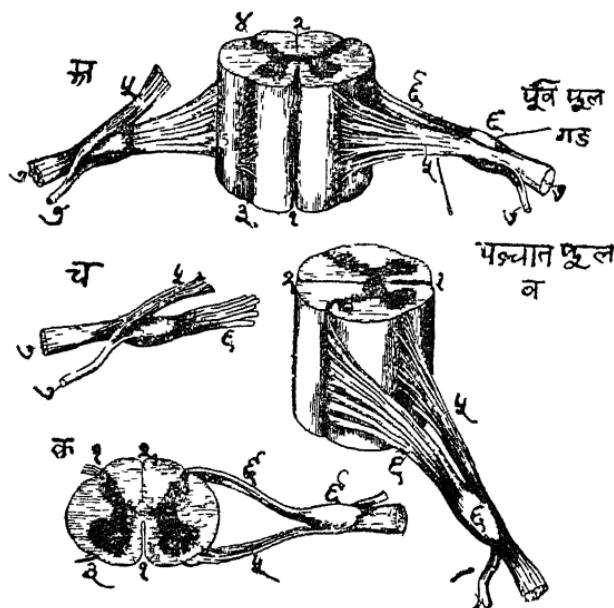
अ—सामने की ओर से दाहिनी ओर का पूर्व मूल काट दिया गया है।

अ—सामने का दृश्य।

क—ऊपरी दृश्य।

च—नाड़ी मूल और गंड।

ब—पार्श्व का दृश्य।

१—पूर्व परिखा।

२—पाश्चात्य परिखा।

३—पूर्व-पार्श्व परिखा

४—पाश्चात्य-पार्श्व-परिखा।

५—नाड़ी का पूर्व मूल।

६— ,, ,, पाश्चात्य मूल।

७—मिश्रित नाड़ी की पूर्व शाखा।

७'— ,, ,, ,, पाश्चात्य ,,।

पृष्ठ-संख्या ३७२

नाड़ी-सूत्रों के जाने का रास्ता है। मस्तिष्क से सहस्रों नाड़ी-सूत्र शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो मे जाते है, जिनके द्वारा उन अगों की क्रिया होती है। इसी प्रकार अंगों से और चर्म से मस्तिष्क को बहुत से सूत्र जाते है। इन सब सूत्रों को जाने के लिये केवल एक ही मार्ग है, जिसके द्वारा वे जा सकते हैं, वह सुषुम्ना है।

अतएव सुषुम्ना को नाडी-सूत्रों का एक बंडल कहना चाहिए। नाना प्रकार के अनेक नाडी-सूत्रों के सौत्रिक तंतु द्वारा आपस में संगठित हो जाने से यह सुषुम्ना बन जाती है। सूत्रों का काम उत्तेजना का ले जाना है। अतएव सुषुम्ना का कर्म संज्ञासंवहन कहना चाहिए।

सुषुम्ना में तीन प्रकार के सूत्र होते है। एक सयोजक सूत्र जो सुषुम्ना के भिन्न-भिन्न भागो को आपस मे सयुक्त करता है। दूसरे संचालक सूत्र जो मस्तिष्क से सुषुम्ना में आते है और अंत में पूर्व-मूल द्वारा नाडी में चले जाते है। तीसरे सावेदनिक सूत्र जो अंगो और चर्म से आकर पाश्चात्य मूल द्वारा सुषुम्ना के भीतर होते हुए मस्तिष्क को जाते है। इन सूत्रों के अतिरिक्त सुषुम्ना में धूसर पदार्थ होता है।

जो सूत्र सांवेदनिक होते है और सूचनाओं को मस्तिष्क तक ले जाते है, वे सुषुम्ना के एक विशेष स्थान पर एक ओर से दूसरी ओर को जाते है। इसी कारण दोनो ओर के मस्तिष्क के गोलार्द्ध आपस में मिले रहते है। सुख, दुःख, शीतोष्ण इत्यादि की सूचना दोनों ओर एक समान पहुँचती रहती है। इन भिन्न-भिन्न सूत्रों की क्रिया .मालूम करना बडा कठिन हो जाता है; क्योंकि भिन्न-भिन्न सूत्रों का भिन्न कार्य है। तो भी प्रयोगों द्वारा वैज्ञानिकों ने इनका

पता लगाया है और अब यह बताया जा सकता है कि कौन सूत्र किस स्थान पर एक ओर से दूसरे ओर को जाते हैं। ये सूत्र भिन्न-भिन्न समूहों मे बाँट दिए गए हैं और उनका ठीक-ठीक मार्ग, जिसके द्वारा वे मस्तिष्क तक पहुँचते हैं, मालूम कर लिया गया है।

सुषुम्ना से नाड़ियों के ३१ जोड़े निकलते है और सारे शरीर में फैलते है। इसी प्रकार मस्तिष्क से भी नाड़ियाँ निकलती है जिनका पहले उल्लेख हो चुका है। किन्तु हमे देखना है कि ये नाडियाँ क्या होती हैं, क्योंकर ये कार्य करती है और मस्तिष्क से इनका किस प्रकार संबंध रहता है?

यदि किसी मृतक मनुष्य की देह अथवा किसी पशु के शरीर का व्यवच्छेदन किया जाय तो प्रत्येक मांसपेशी और अंगों में जाती हुई श्वेत, चमकती हुई और बहुत चिकनी बारीक रज्जु के समान कोई वस्तु दिखाई देगी। यदि इनको एक ओर से पकडकर खीचा जाय तो वे अत्यंत कठिनता से बहुत बल लगाने पर टूटेगी। इनको नाडी कहते है।

शरीर का प्रत्येक भाग इनसे भरा हुआ है। चर्म में इनका एक जाल फैला हुआ है। जिस प्रकार रक्तवाहिनी नलिकाओं के भाग होते है और प्रत्येक भाग से शाखाएँ निकलती है और ये शाखाएँ अंत मे अत्यन्त सूक्ष्म केशिकाओं के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार ये नाडियाँ भी अत्यन्त सूक्ष्म सूत्रों में विभाजित हो जाती हैं। प्रत्येक पेशी के प्रत्येक सूत्र में नाड़ी का एक सूत्र जाता है और मांस-सूत्र की सारी क्रिया इस नाड़ी सूत्र पर निर्भर करती है।

नाड़ियों की रचना—नाडियाँ वास्तव में अनेक सूत्रों के

चित्र नं० ८०—नाडी-सूत्र जैसा दर्शक-यन्त्र द्वारा दीखता है।
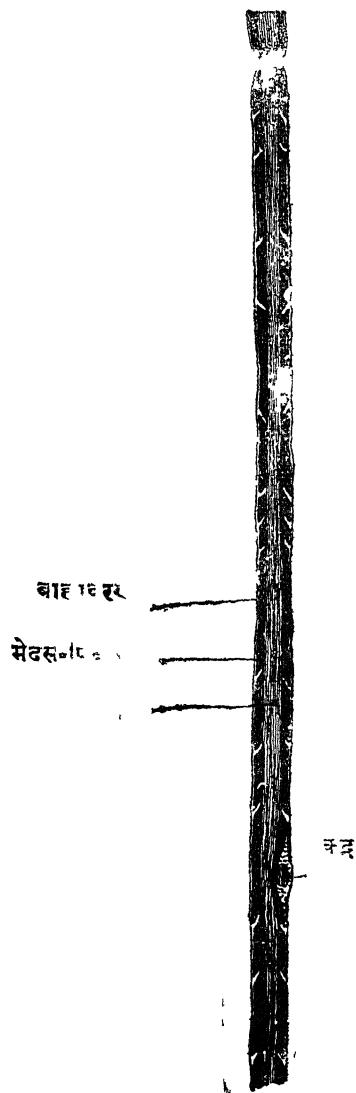
समूह होती हैं। इनके ऊपर एक आवरण रहता है। इसके भीतर एक और आवरण रहता है जो श्वेत रंग का होता है। इसको मेदस-विधान कहते हैं। इसके भीतर नाडी का मुख्य भाग रहता है जो उत्तेजनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है। इसको अक्ष कहते हैं। मेदस-विधान नाडी के एक ओर से दूसरी ओर तक लगातार नहीं रहता। स्थान-स्थान पर वह अनुपस्थित होता है। अक्ष श्वेत और पारदर्शी होता है। दूसरे प्रकार की नाड़ियों में यह मेदस-विधान बिलकुल ही नहीं होता।

चित्र नं० ८१—नाडी-सूत्र को बढ़ाकर दिखाया गया है। मेदस-विधान अक्ष पर सर्वत्र नहीं है।
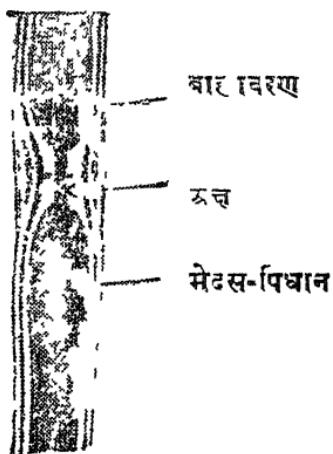
संचालक और सांवेदनिक नाड़ियाँ—ये नाड़ियाँ कई प्रकार की होती है। एक ऐसी होती है जो उत्तेजनाओं को चर्म से

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ९

नाडी का चौडाई की ओर से परिच्छेद
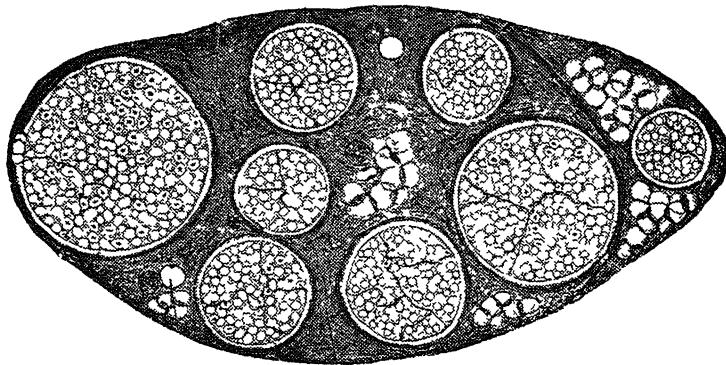
चित्र से स्पष्ट है कि एक नाडी में बहुत से नाडी-सूत्रों के बंडल रहते हैं, जिनके ऊपर एक आवरण रहता है। प्रत्येक सूत्र भी एक पतले आवरण के द्वारा दूसरे सूत्रो से भिन्न रहता है।

पृष्ठ-संख्या ३७९

मस्तिष्क को ले जाती है। इनको सांवेदनिक कहते हैं। इनका नाम कई बार पहले आ चुका है। दूसरी नाडियाँ उत्तेजना को मस्तिष्क से अंगों और चर्म को लाती हैं। ये संचालक कहलाती हैं; क्योंकि पेशियों की गति इन्हीं के द्वारा होती है। अधिकतर नाडियाँ मिश्रित होती हैं जिनमें सांवेदनिक और संचालक दोनों प्रकार के सूत्र रहते है। यह प्रथम ही बतलाया जा चुका है कि जब सुषुम्ना से नाडियाँ निकलती है तो वहाँ उनके दो मूल होते है—पूर्व मूल और पश्चात् मूल। इन दोनो मूलों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सूत्र होते है। पूर्व मूल से केवल संचालक सूत्र आते है और पश्चात् मूल द्वारा सांवेदनिक सूत्र सुषुम्ना के भीतर जाते है। इन सूत्रों पर जहाँ ये सुषुम्ना के भीतर प्रवेश करते है, एक सेल-गृह होता है जहाँ कुछ सेल एकत्र रहते हैं। इस सेल-गृह और नाडी में थोडा सा अन्तर होता है।

इस प्रकार जहाँ संचालक सूत्र ऊपर से नीचे को आते है वहाँ सांवेदनिक सूत्र नीचे से ऊपर की ओर जाते है। जिस प्रकार प्रत्येक टेलीग्राफ का तार किसी डाकखाने को जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक नाडी और उसके सूत्रों का सेलों से संबंध रहता है। यदि यह संबंध विच्छिन्न हो जाता है तो नाडी के सूत्रों की मृत्यु हो जाती है। नाडी का वह भाग, जिसका अब भी किसी प्रकार किसी सेल से संबध है, जीवित रहता है। सेल नाडी का पोषक होता है। जब तक उससे नाड़ी के सूत्रों का पोषण होता रहता है तब तक नाडी जीवित रहती है; किन्तु ज्यों ही वह पोषण बन्द हो जाता है त्यों ही नाडी का ध्वंस आरम्भ हो जाता है।

नाड़ी का ध्वंस—ध्वस या अधःपतन का क्रम भी संचालक और सावेदनिक नाडियो में भिन्न होता है। सांवेदनिक नाड़ी

का ध्वंस नीचे से ऊपर की ओर को होता है, किन्तु संचालक नाडी में यह घटना ऊपर से नीचे की ओर होती है। नाडी के जिस भाग का ध्वंस होता है उसके अक्ष के तनिक-तनिक से टुकडे हो जाते हैं। मेदस-पिधान छोटे-छोटे बिंदुओं के रूप में परिवर्तित हो जाता है और बाह्यावरण के केन्द्रों की संख्या बढ़ जाती है। नाड़ी के कटने के तीन या चार दिन के पश्चात् सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा नाड़ी मे वे परिवर्तन देखे जा सकते है। सांवेदनिक नाड़ी का कटने से ऊपर की ओर को ध्वंस होता है, संचालक नाडी का ध्वंस कटने के स्थान से नीचे की ओर को होता है।

सांवेदनिक नाड़ी के ध्वस में एक भेद होता है। सुषुम्ना के पास स्थित सेल-गृह से यदि नाड़ी नीचे कटी है तो नाडी का ध्वंस केवल सेल-गृह तक होगा, सेल-गृह से ऊपर का भाग ठीक रहेगा। यदि नाडी का सेल-गृह के ऊपर काटा गया है तो नाड़ी उस स्थान से सुषुम्ना तक नष्ट होगी। इस सबका अर्थ यह है कि जिस भाग का सेल के साथ सम्बन्ध रहेगा वह जीवित रहेगा, दूसरा भाग नष्ट हो जायगा।

यह लंबी लंबी नाडी-सेलों के लंबे-लबे हाथ समझने चाहिए। एक छोटा सा सेल, जो नेत्रो द्वारा विना किसी यंत्र की सहायता के देखा भी नही जा सकता, इतने लम्बे-लम्बे सूत्र भेजता है जो कई फीट और कभी-कभी कई गज़ लबे होते है और एक छोटा सा सेल इतनी दूरी पर स्थित इतने लबे सूत्र का पोषण करता है। यदि सूत्र का किसी प्रकार सेल से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय या सेल ही नष्ट हो जाय तो सारी नाड़ी का नाश हो जाता है।

यदि हम किसी नाडी को काटकर उसका कुछ भाग निकाल दे तो इससे उन पेशियों और अंगों को, जिनसे उन नाड़ियो का

सम्बन्ध है, क्रिया का ह्रास हो जाता है। किंतु कुछ दिन के पश्चात् उनकी कर्मशक्ति फिर वापस लौट आती है और वे फिर पहले की भाँति कर्म करने लगते है।

स्वपुनरुत्पत्ति (Autoregeneration)—इसका कारण है सूत्रों की स्वपुनरुत्पत्ति—जो सूत्र नष्ट हो गए थे, वे फिर से उत्पन्न हो जाते हैं और मस्तिष्क का अंग के साथ संबंध स्थापित हो जाता है। इन नए सूत्रों की सृष्टि ऊपर से नीचे की ओर को होती है। कटी हुई नाडी का जो सिरा ऊपर की ओर है अथवा यों कहिए कि मस्तिष्क के सबसे अधिक पास है वहाँ से नए सूत्र बनने आरम्भ होते है और वे बढ़ते हुए नीचे के सिरे की ओर जाते हैं। इस प्रकार नाडी के बीच का भाग, जो काटकर निकाल दिया गया है, पूरा हो जाता है।

इस मत पर बहुत कुछ भेद रहा है और अब भी है। एक ओर के विद्वानो का कहना है कि सूत्र ऊपर से नीचे की ओर को बनते हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति नाडी के उस भाग से आरंभ होती है जो नाडी के सेल के सबसे अधिक समीप है। वहाँ से आरम्भ होकर नाडी-सूत्र नीचे की ओर जाते है और अन्त में नाडी के प्रांतस्थ भाग से मिल जाते है। जो सूत्र प्रथम बनते हैं, वे बहुत बारीक और सूक्ष्म होते है। आगे चलकर ये सूत्र मोटे हो जाते हैं। दूसरे पक्ष का कहना है कि सूत्र नीचे से ऊपर की ओर को उगते हैं। अर्थात् पहले कटी हुई नाड़ी के प्रांतस्थ भाग मे नए सूत्रों की सृष्टि होती है, उसके पश्चात् वे ऊपर की ओर को बढ़कर कटी हुई नाड़ी के दूसरे भाग से मिल जाते हैं।

आजकल अधिक विद्वान् प्रथम मत का समर्थन करते है और प्रयोगो द्वारा जो परिणाम निकलते हैं उनमे भी उसी मत की

पुष्टि होती है। भ्रूणशास्त्रज्ञों ने देखा है कि भ्रूण में नाड़ी के प्रथम सूत्र मस्तिष्क की ओर से अंग की ओर को उगते हैं। इस प्रकार नाड़ी की ऊपर से नीचे की ओर को सृष्टि होती है, किंतु दूसरे मत को माननेवाले कहते हैं कि वास्तव में वह सूत्र तो पूर्व ही से रहते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों भ्रूण के शरीर में वृद्धि होती है त्यों-त्यों ये सूत्र भी अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। इनकी लम्बाई और मोटाई अधिक हो जाती है।

यद्यपि आजकल भी कुछ लोग इस मत को माननेवाले हैं, किंतु अधिकांश विद्वान् यही मानते हैं कि नाड़ी की पुनरुत्पत्ति ऊपर से नीचे की ओर को होती है। इस प्रकार कटी हुई नाड़ी का नष्ट भाग फिर से बन जाता है और नाड़ी का कर्म फिर पूर्ववत् हो जाता है।

नाड़ी के कर्म का अन्वेषण—भिन्न-भिन्न नाड़ियों का भिन्न-भिन्न कार्य होता है। कुछ हमको ज्ञान कराती हैं, जैसे चक्षु, कर्ण, नासिका इत्यादि की नाड़ियाँ। दुःख, शीत, उष्णता का ज्ञान भी इन्हीं के द्वारा होता है। इनको सांवेदनिक कहा गया है। संचालक वे हैं जो मस्तिष्क से अंगों और पेशियों को उत्तेजना ले जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नाड़ियाँ ऐसी होती हैं जिनकी उत्तेजनाओं से अंगों की क्रिया बढ़ जाती है, कुछ की उत्तेजना से क्रिया घट जाती है। कुछ नाड़ियाँ पोषक होती हैं। यदि उनको काट दिया जाय तो अंग क्षीण होने लगेगा और अंत में उसका नाश हो जायगा। कुछ विद्युत्-नाड़ियाँ होती हैं। यह एक विशेष प्रकार की मछलियों में पाई जाती हैं। इनकी क्रिया से शरीर से विद्युत्-धारा का प्रवाह होने लगता है। जिन मछलियों में ये नाड़ियाँ होती हैं, वे इनके द्वारा अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा करती हैं।

नाडियों के कर्म की भिन्नता के कारण वैज्ञानिकों को इनके कर्म का अन्वेषण करना पडता है जिससे वह यह ज्ञान प्राप्त कर सके कि कौन सी नाडी का क्या कर्म है । नाडी का कर्म मालूम करने के वे ही दो उपाय हैं जो मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागो के कर्म को मालूम करने के लिये प्रयोग किए गए है , एक नाडी के किसी भाग को काट देना और दूसरा नाडी को उत्तेजित करना ।

इस प्रकार यदि किसी अंग की संचालक नाडी को काट दिया जाय तो वह अंग अपनी क्रिया करना बन्द कर देगा, उसका संचालन जाता रहेगा। उस अग का केंद्र चाहे जितना काम करे, किंतु अग बिलकुल शिथिल रहेगा । अब यदि इस कटी हुई नाडी के उस भाग को, जिसका पेशी अथवा अंग के साथ सबंध है, विद्युत् द्वारा उत्तेजित किया जायगा तो अग अथवा पेशी तुरन्त कर्म करने लगेगी। यदि नाडी के दूसरे सिरे को, जिसका मस्तिष्क से संबंध है, उत्तेजित किया जायगा तो उसका कुछ भी परिणाम न निकलेगा । किन्तु यदि नाडी सावेदनिक हे तो उत्तेजना से हमको दुःख, शीत, उष्णता इत्यादि का ज्ञान होने लगेगा। यदि सांवेदनिक नाडी के दूसरे सिरे को, जो अग को जा रहा हे, उत्ते-जित किया जायगा तो उससे कुछ भी न होगा ।

इसी प्रकार दूसरी नाडियों को भी समझना चाहिए । यदि संचालक नाडियों का नाश कर दिया जायगा तो उन अगों की, जिनके साथ उन नाडियों का संबंध है, क्रिया जाती रहेगी। प्रत्येक नाडी को काटने से उसके दो भाग हो जाते है—एक प्रांतस्थ और दूसरा मध्यस्थ । मध्यस्थ भाग वह है जिसका मस्तिष्क के साथ संबध रहता है और प्रांतस्थ भाग वह है जो अंग के साथ संयुक्त रहता है । नाड़ी को काट देने के पश्चात् प्रांतस्थ भाग को

उत्तेजना से यदि अंग कर्म करने लगें तो नाडी को संचालक समझना चाहिए, अन्यथा वह सांवेदनिक या किसी अन्य प्रकार की नाड़ी है। इसके विपरीत सांवेदनिक नाड़ी के मध्यस्थ भाग की उत्तेजना से किसी प्रकार के ज्ञान का अनुभव होने लगेगा, किन्तु उसके प्रांतस्थ भाग को उत्तेजित करने से कुछ भी फल न निकलेगा।

ऊपर कई बार कहा जा चुका है कि नाडी के द्वारा अंगों और पेशियों में जब उत्तेजना पहुँचती है तो अंगों की क्रिया होने लगती है। प्रश्न यह उठता है कि यह उत्तेजना किस प्रकार की है? इसका स्वभाव और स्वरूप क्या है? क्या उत्तेजना से कोई रासायनिक वस्तु अंगो में पहुँच जाती है जिसके कारण क्रिया होने लगती है अथवा कोई ऐसा भौतिक परिवर्तन होता है जिसका परिणाम वह कर्म होता है?

उत्तेजना का स्वरूप—उत्तेजना के स्वरूप का अभी तक ठीक पता नहीं चला है। हम केवल इतना ही जानते है कि जब नाड़ी को किसी प्रकार उत्तेजित किया जाता है तो वह उत्तेजना नाडी के अणुओ में कुछ हलचल उत्पन्न कर देती है और यही हलचल नाडी के अन्त तक यात्रा करती हुई पेशी और अंग के अन्तस्थल में पहुँच जाती है। नाड़ी के तन्तुओं में कोई विशेष रासायनिक परिवर्तन नहीं होता। उसके कुछ प्रोटीन अवयवों का नाश अवश्य होता है; किन्तु इतना कम कि वह गणना करने योग्य नही है। कई दिन तक बराबर नाडी को उत्तेजित करने पर भी वैज्ञानिक लोग नाडी के नाश से उत्पन्न हुए पदार्थों की कोई विशेष मात्रा प्राप्त नहीं कर सके। नाडी के ताप में भी कोई वृद्धि नहीं पाई गई। विद्युत्-परिवर्तन अवश्य पाया जाता

होगा और वे उससे अधिक पीडित नही होंगे। वे सब भिन्नताएँ नाडी-मंडल की उत्तेजना-ग्रहण करने की शक्ति की भिन्नता पर निर्भर करती है। जो बहुत अधिक प्रभावित होते है उनका नाड़ी-मंडल बहुत जल्दी उत्तेजना ग्रहण करता है और उसी के अनुसार पेशियों से कार्य करवाता है। जिन पर कुछ प्रभाव नहीं होता, उनका नाड़ी-मंडल शिथिल है। उसमें बाह्य उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति नहीं है और इस कारण वह कर्म नहीं करवा सकता।

जो मनुष्य बहुत अधिक प्रभावित होते है, उनके नाडी-मंडल में कुछ विकार नहीं है, किंतु उनमें कर्म करने की अधिक और उत्तम शक्ति है। बहुधा ऐसे मनुष्यो में विचार-शक्ति भी अधिक होती है।

जो मनुष्य किसी नाड़ी के रोग से पीड़ित होते हैं या अन्य रोगो से दुर्बल हो जाते है, उनका स्वभाव चिड़चिडा हो जाता है और सारे शरीर के नाडी-मंडल में भी दुर्बलता आ जाती है। उनका नाड़ी-मंडल बहुत ही उत्तेजित हो जाता है। यह मस्तिष्क की उत्तम शक्ति का सूचक नही है, किन्तु जो मनुष्य उत्तम स्वास्थ्य रखते हुए भी, कोमल नाडी मंडल से संयुक्त होते है उनमे विचार-शक्ति की अवश्य ही अधिक मात्रा होती है।

उत्तेजना की गति—उत्तेजनाएँ नाडियो द्वारा अत्यंत शीघ्रता से यात्रा करती है। किसी अंग पर तनिक सा तिनका पड़ते ही तुरत मस्तिष्क को उसका ज्ञान हो जाता है। विद्युत् की भाँति इसकी गति होती है। नाड़ियो में उत्तेजना की गति मालूम करने के लिये बहुत से प्रयोग किए गए, किंतु उनका कुछ परिणाम न निकला। अन्त में प्रोफेसर हेमहोल्ज़ ने एक संचालक नाड़ी के द्वारा गति का पता लगाया। उसने एक जंतु के शरीर से एक

पेशी को उसकी नाडी के साथ अलग कर लिया । इस प्रकार नाडी और पेशी का सम्बन्ध अविच्छिन्न रहा। इस नाड़ी के द्वारा पेशी मे विद्युत्-उत्तेजनाएँ पहुँचाई गई। प्रथम उत्तजना देने के लिये नाडी का एक ऐसा स्थान चुना गया जो पेशी के बहुत ही पास था। उस स्थान पर विद्युत् का तार लगाया गया जिससे पेशी में उत्तेजना पहुँचकर उसमें सकोच होने लगा। उत्तेजना पहुँचाने और सकोच आरम्भ होने का समय लिख लिया गया। दूसरी बार नाडी के बिलकुल दूसरे सिरे से, जो पेशी से बहुत दूर था, उत्तेजना दी गई और पेशी के सकोच का समय फिर देखा गया। प्रथम और दूसरे सकोच के समय का अतर वह समय है जो उत्तेजना को नाड़ी के सिरे से, जहाँ पर दूसरी बार उत्तेजना दी गई थी, प्रथम उत्तेजना के स्थान तक आने लगा है। इस प्रकार नाडी की लंबाई जिसके द्वारा उत्तेजना ने यात्रा की थी और वह समय जितने समय में यात्रा की थी दोनों मालूम हो गए। इससे सहज से गति निकाल ली गई।

इस प्रकार बहुत से जंतुओं मे और मनुष्यों मे उत्तेजना की गति मालूम की गई है। प्रयोगों के अनुसार यह गति मेढक मे ९० फुट प्रति सेकंड और मनुष्य मे ३०० से ४०० फुट प्रति सेकंड पाई गई है। किसी-किसी जल-जंतु मे यह गति केवल २½ इंच प्रति सेकंड है। किंतु उष्णता से इस गति मे हेरफेर पड़ जाता है। यदि मेंढक को ९६° फेरनहीट तक गरम किया जाय तो उसमे उत्तेजना की गति बहुत बढ़ जायगी।

यह उत्तेजना सामान्य अवस्थाओं में केवल एक ही ओर को जाती है; संचालक नाड़ियों में अंग की ओर और सांवेदनिक नाड़ियों में मस्तिष्क की ओर। किंतु कुछ प्रयोगों में यह देखा

गया कि उत्तेजना बिलकुल दूसरी ओर को भी जा सकती है। कुछ लोगों का कथन है कि यदि दृष्टिनाड़ी को, जो नेत्रों में आती है, कर्ण में लगा दिया जाय और कर्ण की नाड़ी को नेत्रों में लगा दिया जाय तो हम बिजली की चकाचौंध को सुनने लगेंगे और बादल की गड़गड़ाहट को देखने लगेंगे। यह प्रयोग वास्तव में किया नहीं जा सकता, किंतु कुछ इसके समान ही प्रयोग किए जा सकते हैं। हृदय में एक नाडी जाती है जो उसकी गति को बढ़ाती है या धीमा करती है। नेत्र को एक दूसरी नाडी जाती है जो नेत्र के तारे को चौड़ा करती है इन दोनों नाडियों को बीच से काट दिया गया। हृदय की नाडी के मध्यस्थ प्रांत को नेत्रों की नाडी के प्रान्तस्थ भाग से जोड़ दिया गया। कुछ दिनों के पश्चात् नाडी के मूल पर (जो हृदय की नाडी का मूल था) उत्तेजना दी गई जिससे नेत्र का तारा फैल गया। इससे यह पता लगता है कि नाडी केवल एक तार की भाँति है जिसके द्वारा चाहे जैसा संदेश भेजा जा सकता है। उत्तेजना का स्वरूप एक समान है और उसका परिणाम भी प्रत्येक स्थान में समान ही निकलेगा। भिन्नता केवल उत्तेजना भेजनेवाले और ग्रहण करनेवाले केंद्र पर निर्भर करती है।

मेंढक की जंघा में एक पेशी होती है जिसको ग्रेसिलिस (Gracilis) कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं जिनके बीच में एक झिल्ली रहती है। दोनों भागों को एक ही नाडी की दो शाखाएँ जाती हैं। इस पेशी के केवल एक ही भाग को यदि उत्तेजित किया जाय तो उससे दूसरा भाग भी उत्तेजित हो जाता है। यह प्रयोग भी यही बताता है कि उत्तेजना कभी-कभी दोनों ओर को जा सकती है।

इसी प्रकार और भी प्रयोग किए गए हैं। एक चूहे की पूँछ का अंतिम भाग काटकर उसकी नाक पर इस प्रकार लगा दिया गया कि पूँछ की नोक ऊपर को रहे और जड़ की ओरवाला भाग चर्म में लगा रहे। कुछ दिन के पश्चात् जब पूँछ जम गई तब उसको बीच से उत्तेजित किया गया। किन्तु उत्तेजना पूँछ के सिरे की ओर जाने के स्थान में उसकी जड़ की ओर गई।

इन सब प्रयोगों से भली भाँति विदित होता है कि कभी-कभी उत्तेजना नाड़ी में दोनों ओर को जा सकती है, किंतु साधारणतया उसकी गति एक ही ओर को होती है।

नाड़ी सेल—समस्त नाड़ी-मंडल दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक मध्यस्थ और दूसरा प्रांतस्थ। मध्यस्थ में बृहत् और लघु मस्तिष्क और सुषुम्ना सम्मिलित हैं और प्रांतस्थ में नाड़ियाँ हैं। यह सारा मंडल नाड़ी-सेल और सूत्रों का बना हुआ है। सेलों को तार-घर समझना चाहिए और नाड़ियों को संदेशे ले जानेवाले के तार। अतएव मुख्य वस्तु सेल ही है। मस्तिष्क में सेलों की मात्रा बहुत अधिक है और सूत्र बहुत कम हैं। प्रांतस्थ मंडल मुख्यतया नाड़ियों अथवा सूत्रों का बना हुआ है। ये सूत्र अथवा नाड़ीयाँ उन सेलों से निकलती है जो मस्तिष्क और सुषुम्ना में स्थित है। ये सेल प्रान्तस्थ भाग में भी पाए जाते हैं जहाँ वह नाड़ियों में छोटे-छोटे ग्रन्थि के रूप में स्थित हैं और गण्ड (Ganglia) कहलाते हैं। इस प्रकार ये नाड़ियाँ नाड़ी-सेलों की बहुत लंबी-लंबी बाहुएँ हैं जिनके द्वारा साम्राज्य के अंतिम भाग तक उनकी पहुँच है।

ये नाड़ी-सेल आकार में और स्वरूप में बहुत भिन्न हैं। बृहत् मस्तिष्क के सेलों का आकार लघु मस्तिष्क के सेलों से भिन्न

है और अन्य भाग के सेल इन दोनों से भिन्न हैं। कुछ सेलों के

चित्र नं० ८२—द्वि-ध्रुवीय नाड़ी-सेल।
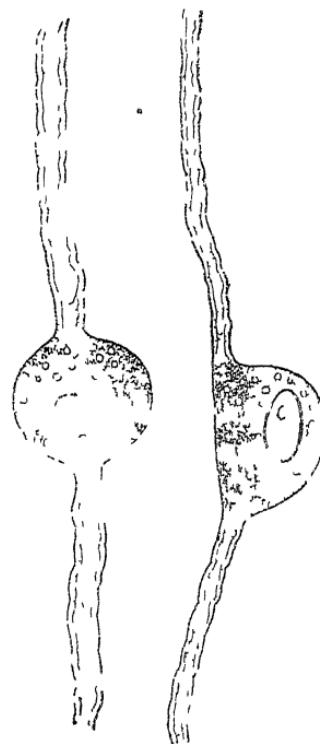
दोनों ओर से सूत्र निकलते हैं। किन्हीं के शरीर से अनेक सूत्र निकलते हैं। सबसे साधारण वे सेल हैं जिनके दोनों ओर से सूत्र निकलते हैं। इनको द्वि-ध्रुवीय (Bipolar) कहते हैं। कभी-कभी इनके रूप में कुछ परिवर्तन होकर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो उनसे केवल एक ही सूत्र निकल रहा है। किन्तु इस एक सूत्र के आगे चलकर दो भाग हो जाते हैं। वास्तव में

सेल से दो सूत्र निकले थे, किन्तु कुछ दूर तक उन दोनों के मिल जाने से केवल एक ही सूत्र रह गया।

सबसे अधिक संख्या बहु-ध्रुवीय (Multipolar) सेलों की है। सेलों के कोणों से शाखाएँ निकलती है। इन शाखाओं का छोटी शाखाओं में भाग होता है जिससे फिर शाखाएँ निकलती हैं। इस प्रकार एक वृक्ष की भाँति एक मूल शाखा से अनेक शाखाएँ निकलती दिखाई देती हैं। प्रत्येक सेल अत्यन्त सूक्ष्म सूत्रों का एक समूह बना देता है। किंतु उसकी

चित्र नं० ८३—बहु-ध्रुवीय नाडी-सेल।

अ—अक्ष
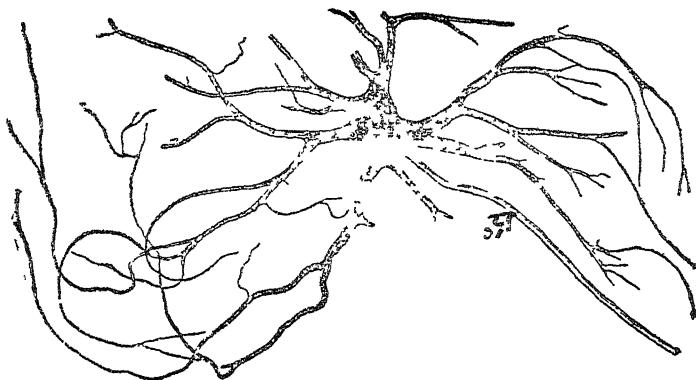
(Max Schultza)

एक शाखा ऐसी होती है जो इस भाँति अत नहीं होती। वह सीधी बढ़ती हुई चली जाती है और अन्त में किसी नाड़ी का अक्ष बनाती है। यह मुख्य शाखा भी थोड़ी बहुत पतली-पतली

शाखाएँ इधर-उधर को देती चली जाती हैं । आगे चलकर इस पर मेदस-विधान चढ़ जाता है और यह एक नाड़ी का सूत्र बन जाता है । ऐसे ही बहुत से सूत्रों के मिलने से एक नाड़ी तैयार हो जाती है । कभी कभी मेह सूत्र भी अनेक शाखाओं में विभक्त होकर दूसरे सेल के चारों ओर फैल जाते हैं । नाड़ियों का भी अन्त इसी प्रकार होता है । अंगों में पेशियों के अन्तस्थलों में अनेक सूत्रों में विभक्त होकर नाड़ी अन्त हो जाती है । सेल की जो शाखा नाड़ी बन जाती है उसे 'अक्षन' कहते है, और दूसरी शाखाओं को 'दंद्र' कहते हैं । अक्षन, दंद्र और नाड़ी-सेल तीनों मिलकर 'नाड-याणु' कहलाते हैं ।

चित्र नं० ८४—मनुष्य के लघु मस्तिष्क का एक पर्किंजे का सेल

(Cell of Purkinje. after Szyomonowiez)
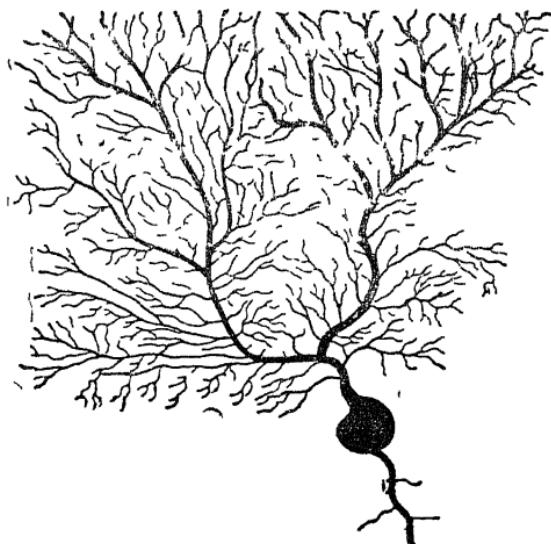
बृहत् मस्तिष्क के सेलों का आकार मीनारों की भाँति होता है। वे बहुकोणी होते हैं। मस्तिष्क के जो संचालक प्रांत हैं उनमें

चित्र नं० ८१—नाड़ी-सेल और नाड़ी-सूत्र।
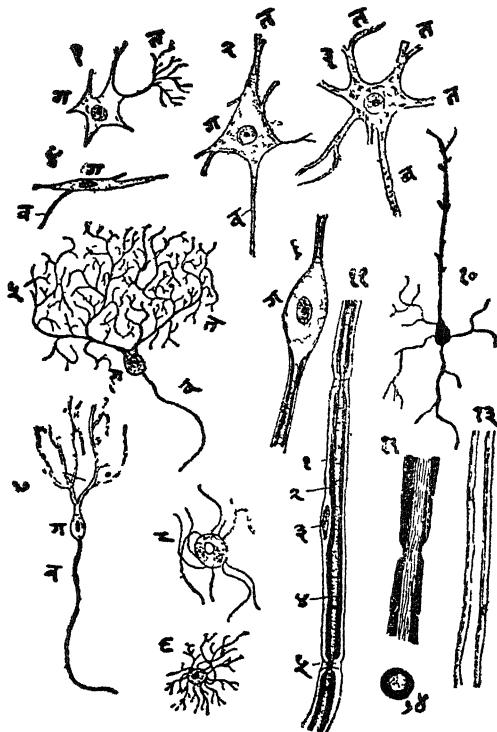
(हमारे शरीर की रचना से)

चित्र नं० ८५ का परिचय

ग=नाडी-सेल का गात्र, न=छोटे-छोटे सूत्र नाडी-सेल के पास ही अंत हो जाते हैं, व=नाडी-सूत्र जो दूर तक जाता है; १=सूत्रोदय नाड़ी-सेल; २=सू-प्रकार नाडी-सेल; ३=बहु-ध्रुवीय नाडी-सेल; ४=तर्काकार नाडी-सेल, ५=पुरानीन्तकार नाडी-सेल, ६=द्वि-ध्रुवीय नाडी-सेल, ७=सेल, ८ और ९=नाडी-सेलों को सहारा देनेवाली सेलें, १०=नाडी-सेल, ११=नाडी-सूत्र (१=बाह्यकोष; २=मेदस-पिधान; ३=बाह्यकोष की सेल का चैतन्य-केन्द्र या मींगी, ४=सूत्र का अक्ष; ५=मिचा हुआ भाग); १२=सूत्र का अक्ष अनेक सूक्ष्म सूत्रों से बना है; १३=मेदस - पिधान - विहीन नाडी-सूत्र; १४=नाडी-सूत्र चौड़ाई के साथ कटा हुआ है।

चित्र नं० ८६—
लघु मस्तिष्क के वल्क की सूक्ष्म रचना (After Santey)
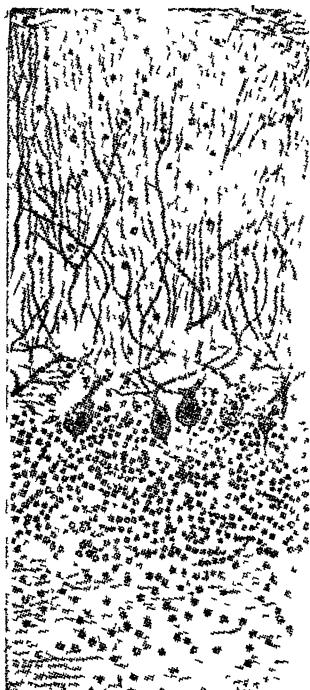
(हमारे शरीर की रचना से)

चित्र नं० ८७—
बृहत् मस्तिष्क के चक्रांग की सूक्ष्म रचना (After Meyners)
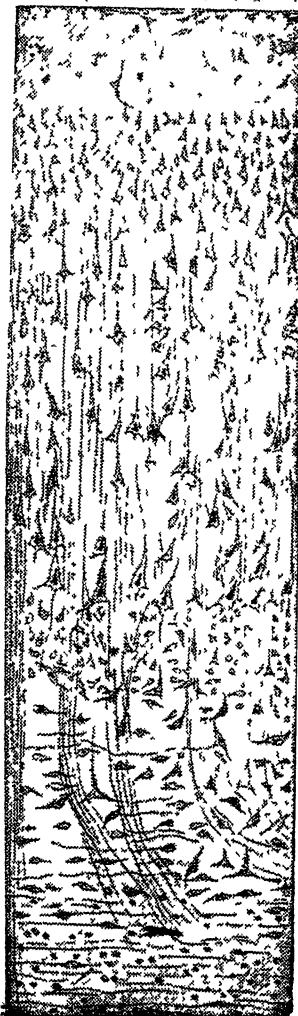
(हमारे शरीर की रचना से)

इन सेलों की विशेषकर अधिकता पाई जाती है। इन सेलों का शिखर ऊपर की ओर रहता है और इनके नीचे से अक्षन निकलता है। लघु मस्तिष्क के सेलों का आकार एक सेब के समान होता है जिसके ऊपर से अनेक दन्द्र निकलते दिखाई देते हैं और नीचे से अक्षन निकलता है।

सारा नाड़ी-मंडल इन्हीं नाड्याणुओं का बना हुआ है जो आपस में एक संयोजक वस्तु, जिसको नाड्याश्रय (Neuroglia) कहते हैं, के द्वारा मिले हुए हैं। इस प्रकार असंख्य नाड़ी-सेलों और उनकी शाखाओं द्वारा मनुष्य का नाड़ी-मंडल बना हुआ है। बहुत स्थानों में ये सेल अधिक संख्या में एकत्र हो गए हैं और उनका सम्बन्ध शरीर के किसी विशेष कर्म से है। गत पृष्ठों में हार्दिक-केन्द्र, श्वास-केन्द्र अथवा अन्य केन्द्रों का जो उल्लेख हुआ है वे इन्हीं सेलों के एक स्थान में एकत्र हो जाने से बने हैं। प्रत्येक सेल-समूह अपने सूत्र-समूह द्वारा, जिसको नाड़ी कहा जाता है, कर्म को पूरा करता है।

अनेक सेल जो पास-पास स्थित होते हैं उनके दन्द्र आपस में उसी भाँति मिले रहते है जिस भाँति दो वृक्षों की टहनियाँ और पत्तियाँ आपस में मिली रहती हैं। अर्थात् एक सेल के दन्द्र दूसरे सेल के दन्द्रों से संयुक्त नहीं हो जाते ; वे केवल एक दूसरे के सन्निकट रहते हैं जिससे उत्तेजना या सूचना एक सेल के दन्द्रों से दूसरे सेल के दन्द्रों में जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक नाड्याणु स्वतन्त्र है। प्रत्येक सेल का अक्ष दूसरे सेल के दन्द्रों के पास पहुँचकर अनेक सूक्ष्म शाखाओं में विभाजित हो जाता है, जो दन्द्रो के साथ मिल जाती है। ऐसे स्थानों को, जहाँ एक सेल के अक्षन और दूसरे सेलों के दन्द्र मिलते हैं, संगम कहते हैं।

चित्र नं० ८८—संचालक सूत्रों का चित्र जिसके द्वारा मस्तिष्क-से उत्तेजनाएँ अंगों को जाती है।

म. स=मस्तिष्क सेल

म. स.सू=मस्तिष्क सेल-सूत्र

अ. श्र. से=सुषुम्ना के अग्रिम शृंग सेल

प. श्र. से=पश्चिम शृंग सेल
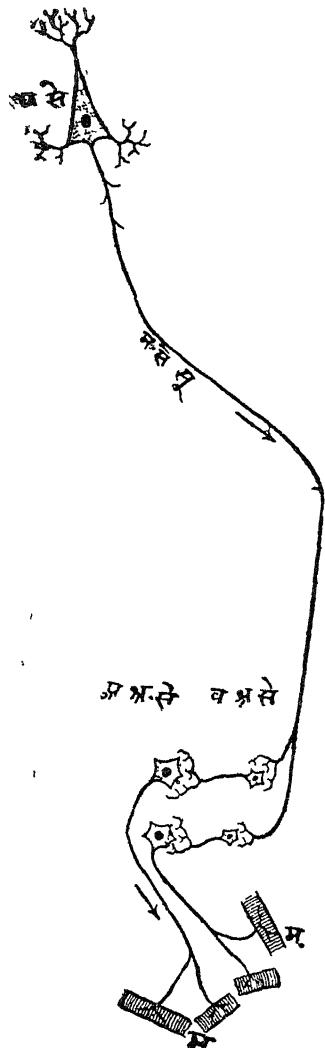
म=मांसपेशी

सांवेदनिक और संचालक दो प्रकार की नाडियाँ पहले ही बताई जा चुकी हैं। हमको देखना है कि इनके द्वारा किस प्रकार मस्तिष्क से निर्दिष्ट स्थान तक उत्तेजना पहुँचती है। सांवेदनिक मार्ग की अपेक्षा संचालक मार्ग अधिक सुगम होता है। अतएव प्रथम उसी को बताने का उद्योग किया गया है।

प्रत्येक कार्य करने की इच्छा प्रथम मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। वहाँ से फिर सेलों के सूत्रों द्वारा सुषुम्ना में पहुँचती है। मस्तिष्क के सेल-सूत्र सुषुम्ना में पहुँचकर अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं और वहाँ सुषुम्ना के सेलों के दन्द्रों से मिल जाते हैं। वहाँ से दूसरे सेल-सूत्र आरम्भ होते हैं जो नाडियों में होते हुए मांस-पेशियों में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार उत्तेजना प्रथम सूत्रों द्वारा सुषुम्ना तक पहुँचती है और वहाँ से दूसरे सूत्रों द्वारा पेशी में पहुँचकर उनसे काम करवाती है। साथ के चित्र में यही दिखाया गया है। सबसे ऊपर जो सेल दिखाई देता है वह मस्तिष्क का सेल म० से० है जहाँ से उत्तेजना आरम्भ होती है। इस सेल के नीचे से अक्षन निकलता है और दूसरे कोनों से दन्द्र निकलते हैं। अक्षन मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों में होता हुआ सुषुम्ना के पश्चात् श्रृंग सेलों के दन्द्रों के पास पहुँचकर कई भागों में विभक्त हो जाता है। अतएव अक्षन द्वारा यहाँ तक उत्तेजना पहुँच जाती है, यहाँ पश्चात् श्रृंग सेलों से सुषुम्ना के पूर्व श्रृंग सेलों तक उत्तेजना ले जानेवाला एक दूसरा सूत्र है। पूर्व श्रृंग सेलों से एक तीसरा ही सूत्र मांस-पेशी तक उत्तेजना ले जाता है।

इस प्रकार उत्तेजना को अपने अंतिम निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचानेवाला केवल एक सूत्र नहीं है। जिस प्रकार पहले समय में दूर के स्थानों को डाक ले जाने का प्रबन्ध होता था, उसी भाँति

उत्तेजना के अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने का मार्ग है। जब डाक को बहुत दूर भेजना होता था या किसी यात्री को जाना होता था तो नियत स्थानो पर गाडी के घोडे बदलते रहते थे। प्रथम पड़ाव पर पहुँचकर पहले घोड़े छोड़ दिए जाते थे और दूसरे घोडों को गाड़ी मे जोता जाता था। इस भाँति कई बार घो बदलने के पश्चात् डाक अतिम स्थान पर पहुँचती थी। उत्तेजना के मार्ग को भी यही दशा है। एक सूत्र एक स्थान तक उसे ले जाता है। वहाँ से वह दूसरे सूत्र के द्वारा दूसरे पडाव तक ले जाई जाती है। वहाँ से तीसरा सूत्र आरम्भ होता है जो अन्तिम स्थान पर जाकर अनेक शाखाओ में विभक्त हो जाता है। इस प्रबन्ध को System of Relays कहते हैं।

सांवेदनिक सूत्रों का मार्ग इन सचालक सूत्रो से भी अधिक टेढ़ा और घुमावदार होता है, क्योंकि उनमें सुषुम्ना के बाहर भी एक या इससे अधिक सेल-स्टेशन होते है। जो नाडियाँ अंगो को जाती हैं, उनका भी यही हाल है। उनके मार्ग में इनसे भी अधिक चुंगीघर पडते हैं, जहाँ उनको ठहरना पडता है।

हम सांवेदनिक और संचालक नाडियो और क्रियाओ का भिन्न-भिन्न उल्लेख कर रहे है, मानो दोनों का आपस मे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है। किसी-किसी अंग का संचालन बहुत कुछ हमारी सांवेदनिक नाड़ियों पर निर्भर करता है। कम-से-कम जो प्रतिदिन के साधारण काम होते हैं वे तो इसी प्रकार होते हैं। हमारे ऊपर यदि कोई आक्रमण करता है तो तुरन्त ही हम उसको निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। हम पर यदि कोई ढेला फेंकता है तो हम अपनी रक्षा करते हैं। हमारे ये कर्म सांवेदनिक नाडियो की क्रिया ही का फल है।

चित्र नं० ८६—गति-पथ।

(हमारे शरीर की रचना से)

चित्र नं० ८४ का परिचय
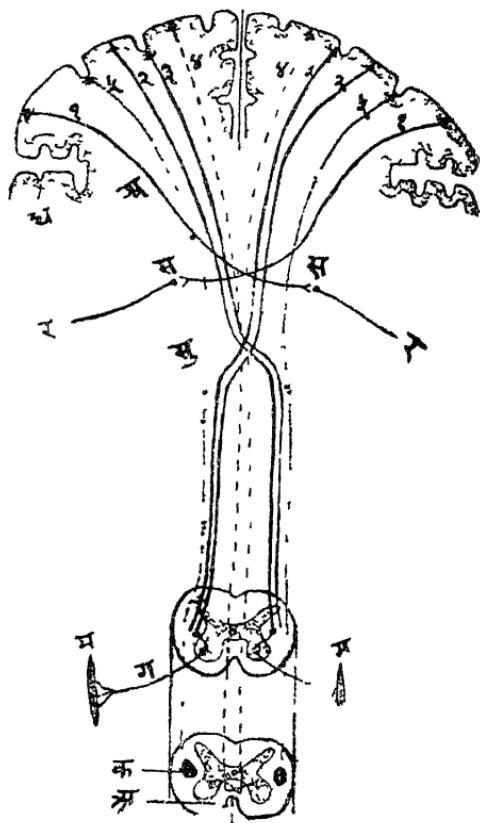
अ=बृहत् मस्तिष्क का दूसरा भाग ; श्व=श्वेत भाग ;

१=ये सूत्र गति-क्षेत्र से मस्तिष्क नाड़ियों के उत्पत्ति-स्थानों तक (स) जाते हैं, जो मध्य मस्तिष्क, सेतु और सुषुम्ना शीर्षक में रहते हैं । यहाँ के सेलों के नए सूत्रों से चालक नाड़ियाँ बनती हैं (र)

२ और ३=ये सूत्र सुषुम्ना शीर्षक में मध्य रेखा को पार करके एक ओर से दूसरी ओर हो जाते हैं । सुषुम्ना में जगह-जगह इनका अंत हो जाता है ; पूर्व शृंगों से नए सूत्र निकलते हैं ; इन्हीं से चालक मूलें बनती हैं ।

(ग) जो मांस-पेशियों (म) को जाती है ।

४=ये सूत्र सुषुम्ना शीर्षक में मध्य रेखा को पार नहीं करते ।

५=ये सूत्र कभी भी मध्य रेखा को पार नहीं करते ।

ये नाडियाँ हमारे मस्तिष्क को सूचना देती हैं कि अमुक वस्तु हमारे शरीर को हानि पहुँचाने के लिये आ रही है। तुरंत ही हमारा मस्तिष्क संचालक नाडी के द्वारा शरीर की रक्षा करने के लिये अगो को आज्ञा दे देता है। किंतु मस्तिष्क को संचालित करनेवाली सांवेदनिक नाडियाँ थीं।

यदि हम सांवेदनिक नाडी के मार्ग का निरीक्षण करे तो हमें मालूम होगा कि सुषुम्ना में पहुँचकर नाडी से छोटी छोटी शाखाएँ निकलती है जो सुषुम्ना के सेलों को चारों ओर से घेर लेती है और इस प्रकार वे संचालक नाडियो से सुषुम्ना द्वारा संबंध स्थापित कर लेती हैं। इस प्रकार संचालक नाडियो का दोहरा संबंध हो जाता है। एक मस्तिष्क से; दूसरा सांवेदनिक नाडियों से। कभी-कभी ऐसा होता है कि उत्तेजना मस्तिष्क में न पहुँचकर सुषुम्ना द्वारा ही संचालक नाडियों से पहुँच जाती है और कार्य होने लगता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मार्ग में जाने के समय सामने से कोई भुनगा आकर नेत्र के भीतर घुसने लगता है, तो उस समय यद्यपि हम उस भुनगे को आता हुआ नहीं देखते तो भी पलक तुरंत ही बंद हो जाते है। यह एक ऐसी क्रिया है जो मस्तिष्क के द्वारा न होकर सुषुम्ना के द्वारा होती है। ऐसी क्रियाओं को प्रत्यावर्त्तक व परावर्तित क्रिया कहते है।

हमारे अनेक कर्म परावर्तित क्रियाएँ होती है जो विशेष महत्त्व की होती हैं। साथ के चित्र की ओर देखने से परावर्तित क्रिया का मार्ग स्पष्ट हो जायगा। चर्म पर कोई काँटा चुभता है या कोई जीव काट लेता है, तो वहाँ के सेलों में उत्तेजना उत्पन्न होती है। यह उत्तेजना वहाँ से ऊपर को जानेवाली नाडी द्वारा ऊपर गंड तक पहुँचती है, जो सुषुम्ना के पास नाडी

प्लेट नं० १० की व्याख्या

१=अधोशाखा क्षेत्र
२=धड़ क्षेत्र
३=ऊर्ध्व शाखा क्षेत्र
४=मुख (चेहरा) क्षेत्र
५=तालाकार केंद्र (तालूपमपिंड)
६=द्वीप
७=श्रावण क्षेत्र
८=श्रावण किरणें
९=पार्श्व कोष्ठ में नीचे की ओर स्थित एक श्वेत हररोध
१०=दृष्टि किरणें
११=मस्तिष्क के बहिर्कोष के बाहर की ओर एक कोष अवरोधक (Claustrum)
१२=दृष्टि क्षेत्र
१३=थैलेमस
१४=सांवेदनिक तार
१५=अधोशाखा तार
१६=धड़ के तार
१७=ऊर्ध्व शाखा के तार
१८=चेहरे का तार
१९=अंतरीय कोष का अगला भाग
२०=वेत्वाकार पिंड
२१=पार्श्विक कोष्ठ का अग्र शृंग

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट न० १०

गति, श्रवण और दृष्टि-क्षेत्र

१ निम्न शाखा-क्षेत्र

२ धड़-क्षेत्र

३ ऊर्ध्व शाखा-क्षेत्र

४ चेहरा-क्षेत्र
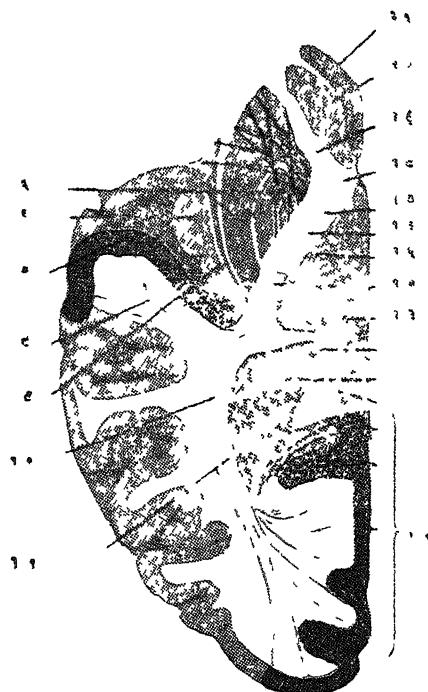
(From Cunningham's Practical Anatomy)

(हमारे शरीर की रचना से) पृष्ठ-संख्या ४००

के ऊपर स्थित है। इस गंड से आगे चलकर वह सुषुम्ना में प्रवेश करके मस्तिष्क की ओर चलती है। यहाँ पर नाडी से पतली सी शाखा सुषुम्ना के पश्चात् सेलों की ओर जाती है और उनसे मिलकर संगम बनाती है। पश्चात् [illegible] सेलों तक फिर कुछ सूत्र जाते हैं। वहाँ एक दूसरा संगम बनता है जिससे एक सूत्र अंग के मांस-पेशियों को जाता है।

अतएव उत्तेजना को मांस-पेशी के पास पहुँचने के लिये दो मार्ग हैं। [illegible] द्वारा अथवा सुषुम्ना [illegible] होकर मस्तिष्क में जाकर [illegible]

चित्र नं० ९०—[illegible] क्रिया का [illegible]।

च. चर्म, ग. गंड, प० श्रृं० से०. पाश्चात्य श्रृंगसेल;
अ० श्रृं० से०. अग्र श्रृंग सेल; म. मांसपेशी।
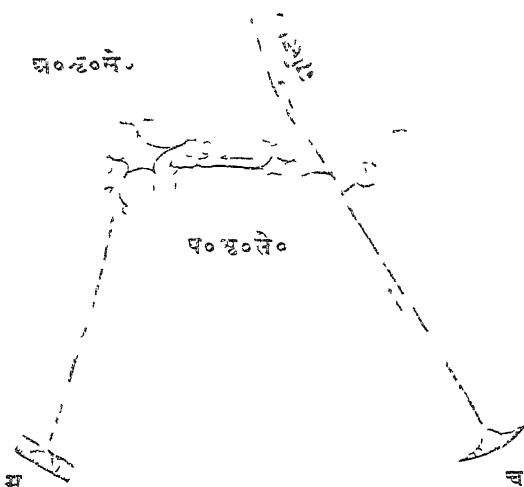
जाती है। दूसरे मार्ग द्वारा उसको मस्तिष्क तक जाना नही होता, किंतु सीधे सुषुम्ना द्वारा ही वह संचालक नाडी मे पहुँचकर पेशी को सकुचित कर सकती है। दूसरा मार्ग पहले की अपेक्षा बहुत छोटा और सीधा है। अतएव जब कभी समय की कमी होती है तो उत्तेजना सदा दूसरे मार्ग का अवलबन करती है।

जब कभी क्रियाएँ हमारे विशेष विचार के विना होती है तो वे सब परावर्त्तित क्रियाएँ होती है। ये क्रियाएँ सदा सांवेदनिक उत्तेजनाओं का परिणाम होती है, हमारी विचार-क्रिया से उनका संबंध नही रहता। यदि किसी मनुष्य के पॉव के तलवे को खुजलाया जाय तो उससे पॉव की उँगलियो की पेशियाँ क्रिया करने लगती है। इसी प्रकार स्वादिष्ट भोजन-पदार्थों को सूँघने से मुँह में जल आने लगता है, क्योंकि स्वाद-केंद्र उत्तेजित हो जाता है। ये सब परावर्तित क्रियाएँ है। इनका विचार क्रिया से कुछ भी सबध नही है

परावर्त्तित क्रिया वास्तव मे अनैच्छिक क्रिया होती है। हम उसको करने की इच्छा नही करते तो भी वह हो जाती है। बहुधा वह हमारी जागृत अवस्था मे होती है, किंतु अचेतन अवस्था या निद्रा मे भी वह वैसे ही हो सकती है। तो भी हमारी सैकडो ऐच्छिक क्रियाओ मे भी परावर्तन क्रियाएँ होती रहती है जिनका हमको ज्ञान भी नही होता। हम कोई विशेष कर्म करना चाहते है, किसी वस्तु को उठाना चाहते है या कही जाना चाहते है, तो तुरंत ही उस क्रिया से सबध रखनेवाली पेशियॉ क्रिया करने लगती है जिनका हमको तनिक भी ज्ञान नही होता। और न हम यह विचारते ही हैं कि अमुक पेशी कर्म करे। हमारी इच्छा क्रियाओं के केंद्रो को उत्तेजित कर देती है और ये परावर्त्तित क्रियाएँ होने

लगती हैं। जिस समय हम चलते हैं, उस समय शरीर की अनेक पेशियाँ काम करती है। चलने का कर्म एक अत्यंत गूढ़ कर्म है। किन्तु उन पेशियों के कर्म का हमको ध्यान भी नहीं होता। हमारे एक बार चलने की क्रिया को आरम्भ करने से मांसपेशियों को बराबर उत्तेजना पहुचती रहती हे और वे सकोच और विस्तार करती रहती है। यदि किसी मेढक के शरीर में से उसका मस्तिष्क निकाल दिया जाय और उसकी एक टाँग पर कुछ अम्ल लगा दिया जाय तो वह अपनी दूसरी टाँग से उस अम्ल को बराबर हटाने का उद्योग करता रहेगा। यह केवल परावर्तित क्रिया है।

हमारे प्रतिदिन के जीवन मे हमारी क्रियाओ में से अधिकाश क्रियाएँ ऐसी होती हे, जिनका एक प्रकार से हमारे विचार से संबंध नहीं होता।

सावेदनिक और संचालक उत्तजनाओ का आपस में अद्भुत सम्बन्ध हे। असख्य मस्तिष्क और सुषुम्ना के सेल और सूत्रो का यही काम प्रतीत होता है कि वे इन दोनों भाँति की उत्तेजनाओ को इस प्रकार संयुक्त कर दे कि उससे शरीर के लिये लाभदायक कर्म हो। न केवल यही, किंतु उनकी स्थिति हमारे कर्मों को विचार से स्वतन्त्र करने का उद्योग करती है और बहुत कुछ अपने उद्देश्य में सफल भी होती हे। हमारी क्रियाएँ विचार से कहाँ तक स्वतन्त्र है यह पहले ही बताया जा चुका है। विचार केवल एक कर्म की इच्छा करता हे, वह इन छोटी-छोटी क्रियाओ को, जिनके मिलने से वह कर्म होता हे, नही विचारता, इच्छा के पश्चात् विचार का काम समाप्त हो जाता है, शेष सब परावर्त्तन (Reflex) पूर्ण करता हे। एक उत्तेजना दूसरी उत्तजना को उत्पन्न करती है, सेलों और नाड़ियो को अद्भुत प्रकार से संयुक्त

करके परावर्त्तन कार्य करवा देता है। हम एक प्रकार से इन परा-वर्त्तनों और उत्तेजनाओं के हाथ की कठपुतली है। संचालक [illegible] की अपेक्षा संवेदनिक सूत्रों की संख्या बहुत अधिक है और संवेदनाएँ ही सारे परावर्त्तनों का कारण है। यही संवेदनाएँ हम से [illegible] करती है और काम करवाती है। हृदय, फुप्फुस, आँतें, वृक्क, यकृत् इत्यादि इन्हीं के द्वारा अपना काम करते हैं।

[illegible] की [illegible] बढ़ जाती है तो तुरन्त ही [illegible] प्रन्थियों [illegible] है। यदि [illegible] में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की [illegible] बढ़ जाती है तो शरीर की फुप्फुस [illegible] दे देते हैं जिससे वे सारे विष को शरीर से बाहर निकाल देते हैं। रक्त में जल, शर्करा या दूसरे लवणों के बढ़ने से वृक्क और यकृत् तेज़ी से काम करने लगते हैं और इन विषों को रक्त से अलग कर देते हैं। ये सब संवेदनाओं से उत्पन्न हुए परावर्त्तन कर्म हैं। हम कभी जानते भी नहीं कि हमारे शरीर में क्या हो रहा है, किंतु ये सब ऐसे महत्त्व के कार्य वहाँ होते रहते हैं।

यह सूक्ष्म नाड़ी सेल-समूह विचित्र-शक्ति के भंडार हैं। आयु-पर्यंत वर्षों तक प्रत्येक सेकिंड में ३० व ४० उत्तेजनाएँ उत्पन्न किया करते हैं और करवाई करते रहते हैं। कुछ सेल के समूह हृदय की देखभाल करते हैं कुछ फुफ्फुस की व्यवस्था करते हैं, कुछ हमारे पाचन की ओर ध्यान रखते हैं; कुछ हमारे शरीर की गति को पूर्ण करते हैं; कुछ समूह ऐसे हैं जो नेत्र, कर्ण इत्यादि द्वारा हमें ज्ञान कराते हैं। मूर्ख और पंडित बनाना सब इन्हीं सूक्ष्म सेलों का काम है। वायुयान बनवाना, बिना तार की तार

बर्की निकलवाना, वृत्तों में नाडी-मडल का ज्ञान कराना, समुद्र को थल से भी अधिक सुगम बना देना, ये सब ससार के बडे-बड़े काम इन्हीं कुछ सेल समूहों के कर्म हैं। जिस बुद्धिमत्ता से ये सेल काम करते हैं, उसके सामने सुलेमान की बुद्धि व बुद्ध के सामने एक बिंदु के बराबर भी नहीं है। देगचा में पानी के उबलने से जो भाप उठती है उससे डेगचा के ढक्कन को ऊपर और गिरते हुए बहुत लोग देखते हैं, किंतु उनसे कुछ परिणाम निकालनेवाले थोडे ही होते हैं। यह इन सेल-समूहों का ही काम होता है कि कुछ लोग वृक्ष से गिरते हुए सेब को देखकर गणित के बडे-से-बड़े सिद्धात बना डालते है।

निद्रा—निद्रा का भी मस्तिष्क ही से सबध है। जब मस्तिष्क अपना सब काम करना बन्द करके विश्राम करता है तो वह समय निद्रा का होता है। श्रम और कार्य के पश्चात् ससार में सबको विश्राम की आवश्यकता है। विना पूर्ण विश्राम किए कोई कुछ काम नहीं कर सकता। श्रम से उत्पन्न हुई थकावट मिटाने के लिये और शरीर में जो हानि हो चुकी है उसको पूर्ति करने के लिये विश्राम आवश्यक है। इसी प्रकार मस्तिष्क भी बराबर काम करते-करते थक जाता है। उसमे भी कार्य करने से कुछ क्षति होती है। अतएव इस श्रम को मिटाने के लिए और अपने तन्तुओं की क्षति-पूर्ति के लिये उसे भी विश्राम करना पडता है। इससे यह न समझना चाहिए कि निद्रा के समय में मस्तिष्क बिलकुल शिथिल हो जाता है और अपना कार्य छोड देता है। उसके बहुत से भाग सदा अपना कर्म करते रहते हैं। हृदय, फुफ्फुस इत्यादि के केंद्र सदा उत्तेजनाएँ भेजते रहते है। परावर्त्तन निद्रा के समय में भी हुआ ही करता है। केवल मस्तिष्क के वे भाग, जो बाह्य

उत्तेजनाओं को ग्रहण करने और सचालन वा काम करते है, अपना काम छोड देते है। बाहर से मस्तिष्क मे उत्तेजनाएँ पहुँचनी बंद हो जाती है, और यदि उत्तेजना पहुँचाई जाती है तो निद्रा भग हो जाती हे।

निद्रा भी क्या ही एक अद्भुत घटना है। वह ससार के धनी से धनी और निर्धन से निर्धन को कुछ समय के लिये समान बना देती है। धनी अपने धन को भूलता है और निर्धन अपनी निर्धनता के दुःख से मुक्त हो जाता है। सब प्राणियो के कष्ट कुछ समय के लिये दूर हो जाते है। इसी कारण Sancho Panza ने कहा था कि "Blessings on him who invented sleep!—the mantle that covers all human thoughts, the food that appeases hunger, the drink that quenches thirst, the fire that warms, the cold that moderates heat, and lastly, the general coin that purchases all things, the balance and weight that make the shepherd equal to the king and the simple to the wise" सच है, मृत्यु के पश्चात् राव और रक में कुछ भी भेद नही रहता, दोनो को एक ही मार्ग का अवलंबन करना होता हे; केवल भेद उनके कर्मो द्वारा होता है। और निद्रा से एक आगे की अवस्था का नाम मृत्यु है। निद्रा में मस्तिष्क के केवल कुछ भाग विश्राम लेते हैं, शरीर के बहुत से अग हृदय, फुस्फुस इत्यादि उस समय भी अपना कर्म करते रहते है। यदि ये अंग भी पूर्ण विश्राम करने की ठान लें तो मृत्यु नामक घटना की अवस्था उत्पन्न हो जाय।

किंतु इस शांतिदायिनी सर्वप्रिय घटना का कारण क्या है? क्या निद्रा हमारे लिये आवश्यक है? वह किस प्रकार उत्पन्न होती है और निद्रा के समय में जागृत अवस्था की अपेक्षा शरीर के भीतर की क्रियाओं में क्या अंतर पड जाता है.?

निद्रा के कारण के संबंध में बहुत से मत हैं। यद्यपि वैज्ञानिकों ने इस ओर अपना काफ़ी ध्यान दिया है और प्रयोग भी किए है तो भी वे किसी संतोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सके है। यही मतभेद का कारण है। निद्रा के संबंध में जो भिन्न-भिन्न विचार समय-समय पर प्रकट हुए हैं, उन सबके लिखने के लिये बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता है। मुख्य सिद्धांतों का नीचे उल्लेख किया जाता है—

१—गत परिच्छेदों में यह कई बार बताया जा चुका है कि जब कोई भी तंतु कर्म करता है तो उसकी क्रिया से कुछ विषैले पदार्थ उत्पन्न होते है। पेशियों की क्रिया से अम्ल और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड बनते है। नाडी के क्रिया करने से भी लेक्टिक अम्ल इत्यादि वस्तुएँ बनती है। इस सिद्धांत के अनुसार ये विषैली वस्तुएं शरीर में एकत्र होती रहती है। शरीर में क्रिया इतनी अधिक होती है कि उससे उत्पन्न हुई विषाक्त वस्तुएँ रक्त द्वारा नष्ट नहीं होने पाती है। कुछ अवश्य नष्ट होती है, किंतु सारी वस्तुओं का रक्त नहीं नाश कर पाता। इस प्रकार यह वस्तु शरीर में एकत्र होकर नाडी-मंडल को हानि पहुँचाती है। इन विषों के कारण नाडी-मंडल की उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। अतएव जब मस्तिष्क में उत्तेजनाओं का पहुँचना बंद हो जाता है तो वह विश्राम अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार निद्रा का आरंभ होता है।

इस सिद्धांत का समर्थन किन्हीं प्रयोगों द्वारा नहीं होता।

२—फ्लूगर नामक विद्वान् का मत था कि नाड़ी-मंडल के सेलों के भीतर ऑक्सीजन का संग्रह होता है। दिन में काम करने में यह सारा [illegible] है। [illegible] इस ऑक्सीजन को प्रयोग [illegible] ऑक्सीजन की कमी हो जाने से नाड़ी-मंडल के सेल [illegible] हो जाते हैं [illegible] उत्तेजनाओं को ग्रहण नहीं कर सकते। इस प्रकार उनके [illegible] हो जाने से निद्रा का प्रादुर्भाव होता है। इस सिद्धांत के अनुसार मस्तिष्क के प्रत्येक सेल में ऑक्सीजन का एक भंडार रहता है। जागृत अवस्था में यह बराबर व्यय होता रहता है। निद्राकाल में रक्त द्वारा यह भंडार फिर परिपूर्ण हो जाता है। यह सिद्धांत भी प्रथम की भाँति बिलकुल त्याज्य है।

३—विष-सिद्धान्त यह सिद्धात यह मानता है कि काम करने के समय शरीर मे एक विशेष प्रकार का विष बना करता है, जिसको निद्रालु-विष—(Hypno Toxin) का नाम दिया गया है। जब रक्त मे इसकी काफी मात्रा हो जाती है तब मस्तिष्क के सेल उससे सचरित होकर अपना कार्य करना छोड देते है।

४—नाडयाणु-सिद्धांत—नाडी-सेलो की रचना बताते समय कहा गया था कि सेलों के दंड्र आपस मे मिले रहते है जिस भाँति पास-पास के वृक्षो के पत्ते आपस में मिल जाते है और इस प्रकार उनके मिलने से संगम स्थान बन जाते है। यह सिद्धांत यह मानता है कि निद्रा का कारण प्रत्येक सेल का अपने दंड्रों को सिकोड लेना है। इस प्रकार दंड्र सिकुड़कर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और दोनो सेलो के दंड्रों में बहुत अतर हो जाता है। इस कारण उत्तेजनाएँ एक सेल से दूसरे सेल में नहीं

जा सकती। किंतु यह सिद्धांत भी ऊपर कहे हुए सिद्धांतों की गणना में सम्मिलित है। प्रयोगों द्वारा इस सिद्धांत का समर्थन नहीं होता।

४—मस्तिष्क में रक्त की कमी—प्रयोगों द्वारा इस बात का पता लगा है कि निद्रा की अवस्था में मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। निद्रा के समय वहाँ उतना रक्त नहीं रहता जितना जाग्रत अवस्था में जाता है। इस कारण रक्त का भार भी कम हो जाता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि निद्रा का यही कारण है। बहुधा भोजन के पश्चात् निद्रा अधिक आती है। इसका कारण यह है कि शरीर के रक्त का अधिक भाग उस समय अंत्रियों में पहुँच जाता है। चर्म की शिराएँ और अन्य नलिकाएँ भी सिकुड़ जाती हैं और दूसरे प्रांतों की नलिकाओं की भी यही दशा होती है। अतएव मस्तिष्क में भी रक्त की कमी हो जाती है। इस कारण नींद आने लगती है।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धांत कहाँ तक ठीक है। यह निद्रावस्था में शरीर में होनेवाली एक घटना का वर्णन करता है; किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका कारण भी यही है। वास्तव में ये जितने भी सिद्धांत हैं, सब घटना का वर्णन ही करनेवाले हैं। कारण बतानेवाला कोई भी नहीं है, क्योंकि कारण का अभी तक अन्वेषण नहीं हो सका है। संतोषजनक सिद्धांत वही कहा जा सकता है जब कि वह अनेक गूढ़ प्रश्नों का उत्तर दे, जैसे कि बच्चों को युवा की अपेक्षा निद्रा क्यों अधिक आती है; युवा अवस्था में निद्रा की मात्रा क्यों घट जाती है? वृद्धावस्था में निद्रा की मात्रा बहुत कम हो जाती है, किंतु इससे शरीर पर कुछ बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य परिश्रम के पश्चात् निद्रा जल्दी

आती है, किंतु परिश्रम के बहुत अधिक हो जाने पर फिर निद्रा नहीं आती। फिर यह एक साधारण सी बात है जिससे कुछ ही लोग अनभिज्ञ होंगे कि मस्तिष्क की शक्ति और निद्रा की मात्रा में कोई संबन्ध नहीं है। बहुत अधिक विचार का कार्य करनेवाले और तीव्र प्रखर बुद्धि के लोगों के लिये अधिक निद्रा और मूढ़ मनुष्यों के लिये कम निद्रा आवश्यक हो, ऐसा भी कोई नियम देखने में नहीं आता। नेपोलियन, फेडरिक दी ग्रेट, ऐडीसन इत्यादि इस बात का उदाहरण है कि थोड़े समय सोने से मनुष्य की विचारशक्ति को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। इन सब समस्याओं का हल करना साधारण काम नहीं है। इसके अन्वेषण करने में कई दुर्गम कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

निद्रा कोई शरीर का विकार नहीं है और न वह किसी प्रकार के विषों के कारण उत्पन्न होती है। नाड़ी-मंडल के विषाक्त हो जाने का परिणाम निद्रा नहीं है। निद्रा शरीर की अन्य क्रियाओं की भाँति एक साधारण और स्वाभाविक क्रिया है। जागृत अवस्था की भाँति निद्रावस्था भी हमारे भौतिक शरीर की एक अविच्छिन्न घटना है। इस घटना के द्वारा शरीर का निर्माण होता है, शरीर में वृद्धि होती है। जो अंगों में क्षति हो चुकी है उसकी पूर्ति होती है।

कुछ लोगों ने एक दूसरा ही सिद्धांत निकाला है। वे कहते है कि जब मस्तिष्क को पहुँचनेवाली उत्तेजनाएँ एक समान हो जाती हैं, उनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती, तो मस्तिष्क निद्रावस्था में चला जाता है। उनका कहना है कि यदि हम मस्तिष्क को एक ही प्रकार की उत्तेजनाएँ कुछ समय तक पहुँचाते रहें तो मस्तिष्क का वह केंद्र, जो उसे ग्रहण कर रहा है,

थक जायगा और वह अपना काम छोड़कर फिर शिथिल हो जायगा। हम उसी समय तक चेतन रहते हैं जब तक भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजनाएँ मस्तिष्क में पहुँचा करती हैं। इस मत के अनुसार ज्यो ही यह भिन्नता जाती रहती है त्यों ही निद्रा उत्पन्न हो जाती है। इस मत के अनुयायियों का कहना है कि हमारे जागृत रहने के लिये न केवल उत्तेजनाओ की भिन्नता ही आवश्यक है, वरन् मस्तिष्क ऐसी अवस्था में होना चाहिए कि वह उन भिन्नताओ को ग्रहण करे। यदि मस्तिष्क उत्तेजनाओ को ग्रहण करने से थक चुका है तो वह भिन्नताओ को अनुभव न करेगा जिससे वह शिथिल हो जायगा।

यह सिद्धांत भी दूसरे सिद्धांतो के ही समान मालूम होता है। जिस काम के करने से हम एक समय जागृत अवस्था मे रहते है, उसी के दूसरे समय करने से हमे निद्रा आ जाती है। दिन भर किसी एक पुस्तक के पढने से हम नही सोते, किंतु हमारे सोने का जो नियत समय है उस समय उस पुस्तक को पढने से हम सो जाते है। इस मत के अनुयायी कह सकते हैं कि दिन भर के काम के पश्चात् मस्तिष्क इतना थक गया था कि वह उत्तेजना ग्रहण नही कर सकता था। किंतु यदि हम दिन भर विना किसी प्रकार अपना मस्तिष्क थकाए हुए सोने के समय पर उस पुस्तक को लेकर लेट जायँ और उसका पाठ करना आरभ करे तो थोडे ही समय पश्चात् हमें निद्रा आ जाती है। कुछ लोग जब चाहें तब सो सकते है। ये सब बातें इस सिद्धात द्वारा स्पष्ट नहीं होती।

निद्रा वह काल है जब हमारे शरीर में वृद्धि होती है और टूटे-फूटे स्थानों की मरम्मत होती है। इस कारण वह हमारे लिये

बहुत ही आवश्यक है; किंतु अधिक सोना हानिकारक है। हम लोग आवश्यकता से कहीं अधिक सोते हैं। छः घंटे की निद्रा एक युवा मनुष्य के लिये पर्याप्त है। स्वभाव बना लेने से मनुष्य चाहे जितना अधिक भी सो सकता है, किन्तु वह सोना का अमूल्य समय नष्ट करता है। अधिक सोने से मस्तिष्क की उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है और उसके रक्त-संचालन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। शरीर के अंगों में शिथिलता आती है। न केवल यही, वरन् कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के अधिक उत्पन्न होने से रक्त-शुद्धि के कार्य में भी बाधा पड़ सकती है।

प्लीहा
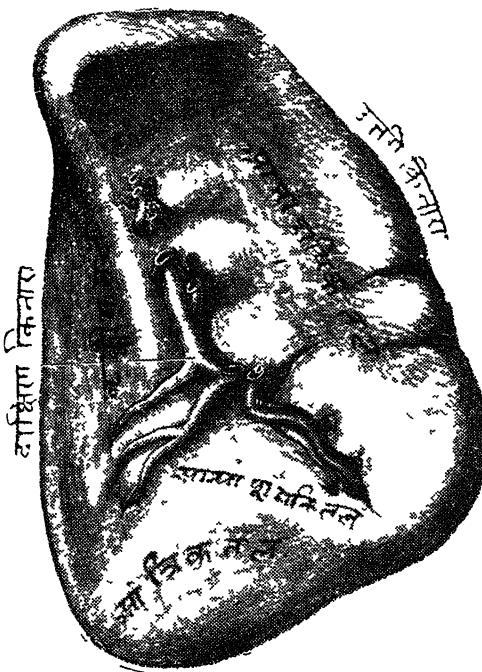
(From Gray's, Anatomy)

पृष्ठ-संख्या ४१३

शरीर की कुछ विशेष ग्रंथियाँ

शरीर में ग्रंथियों की संख्या बहुत अधिक है। लसीका ग्रंथियाँ तो सारे शरीर में यत्रतत्र बहुत ही अधिक संख्या में एक राज्य के पुलिस स्टेशनों की भाँति उपस्थित हैं। प्रत्येक रसवाहिनी नलिका इन्ही ग्रंथियो में जाकर समाप्त होती है और इन्हीं से आरम्भ होती है। किंतु इन ग्रंथियों के अतिरिक्त और भी बहुत सी ग्रंथियाँ हैं जो शरीर के लिये बड़े महत्त्व की हैं। यकृत् का प्रथम ही वर्णन हो चुका है। प्लीहा भी एक ऐसी ही ग्रंथि है। गलग्रंथि, उपवृक्क, पीयूषग्रंथि, बालग्रंथि इत्यादि ऐसी ग्रंथियाँ हैं जिनका शरीर के भीतर होनेवाली दैनिक क्रियाओं पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है, अतएव उनका कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

प्लीहा—प्लीहा बेचारी का नाम बहुत बदनाम है। ज्वरों में वह बढ़ जाती है, अन्य कई प्रकार के रोगों में भी उसके आकार में वृद्धि होती है, इस कारण उसको रोगों का आश्रय मित्र जानकर उसका बहुत अनादर किया जाता है। अँगरेजी भाषा में स्वभाव का प्लीहा के साथ संबंध जोड़ दिया गया है। Splenic Temper

का अर्थ चिड़चिड़े स्वभाव से है। यद्यपि मनुष्य के स्वभाव के चिड़चिड़े होने में प्लीहा किसी भाँति भी उत्तरदायी नहीं है, तो भी उसी के सिर यह सेहरा बाँधा गया है। संभव है, इसका कारण यह हो कि जब कोई मनुष्य बहुत दिनों तक रोगी रहता है तो उसका स्वभाव बिगड़ जाता है; वह चिड़चिड़ा हो जाता है। ऐसी दशाओं में प्लीहा भी बहुधा बढ़ जाती है। अतएव लोगों ने विचार लिया कि स्वभाव के बिगड़ जाने का कारण प्लीहा ही है। किंतु यह भूल है, प्लीहा का स्वभाव से कोई संबन्ध नहीं है और न प्लीहा रोग का कारण ही होती है। वह तो उलटे रोग से उत्पन्न हुए विषों का नाश करने का प्रयत्न करती है।

प्लीहा बाईं ओर स्थित होती है। इसके पीछे की ओर नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं पशुकाएँ रहती हैं। इसके आगे की ओर आमाशय का कुछ भाग रहता है। आमाशय के पुच्छ का सिरा भी इसके ऊपर तक पहुँच जाता है। वृक्क और अंत्रियाँ भी इससे मिली रहती हैं। इसकी लम्बाई पाँच इंच के लगभग होती है। जो मनुष्य मलेरिया के समान ज्वरों से पीड़ित रहे हैं उनके शरीर में प्लीहा बहुत बढ़ जाती है। प्लीहा का रङ्ग बैगनी होता है और उसका भार २ छटाँक के लगभग होता है। इसके भीतर की ओर एक दबा हुआ स्थान होता है जो एक छोटे गड्ढे के समान होता है। यह इसका द्वार समझना चाहिए। जितनी रक्त की नलिकाएँ प्लीहा के भीतर जाती हैं और बाहर निकलती हैं, वे सब की सब इसी द्वार के द्वारा आती जाती हैं।

प्लीहा के ऊपर एक आवरण चढ़ा रहता है जो अंत्रियों और उदर के वृहत् आवरण का एक भाग होता है। यदि प्लीहा को भीतर से काटकर देखा जाय तो इस आवरण से अनेक लम्बे-लम्बे सूत्र

भीतर जाते हुए दिखाई देंगे। ये आवरण-सूत्र भीतर जाकर चारों ओर फैल जाते है। इस प्रकार प्लीहा का भीतरी भाग बहुत से कोष्ठों में विभाजित हो जाता है जिसके चारो ओर सूत्र रहते है और उनके बीच मे प्लीहा का गूदा रहता है। यह गूदा बडे-बडे केन्द्र-मय सेलो और उनके आश्रित करनेवाले सूत्रों का बना होता है। ये सेल भी कई प्रकार के होने हैं। कुछ तो रक्त के श्वेताणुओं की भाँति होने है जो अपना आकार परिवर्तित कर सकते है। दूसरे रक्त के लाल कण की भाँति होते है। इनके अतिरिक्त और भी कुछ बडे सेल पाए जाते है जिनमें या तो कुछ रंजक वस्तु के कण होते हैं अथवा लाल कण होते है।

प्लीहा में एक मोटी धमनी जाती है जो प्लैहिक धमनी (Splenic Artery) कहलाती है। यह प्लीहा के द्वार में होकर भीतर प्रवेश करती है और भीतर जाकर अनेक शाखाओ मे विभक्त हो जाती है। प्रत्येक शाखा पहले तो बाह्यावरण के सूत्रो के साथ रहती है, किंतु अन्त मे प्लीहा के गूदे मे जाकर केशिकाओं के रूप मे आ जाती है। ये केशिकाएँ भी बहुत ही कोमल होती है। इनका सबसे ऊपर का आवरण यहाँ अनुपस्थित होता है और वह इतना सूक्ष्म होता है कि रक्त उनके द्वारा बाहर निकल जाता है। इस प्रकार प्लीहा मे रक्त प्लीहा के सेलो के संपर्क मे आता है। शरीर भर मे इसके अतिरिक्त और कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ रक्त और अंग का संपर्क हो।

प्लीहा की शिरा इन्ही केशिकाओ से आरंभ होती है और धमनी की शाखाओ के साथ ही साथ उसकी भी शाखाएँ रहती है। इन शाखाओ के मिलने से शिरा बन जाती है जो प्लीहा के द्वार मे होती हुई बाहर निकल जाती है।

प्रकृति के अनेक रहस्यों की भाँति प्लीहा ने भी अपना रहस्य शीघ्र नहीं बताया। किन्तु वैज्ञानिक लोग भी कब मानने वाले थे। अन्त में इन्होंने भी बहुत कुछ परिश्रम के पश्चात् प्लीहा के कर्मों का पता [illegible] लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि जो कर्म मालूम हो [illegible] उनके अतिरिक्त प्लीहा कुछ कर्म करती है या नहीं। किन्तु अभी [illegible] केवल निम्न-लिखित कर्म मालूम हुए हैं—

१. [illegible] यह मालूम होता है कि जिन रक्त [illegible] कर दि[illegible] हैं और नष्ट-[illegible] देती है। सजे-रियों [illegible] यह होता है कि रोगों [illegible] कारण [illegible] नष्ट होते हैं जो वस्तुएँ [illegible] प्लीहा [illegible] संग्रह कर लेती है। [illegible] होते हैं जिनमें रक्त के कणों का अधिक नाश होता है, उन दशाओं में प्लीहा में [illegible] नष्ट कण बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। कभी-कभी प्लीहा में रक्त की बहुत अधिक मात्रा मिलती है जो रक्त के लाल कणों के टूटने से उत्पन्न होती है। पहले यह सोचा जाता था कि प्लीहा लाल कणों का नाश करके उनके हीमोग्लोबिन को स्वतंत्र कर देती है और यह हीमोग्लोबिन यकृत में पहुँचकर पित्त की रंजक वस्तुएँ उत्पन्न कर देता है। किन्तु यह विचार असत्य प्रमाणित हुआ है।

२. प्लीहा न केवल लाल कणों का नाश ही करती है, वरन् उनको बनाती भी है। इस कर्म के बारे में मनुष्य के संबंध में निश्चय प्रकार से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ पशुओं में यह ठीक प्रकार से मालूम हो चुका है कि प्लीहा लाल कण बनाती

है। यदि इन पशुओं में से प्लीहा निकाल दी जाय तो अस्थियों की लाल मज्जा में वृद्धि हो जाती है ।

३. प्लीहा रक्त के श्वेत कणों को भी बनाती है। जो रक्त प्लीहा से शिरा के द्वारा बाहर जाता है उसमें धमनी के रक्त की अपेक्षा अधिक श्वेत कण होते है। जिससे मालूम होता है कि प्लीहा मे श्वेत कण बनकर शिरा में होते हुए रक्त में पहुँच जाते हैं। जिन दशाओं में रक्त के श्वेत कणों की सख्या बहुत बढ़ती है उनमें प्लीहा के आकार में भी वृद्धि हो जाती है ।

इनके अतिरिक्त प्लीहा के और भी एक-दो छोटे-मोटे कर्म मालूम किए गए हैं। कहा जाता है कि प्लीहा यूरिया के बनाने में भाग लेती है। प्लीहा में सदा संकोच और विस्तार हुआ करता है । संकोच के समय इसका आकार घट जाता है और विस्तार के समय बढ जाता है। प्लीहा के बढ़ने से अन्त्रियों का रक्त उसमें चला जाता है और संकोच करने से फिर अन्त्रियो में आ जाता है। यह देखा गया है कि जिस समय आमाशय और अंत्रियो मे पाचन होता रहता है उस समय प्लीहा सकुचित रहती हे । किंतु पाचन के पश्चात् उसका विस्तार हो जाता है। इस प्रकार प्लीहा रक्त के भंडार का काम करती है।

प्लीहा में किसी भाँति का कोई रस नहीं बनता है। जिन पशुओं में प्लीहा को शरीर से निकाल दिया गया उनको उससे कोई विशेष हानि नहीं हुई । किंतु शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ है जो एक रस बनाती है और उस रस से शरीर मे अनेक क्रियाएँ होती है। पाचन के संबंध में ऐसी कई ग्रंथियो का उल्लेख किया गया है। यकृत् से पित्त बनकर अन्त्रियो मे आता है जहाँ वह पाचन में सहायता देता है। अग्न्याशय से जो रस निकलता है वह पाचन की मुख्य क्रियाएँ करता है ।

ऐसे रोगों ही से इन ग्रंथियों का भली भाँति अन्वेषण हो सका है। ऐसी दशाओं में जब ग्रंथि बिलकुल नष्ट हो गई है और उसमें उद्रेचन का बनना बिलकुल बन्द हो गया है तब कुछ पशुओं से उसी ग्रंथि को निकालकर या उस ग्रंथि का रस तैयार करके रोगी को देने से लाभ हुआ है। विशेषकर ग्रंथियों के विकार से उत्पन्न रोगों के द्वारा ग्रंथि के कर्म का पूर्ण ज्ञान हुआ है। अभी तक यह ज्ञान बिलकुल पूर्ण नहीं है: रात-दिन वह बढ़ रहा है। किंतु यह ज्ञान ऐसे विशेष महत्त्व का प्रमाणित हुआ है कि वह रोग-विज्ञान की एक बहुत बडी शाखा बन गया है और थोडे ही समय में उस पर सहस्रों पृष्ठ के ग्रंथ लिखे जा चुके हैं।

अवटुका-ग्रंथि (Thyroid)—यह ग्रंथि ग्रीवा में होती है। जब कभी यह बढ़ जाती है तो ऊपर से दिखाई देने लगती है। ग्रीवा के दोनों ओर इस ग्रंथि के दो भाग रहते हैं जो आपस में

चित्र नं० ९१—अवटुका-ग्रंथि जिसका आकार कुछ विकृत है।
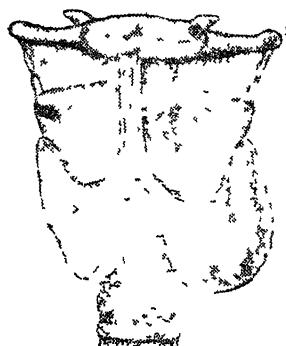
एक संकुचित भाग के द्वारा जुडे रहते हैं। इसको सेतु कहते हैं; दूसरी ग्रंथियों की भाँति यह भी एक सौत्रिक तंतु के आवरण से

ढकी रहती है। इस आवरण से बहुत से सूत्र ग्रंथि के भीतर जाते हैं, जो उसको भिन्न-भिन्न कोष्ठो में विभाजित कर देते हैं। इस प्रकार ग्रंथि के भीतर अनेक कोष्ठ बन जाते है। इन कोष्ठों के भीतर एक श्वेत पारदर्शी गाढा पदार्थ रहता है। इन कोष्ठों के बीच की दीवारो मे धमनी और शिरा की शाखाएँ रहती है। इस ग्रथि में कई धमनियो द्वारा रक्त आता है। साथ मे नाड़ियाँ भी रहती हैं। रसवाहिनी नलिकाएँ भी चारो ओर फैली हुई हैं।

यह ग्रथि शरीर की कई क्रियाओं पर अपना प्रभाव डालती है। जब इसमे विकार होता है, ग्रंथि की कार्य-शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक कार्य करने लगती है तो कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बच्चों में जो रोग उत्पन्न होता है उसे Cretinism और युवा पुरुषो में उत्पन्न होनेवाले रोग को मिक्सोडीमा (Myxoedema) कहते हैं। ये रोग ग्रंथि के नष्ट हो जाने और उसकी क्रिया कम हो जाने से उत्पन्न होते है। किन्तु जिन दशाओं मे इस ग्रथि की क्रिया बढ़ जाती है तो उससे Exophthalmic Goitre नामक रोग उत्पन्न होता है। इन रोगों के लक्षण वर्णन करने से ग्रथि की विशेषता स्पष्ट हो जायगी।

जब बाल्यकाल में यह ग्रथि अपना उद्रेचन बनाना बंद कर देती है या वह कम हो जाता है तो बच्चे के शरीर की वृद्धि बंद हो जाती है। यदि होती भी है तो बहुत धीरे-धीरे। सोलह वर्ष का लड़का, जो रोग से ग्रसित है, पाँच या छः वर्ष का-सा प्रतीत होता है। न केवल शरीर ही की, किंतु मस्तिष्क की शक्तियो का विकास भी बहुत कम होता है। वह बिलकुल मूढ़ हो जाता है। सोलह वर्ष के लडके की विचार-शक्ति पाँच वर्ष के बच्चे के समान होती है।

मूढता उसके चेहरे से प्रकट होती है। जिह्वा बड़ी होती है और वह मुख से बाहर निकली रहती है। उससे प्रत्येक समय थूक गिरा करता है। टाँगें छोटी होती हैं और पेट आगे को निकला रहता है। शरीर पर बाल बहुत थोड़े होते हैं और देह का चर्म शुष्क होता है। यदि बच्चा रोग-ग्रस्त है तो ये सब चिह्न आयु के प्रथम वर्ष में देखे जा सकते हैं। दूसरे वर्ष में चिह्न और भी स्पष्ट हो जाते हैं। चेहरा शरीर की अपेक्षा बड़ा और सूजा हुआ प्रतीत होने लगता है। नेत्रों के पलक भारी और मोटे पड जाते हैं। नाक बैठी हुई और चपटी दीखती है और नथुने चौडे हो जाते हैं। बच्चे के दाँत बहुत देर से निकलते हैं और निकलने पर जल्दी ही गिर जाते हैं। हाथ छोटे और फूले हुए होते हैं। चेहरा पीला होता है।

बच्चे के युवा होने पर जननेंद्रियों का विकास नहीं होता। यह इंद्रिय बिलकुल वैसी ही दशा में रहती है जैसी कि वह बाल्य-काल में होती है। कभी-कभी शुक्र-ग्रंथियाँ अंडकोषों में अनुपस्थित होती हैं। वास्तव में जननेंद्रियों के संबंध में वह बिलकुल ही बच्चा होता है।

मिक्सोडीमा यद्यपि उसी कारण से उत्पन्न होता है जिससे कि ऊपर की दशा, किंतु उसके चिह्न बिलकुल भिन्न होते हैं। इस रोग में चर्म के नीचे का तंतु बढ़ने लगता है जिससे सारा चर्म मोटा और भद्दा दिखाई देता है। शरीर का आकार बढ जाता है। यह मोटापन सबसे पहले मुख और हाथों पर दिखाई देता है। चेहरे की आकृति भारी हो जाती है और रोगी मूढ और कर्तव्यहीन दिखाई देता है। चेहरे की अस्थियाँ लंबी हो जाती हैं; शिर बढ़ जाता है। इस कारण जो टोपी रोगी को पहले

ठीक आती थी, अब छोटी हो जाती है। पलक मोटे हो जाते हैं; ऊपर के पलक नीचे के पलकों पर गिरे रहते हैं। गाल भी नीचे की ओर लटक आते हैं; नाक चौडी हो जाती है; ओष्ठ नीचे को लटकने लगते हैं; ठोडी चौडी हो जाती है, सिर और पलकों के बाल गिर जाते हैं।

चर्म के नीचे की सूजन चेहरे से गर्दन की ओर बढ़ती है। गर्दन, पीठ, उदर, वक्ष, बाहु, हाथ, जंघा, पाँव इत्यादि सब भारी और मोटे पड जाते हैं। हाथ चौडे हो जाते हैं और उनका आकार लेखक फावडे (Spade like) जैसा बताते हैं। मुंह और गले के अंदर का भाग भी मोटा हो जाता है। इससे शब्द में अन्तर पड जाता है। शरीर में बडी दुर्बलता मालूम होने लगती है; नाडी-मंडल भी बचा नहीं रहता; रोगी का किसी भी काम करने को चित्त नहीं चाहता। भाषण और बातचीत की शक्ति बहुत मंद हो जाती है। स्मरण-शक्ति भी क्षीण हो जाती है; रोगी बात का कठिनता से समझता है और उसको प्राय नींद बहुत आती है।

इन दोनों भयानक रोगों का कारण इस ग्रंथि की अकर्मण्यता है। वह जितना आवश्यक है उतना उद्रेचन नहीं बनाती। इस कारण ये दशाएँ उत्पन्न होती हैं। इसको पाश्चात्य विज्ञानवाले Thyroid Defeciency के नाम से पुकारते हैं।

यदि एक स्वस्थ मनुष्य के शरीर से इस ग्रंथि को निकाल दिया जाय तो उसकी भी यही दशा हो जायगी। किंतु यदि ऊपर कहे हुए रोगों के रोगियो को इस ग्रंथि का सत्त्व (Extract) खाने को दिया जाय तो उसने रोग दूर हो जाते हैं। शल्यकारों ने इस ग्रंथि को मिक्सिडोमा के रोगियों में उनके चर्म के नीचे कई बार लगाया है और साथ में ग्रंथि का सत्त्व भी

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १२

मिक्सोडीमा—चिकित्सा के पूर्व और पश्चात्

(From Bainbridge and Menzies])

पृष्ठ-संख्या ४२२

शरीर में प्रविष्ट किया है जिससे रोगी नीरोग हो गए हैं। अनुभव से यह पता लगा है कि यदि यह ग्रंथि, कच्ची या पकाकर रोगी को खिलाई जाय तो उसकी दशा ठीक हो जायगी। आजकल यह चिकित्सा बहुत की जाती है और इस ग्रंथि का सत्त्व इन ऊपर कहे हुए रोगों के अतिरिक्त दूसरी दशाओं में भी प्रयोग कराया जाता है।

यदि इन रोगों के रोगियों को ग्रंथि का प्रयोग कराया जाता है तो उससे बहुत थोड़े समय में उनकी मूढता, शरीर का भद्दापन, चर्म की मोटाई इत्यादि सब दूर हो जाते हैं। स्मरण-शक्ति लौट आती है; विचार-शक्ति भी ठीक हो जाती है; भाषण के दोष भी जाते रहते हैं और कार्य में चित्त लगने लगता है। शरीर की दुर्बलता जाती रहती है और रोगी रोग-मुक्त हो जाता है। यदि बच्चों को, जो रोग से ग्रस्त होते हैं, ग्रंथि का प्रयोग कराया जाता है तो उनकी वृद्धि फिर से होने लगती है; मानसिक अवस्था भी बदलने लगती है। पेट का आगे की ओर निकलना, जीभ का लटकना और उससे थूक का गिरना इत्यादि सब लक्षण जाते रहते हैं। कुछ समय के पश्चात् वह एक साधारण बच्चे की भाँति दीखने लगता है। किंतु यह चिकित्सा कई वर्षों तक जारी रखनी पड़ती है, तब उससे कुछ परिणाम निकलता है। कभी-कभी आयुपर्यंत ग्रंथि का प्रयोग करना होता है। समय से पूर्व चिकित्सा के बन्द करते ही फिर रोग की पुनरावृत्ति हो जाती है।

ऊपर कही हुई दशाएँ ग्रंथि की क्रिया की कमी से उत्पन्न होती है। किंतु जब ग्रंथि की क्रिया अधिक बढ़ जाती है तब भी उससे स्वास्थ्य में विकार आ जाता है। उस समय जो दशा उत्पन्न होती है उसे Exophthalmic Goitre कहते हैं।

गले की ग्रंथि आकार में बढ़ जाती है और ग्रीवा में दूर से दिखाई पड़ने लगती है। साधारणतया दोनो ओर के भाग बढ़ जाते हैं, किंतु कभी-कभी केवल एक ही ओर का भाग बढ़ता है। सबसे अधिक स्पष्ट लक्षण जो रोगी पर दिखाई पडता है वह उसके नेत्रों के ढेलों का बाहर की ओर को निकलना है। यह प्रतीत होता है कि मानो रोगी के नेत्र बाहर को निकले पडते हैं। वे देखने में बड़े भयानक मालूम होते हैं। पलकों के सिकुड जाने के कारण नेत्र और भी बड़े दिखाई देते हैं। कभी-कभी नेत्र वास्तव में नेत्र-गुहा से बाहर निकल आते है। पलकों में भी कभी-कभी कंपन होता है।

साथ ही हृदय की गति बढ जाती है। नाडी प्रथम ही से ९२ या १०० प्रति मिनट चलने लगती है। आगे चलकर जब रोग बढ़ता है तब उसकी गति १४०-१६० हो जाती है। कभी-कभी हृदय इससे भी तेजी से चलने लगता है। धमनियों में स्पंदन तेजी से होता है। गले के दोनों ओर की नाड़ियों में स्पंदन देखा जा सकता है। शिराओं तक में स्पंदन होने लगता है। केशिकाएँ भी इससे बची नहीं रहतीं। वहाँ भी नाड़ी प्रतीत की जा सकती है। हाथ पर की शिराओं में नाडी प्रतीत होने लगती है। इससे हृदय की गति के वेग का अनुमान किया जा सकता है। कभी-कभी हृदय बडा दुर्बल हो जाता है और उत्तेजना की अधिकता से उसके आघात को न सम्हाल सकने के कारण विस्तृत (Dilatation of Heart) हो जाता है। इन चिह्नों के साथ शरीर में कंपनाएँ होने लगती हैं।

इस दशा की चिकित्सा ग्रंथि की क्रिया को कम करने से हो सकती है। अतएव शस्त्रचिकित्सक लोग ग्रंथि के कुछ भाग को काटकर निकाल देते हैं। कभी-कभी इससे बहुत शीघ्र आराम होता है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १२

नेत्रोत्सेधक अवटुका वृद्धि

(From Bainbridge and Menzies)

पृष्ठ-संख्या ४२४

शरीर में इतने बड़े परिवर्तन करनेवाली इस ग्रंथि के कोष्ठो के भीतर एक रासायनिक वस्तु पाई जाती है जिसको Thyro-Iodine का नाम दिया गया है। यह आयोडिन (Iodine) का एक योग है। शरीर में पाई जानेवाली रासायनिक वस्तुओं में यह एक अद्भुत वस्तु है। इस वस्तु का अणु बहुत बड़ा होता है और इसमें आयोडीन की मात्रा अधिक होती है। कोष्ठों के भीतर जो श्वेत पारदर्शी स्वच्छ वस्तु भरी रहती है उसमें यह वस्तु सम्मिलित रहती है। प्रयोगो के लिये उसको ग्रथि से पृथक् किया जा सकता है।

यह एक विचित्र बात है कि मनुष्य की सारी मानसिक शक्तियाँ, जनन शक्तियाँ इत्यादि एक छोटी सी ग्रथि पर निर्भर करती हैं। चाहे कोई बच्चा कैसी ही तीव्र प्रखर बुद्धि को लेकर इस संसार में आवे, किंतु यदि इस ग्रंथि के सेल अपना काम करना छोड़ दें तो उसकी सारी स्वाभाविक शक्तियाँ नष्ट हो जायँगी और वह मूढ़ बन जायगा। वास्तव में इस शरीर की क्रियाएँ ऐसी विचित्र हैं और उसके भिन्न-भिन्न पुरजो का आपस मे ऐसा गूढ़ संबंध है कि शरीर का उत्तम दशा मे रहना या हमारा स्वस्थ रहना, एक आश्चर्य-जनक घटना है।

ग्रीवा में दो और ग्रंथियाँ होती हैं। एक का नाम बालग्रंथि (Thymus) और दूसरी का नाम उपवटुका (Parathyroid) है। बालग्रंथि जन्म के समय काफ़ी बड़ी होती है, किंतु उसके पश्चात् शीघ्र ही उसको क्षति होने लगती है। युवावस्था तक पहुँचने पर इस ग्रंथि का अस्तित्व भी कठिनता से शेष रहता है। सारी ग्रंथि लुप्त हो जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह ग्रंथि कुछ अधिक दिनों तक रहती है। कभी-कभी युवावस्था तक बढ़ती रहती है।

इस ग्रंथि का कोई विशेष कर्म मालूम नहीं है। किन्हीं-किन्ही वैज्ञानिकों का मत है कि इस ग्रथि का जननेंद्रियों से कुछ संबंध

है। प्रयोगों द्वारा यह मालूम किया गया है कि यदि बाल्यकाल ही में शुक्र-ग्रंथि को निकाल दिया जाय तो उससे यह ग्रंथि जल्दी नष्ट नहीं होने पाती। और यदि यह ग्रंथि निकाल दी जाय तो जननेंद्रियाँ समय से पूर्व ही पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाती हैं।

उपवटुका भी ऐसी ही ग्रंथि है जिसके कर्म का विशेष ज्ञान नहीं है। ये दो या चार छोटी-छोटी ग्रंथियाँ होती हैं जो अवटुका से मिली हुई रहती हैं। कभी-कभी वे अवटुका ग्रंथि के भीतर ही पाई जाती हैं। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह वास्तव में अवटुका ही का भाग है जो परिपक्व नहीं हुआ है; आगे चलकर अवटुका का स्वरूप धारण करके उसी में मिल जायगा। किंतु अधिक लोग इस बात से सहमत नहीं हैं।

बहुतों का यह मत है कि वे अवटुका से उत्पन्न हुए एक विष का नाश करती हैं।

अधिवृक्क—ये दोनों ग्रंथियाँ मुर्गे के सिर की कलँगी की भाँति

चित्र नं० ९२—वृक्क और अधिवृक्क ग्रंथि, जैसी सामने से दीखती हैं।
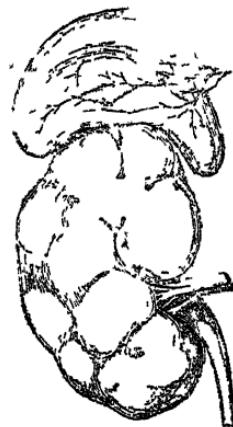
वृक्क के ऊपरी सिरे पर रहती हैं। इनका आकार भी बहुत कुछ मुर्गे की कलँगी से मिलता-जुलता होता है। यह त्रिकोणाकार होती हैं। इन ग्रंथियों पर एक आवरण चढ़ा रहता है। यदि इनको भीतर से काटकर देखा जाय तो ग्रंथि मे दो प्रकार की रचनाएँ दिखाई पड़ेंगी। मध्यस्थ भाग की रचना बाहर के भाग से भिन्न है। इसमे सौत्रिक तंतुओं का एक जाल दिखाई देगा जिसके भीतर अनेक केंद्र और प्रोटोप्लाज्म मिलेंगे। वहाँ पर सेलों के बीच की दीवारें बहुत स्थानों पर उड़ गई हैं; रक्त-नलिकाओं की अधिकता है और नाड़ियाँ भी उपस्थित हैं।

बाहर के प्रांत में सेल लंबी रेखाओं में स्थित हैं और इस प्रकार उनके स्तंभ बन गए हैं। ऊपर के सेल कुछ गोल हैं किंतु उनके नीचे के सेल अधिकतर चौकोर हैं।

यह एक छोटी सी ग्रंथि है जो देखने से किसी प्रकार के विशेष गुणों से आभूषित नही मालूम होती। वह एक तुच्छ वस्तु सी प्रतीत होती है किंतु जब पूर्णतया खोज की गई तो बिलकुल दूसरी ही बात मालूम हुई। जब कभी यह ग्रंथि विकृत हो जाती है, उसमें किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है तो सारे शरीर में बड़ी दुर्बलता आ जाती है, शरीर के रक्त का भार कम हो जाता है, चित्त का उत्साह जाता रहता है, मस्तिष्क की शक्ति भी कम हो जाती है, वमन होने लगते हैं और साथ मे चर्म का वर्ण ताँबे जैसा हो जाता है। इस रोग को ऐडीसन का रोग (Addison's disease) कहा जाता है, क्योंकि सबसे प्रथम ऐडीसन ने सन् १८८५ में इस रोग का उपवृक्क ग्रंथि से संबंध मालूम किया था। कुछ दिनों के पश्चात् ब्राउन-सीकर्ड ने इस ग्रंथि पर प्रयोग भी किए। उसने देखा कि इस ग्रंथि के निकाल डालने से पशु की मृत्यु हो जाती है।

रासायनिक परीक्षा से यह मालूम हुआ है कि ग्रंथि के मध्यस्थ भाग में एक रासायनिक वस्तु रहती है, जिसको एक जापानी विद्वान् ने, जिसका नाम टाकामीन था, मालूम किया था। इस वस्तु को ऐड्रिनेलिन (Adrenalin) के नाम से पुकारा जाता है। उसको अब रासायनिक विधियों द्वारा प्रयोगशालाओं में बनाया जाता है और चिकित्सा में उसका बहुत प्रयोग होता है।

इस वस्तु को शरीर में प्रविष्ट करने से रक्त-नलिकाएँ संकुचित हो जाती हे और शरीर का रक्त-भार बढ जाता है। ऐच्छिक मांस-पेशियों की शक्ति बढ जाती है। अनैच्छिक मांस-पेशियों की भी क्रिया में वृद्धि होती है। हृदय की गति भी बढ़ जाती है। यदि हृदय को शरीर से भिन्न करके किसी पोषक द्रव्य में रख दिया जाय और फिर ऐड्रिनेलिन उसमें प्रविष्ट की जाय तो हृदय अधिक वेग और शक्ति से संकोच करने लगेगा।

ऐड्रिनेलिन की अनैच्छिक मांस-पेशियों पर स्वतत्र नाड़ी-मंडल के द्वारा क्रिया होती है। अंत्रियों इत्यादि की जितनी पेशियाँ हैं उनका स्वतत्र नाडियो से संबंध रहता है। इन नाडियों के जो सूत्र पेशियों में जाते हैं उन पर ऐड्रिनेलिन की क्रिया होती है। अतएव उस सारी क्रिया का कारण स्वतत्र नाडियों के वे सूत्र हैं जो पेशियों के भीतर रहते हैं।

ऐड्रिनेलिन एक बडी ही तेज़ वस्तु है। यदि उस वस्तु का एक भाग जल के एक सहस्र भाग में घोल दिया जाय और उसकी एक मात्रा शरीर में प्रविष्ट की जाय तो उससे भी ऊपर कहे हुए परिणाम उत्पन्न होंगे।

साधारणतया प्रत्येक समय दोनो उपवृक्क ऐड्रिनेलिन बनाकर शरीर में भेजते रहते हैं। और वहाँ रक्त-द्वारा वह सारे स्वतंत्र नाड़ी-

मण्डल को वितरित कर दी जाती है। इसके कारण यह नाड़ी-मण्डल सदा जागृत अवस्था में रहता है और अपना काम करता रहता है। जब कभी हमको क्रोध आता है या हम किसी प्रकार उत्तेजित हो जाते हैं तो ऐड्रिनेलिन की अधिक मात्रा बनने लगती है। इसके बनने से हृदय में अधिक शक्ति आ जाती है और पेशियाँ आवश्यकता के समय तेजी से काम करने को तैयार हो जाती हैं। यह ऐड्रिनेलिन यकृत् से ग्लायकोजिन को निकालकर रक्त में पहुँचाती है, जो उसे पेशी के पास आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग करने के लिये ले जाता है। इसी शर्करा से पेशियों में शक्ति आती है।

यह ऐड्रिनेलिन बनाना ग्रन्थि के मध्य भाग का काम है। प्रांतस्थ भाग इसके बनाने में किसी प्रकार का योग नहीं देता। वास्तव में ये दोनों भाग दो भिन्न-भिन्न अंग कहे जा सकते हैं। इनका आपस में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यदि भ्रूण की उत्पत्ति और वृद्धि का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाय तो मालूम होगा कि ये दोनो भाग बिलकुल भिन्न-भिन्न स्थानों में और भिन्न प्रकार से बनते हैं और फिर दोनों मिल जाते हैं।

प्रांतस्थ भाग का कर्म अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम हो सका है। बहुत लोगों का विचार है कि उसका जननेंद्रियों की वृद्धि के साथ सम्बन्ध है। यह देखा गया है कि जब कभी ग्रंथि के इस भाग में अर्बुद इत्यादि हो जाते है तो जनन-शक्ति का विकास समय से पूर्व हो जाता है अथवा शक्ति प्रबल हो जाती है। स्त्रियों में भी पुरुषों के समान गुण उत्पन्न हो जाते है। उनका गला मोटा हो जाता है; आवाज बारीक न होकर भारी हो जाती है।

अतएव इस ग्रंथि का मुख्य भाग बीचवाला अंश है जो ऐड्रि-नेलिन बनाता है। यदि बाहर के भाग को निकाल भी दिया

जाय तो भी उससे किसी प्रकार के दुष्परिणाम नहीं होते। किंतु मध्यस्थ भाग का निकालना घातक होता है। स्वतन्त्र नाड़ी-मंडल से यह रासायनिक निर्जीव वस्तु कैसे-कैसे कार्य करवाती है! शीत, भय इत्यादि के समय सिर पर बाल खड़े कर देना, आँखों की पुतलियों को चौड़ा कर देना, मुख से थूक का निकालना, और भी बहुत से दूसरे कर्म यह ऐड्रिनेलिन ही करवाती है।

ये दो छोटी तुच्छ ग्रन्थियाँ हमारे जीवन के लिये परमावश्यक हैं। और शरीर के मुख्य कर्मों में इनका बहुत बड़ा भाग रहता है।

शरीर के जितने अंग हैं सब एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सबों के कर्म भी आपस में इसी प्रकार एक दूसरे के आश्रित हैं. एक स्थान में गड़बड़ी आने से सारा यंत्र बिगड़ जाता है। यहाँ प्रत्येक अंग की भलाई इसी में है कि वह अपने साथी की भलाई करता रहे।

पीयूष-ग्रंथि (Pituitary gland)—यह ग्रन्थि मस्तिष्क में होती है। इसका आकार एक अंडे के समान होता है और यह कपाल की जतूकास्थि के एक खात मे रहती है। इसकी ऊपर से नीचे तक लंबाई १/३ इंच, चौड़ाई १/२ इंच और मोटाई १/४ इंच होती है। इसके दो भाग होते हैं। एक अग्र भाग जो जतूकास्थि पर रहता है और दूसरा पिछला भाग जो एक डंठल द्वारा मस्तिष्क से संयुक्त रहता है। वास्तव में यह ग्रंथि तीन भागों में विभक्त की जा सकती है, क्योंकि काटकर देखने से इसमें तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न रचनाएँ पाई जाती हैं। इन तीनों भागों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं और उनकी उत्पत्ति भी भिन्न है।

यद्यपि यह बहुत ही छोटी ग्रन्थि है और उपवृक्क से भी अधिक तुच्छ दीखती है, किंतु यह भी जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १४

दो कुत्ते जो एक ही समय पर एक ही माता से उत्पन्न हुए हैं। बाईं ओर के कुत्ते की पिट्यूटरी ग्रंथि निकाल दी गई है
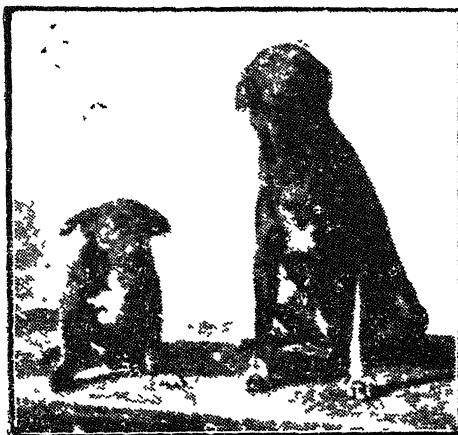
पृष्ठ-संख्या ४३०

एक ही व्यक्ति के चार चित्र जो भिन्न-भिन्न समय पर लिये गये है। उनसे रोग की वृद्धि स्पष्ट है।

२४ वर्ष की आयु; २६ वर्ष की आयु; ३७ वर्ष की आयु, ४२ वर्ष की आयु।

(From Bainbridge and Menzies)

पृष्ठ-संख्या ४३१

यदि इस ग्रंथि को काटकर निकाल दिया जाय, तो शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी। यदि इसका अग्र भाग निकाल दिया जाय तो उसका भी यही परिणाम होगा। किंतु यदि पूरा न निकालकर उसका केवल कुछ भाग ही निकाल दिया जाय, तो उससे शरीर में चर्बी बढ़ जायगी। जब कभी ग्रंथि में किसी प्रकार का रोग हो जाता है तो उससे शरीर की चर्बी बढ जाती है, जनन-शक्ति क्षीण हो जाती है और मैथुन-शक्ति का ह्रास हो जाता है।

ग्रंथि का यह भाग एक आंतरिक उद्रेचन बनाता है। इसी के घटने से ऊपर कहे हुए परिणाम होते हैं। यदि यह उद्रेचन अधिक बनने लगता है, जैसा कि कभी-कभी ग्रंथि के बढ़ने से हो जाता है, तो शरीर की सारी अस्थियाँ अधिक लंबी-चौडी हो जाती हैं; मुँह की लंबाई और चौड़ाई बढ़ जाती है; सारे शरीर की अस्थियों में वृद्धि होती है जिससे आकार विकृत हो जाता है। इस रोग को Acromegaly कहते हैं।

ग्रंथि के बीच के भाग के सेलों का आंतरिक दृश्य उपवटुका के सेलों के समान होता है। इनमें भी वैसा ही श्वेत, स्वच्छ, गाढा, तरल पदार्थ भरा रहता है। किंतु इसमें आयोडीन नहीं होती। यह देखा गया है कि जब अवटुका ग्रंथि को शरीर से निकाल दिया जाता है तो इस भाग में वृद्धि हो जाती है। किंतु अवटुका और इस भाग को निकाल देने से परिणाम बिलकुल ही भिन्न होते हैं। पीयूष ग्रंथि के अग्र और मध्य भागों को निकालने से भी परिणाम भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त दोनो भागो की आंतरिक रचना भी बहुत कुछ भिन्न है।

पिछले भाग की रचना दूसरे भागों से भिन्न है। कुछ पशुओं में वह भीतर से खोखला होता है, किंतु मनुष्य में भरा हुआ और

ठोस होता है। इस भाग का मस्तिष्क के कोष्ठों से सम्बन्ध रहता है। इस भाग में जो वस्तु बनती है उसको पिट्यूटरीन (Pituitrin) कहते हैं। उसको शरीर में प्रविष्ट करने से शरीर का रक्त-भार बढ जाता है। किंतु यह दशा अधिक समय तक नहीं रहती। थोडे समय के पश्चात् भार फिर कम हो जाता है। इस रक्त-भार के बढने का मुख्य कारण चर्म की रक्त-नलिकाओं का सिकुडना है। कुछ अनैच्छिक पेशियों का, जैसे कि गर्भाशय की पेशी, इस वस्तु के प्रभाव से संकोचन होने लगता है। इस कारण प्रसव के समय इस वस्तु का इंजेक्शन दिया जाता है।

पिट्यूटरीन का वृक्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उसके शरीर में प्रविष्ट करने से मूत्र की अधिक मात्रा बनने लगती है। इसका कारण वृक्क की रक्त-नलिकाओं का विस्तार होना है। जहाँ चर्म की नलिकाओं का संकोच होता है वहाँ वृक्क की नलिकाओं का विस्तार हो जाता है और इससे मूत्र का बनना अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त पिट्यूटरीन स्तनों में दूध अधिक उत्पन्न करती है, क्योंकि स्तनों के मांस-पेशी संकुचित हो जाते है।

अग्र भाग के रस को शरीर मे प्रविष्ट करने से यह परिणाम नहीं होते। न मूत्र-प्रवाह बढता है, न रक्त-भार बढता है और न स्तनों की क्रिया ही में कुछ विशेषता होती है।

पिट्यूटरीन का हृदय को सँभालने के लिये इंजेक्शन देते है। जब हृदय की शक्ति क्षीण हो जाती है, जैसे निमोनिया इत्यादि रोगों में, वहाँ इस वस्तु के इंजेक्शन से बहुत लाभ होता है।

शुक्र-ग्रंथि—पुरुषों में दो शुक्र व अंड ग्रंथियाँ होती हैं जो अंडकोषों में रहती हैं। इस ग्रंथि में शुक्राणु (Sperms) बनते हैं जो अन्य कई ग्रन्थियों से उत्पन्न हुए द्रव्य में रहते हैं।

इस वस्तु को शुक्र कहते हैं। जब यह शुक्र स्त्रियों के रज से मिलता है, तो गर्भ उत्पन्न होता है।

संतानोत्पत्ति के अतिरिक्त इन ग्रंथियों के अन्य कर्म भी हैं। यदि युवावस्था प्राप्त होने के पूर्व शुक्र-ग्रंथियों को अंडकोषों में से निकाल दिया जाय तो जननेंद्रियों के शेष भाग भी स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। साथ में पुरुषों के दूसरे लक्षण, वक्ष पर बालों का निकलना, मूँछ और दाढ़ी का उगना, आवाज में मरदानगी आना, पुरुषो की भाँति शरीर की वृद्धि इत्यादि सब रुक जाते हैं। शरीर बच्चों के समान रह जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि शरीर स्त्रियों की भाँति हो जाता है; किंतु यह सत्य नहीं है। शरीर में चर्बी बढ़ जाती है।

यदि यह प्रयोग पशुओं पर किया जाता है, तो वहाँ भी वैसे ही परिणाम निकलते हैं। मुर्गे की शुक्र-ग्रंथि निकाल देने से उसके सिर की कलँगी की वृद्धि नहीं होती। जिन पशुओं में केवल पुरुष जाति में सींग होते है उनमें सींग निकलने बन्द हो जाते हैं। किंतु जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों के सींग होते हैं वहाँ केवल सींगों के आकार में अन्तर पड़ जाता है।

शुक्र-ग्रंथि से जो नलिका शुक्र को बाहर लाती है उसको बाँध देने से ऐसा परिणाम नहीं होता। ग्रंथियों के जो भाग शुक्र उत्पन्न करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। किंतु ग्रंथि में कुछ ऐसे सेल होते हैं जिनका उस पर भी नाश नहीं होता। वे उत्तम दशा में बने रहते हैं और पुरुष के लक्षण भी शरीर पर प्रगट होते है, जैसे कि वक्ष का चौड़ा होना, मूँछ-दाढ़ी का निकलना, इत्यादि। इसी के आधार पर वैज्ञानिक लोग कहते है कि शुक्र-ग्रंथि भी एक आंतरिक उद्रेचन बनाती है, और वही पुरुषत्व के गौण गुणों को उत्पन्न

करती है। यह एक रासायनिक वस्तु मानी जाती है, जो नाडियों के द्वारा शरीर पर अपना प्रभाव डालती है।

इस संबंध में ब्राउन सीक्वर्ड के प्रयोग बहुत प्रसिद्ध हैं। उसके विचारों के अनुसार वृद्धावस्था का कारण केवल शुक्र-ग्रंथियों की क्षीणता है, जिससे यह आंतरिक उद्रेचन बनना बंद हो जाता है। इसीसे शरीर की वृद्धि बन्द हो जाती है। उसका कहना है कि यदि किसी प्रकार से ये ग्रंथियाँ उत्तम अवस्था में बनी रहें अथवा किसी प्रकार शरीर को इन ग्रंथियों का उद्रेचन मिलता रहे तो मनुष्य वृद्ध नहीं हो सकता। उसने स्वयं कुछ पशुओं के अंडकोषों से एक वस्तु तैयार की और उसको अपने शरीर में प्रविष्ट किया। उसका कथन है कि उसकी दशा में बहुत उन्नति हुई। जिस समय उसने यह प्रयोग आरंभ किया वह ७० वर्ष के लगभग हो चुका था। किंतु वह कहता है कि इसके प्रयोग से वह कम से कम बीस वर्ष आयु में तरुण हो गया। अर्थात् वह पचास वर्ष के ऐसा मालूम होने लगा।

ऐसे ही और भी बहुत से पशुओं पर प्रयोग किए गए हैं। प्रोफेसर स्टिनाच (Steinach) ने चूहों पर यह प्रयोग किया है। उन्होंने शुक्र को बाहर लानेवाली नली को काट दिया जिससे वे भाग, जो शुक्राणु बनाते थे, नष्ट हो गए। किंतु ग्रंथि का दूसरा भाग, जिससे आंतरिक उद्रेचन बनता था, बहुत अधिक बढ़ गया। जिन चूहों पर यह प्रयोग किया गया था उनका प्रोफेसर स्टिनाच इस प्रकार वर्णन करते हैं—

इस प्रयोग के लिये केवल वृद्ध चूहों को, जिनकी आयु लगभग २८ व ३० मास की थी, लिया गया। चूहों की यह आयु मनुष्य के ८० व ९० वर्ष की आयु के समान होती है। इन चूहों पर ऊपर कहा हुआ प्रयोग किया गया। अर्थात् उनके शुक्र-ग्रंथि की प्रणाली

को एक विशेष स्थान पर काट दिया गया। कुछ चूहों को इस ग्रंथि को अथवा इससे बनाए हुए कुछ पदार्थों को, प्रयोग कराया गया। कुछ सप्ताह के पश्चात् उन चूहों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया।

ये चूहे प्रयोग के पूर्व बहुत ही शिथिल, अकर्मण्य, चिंतित और उदासीन भाव से रहते थे। वे अपने जीवन में किसी प्रकार का आनन्द अनुभव करते नहीं मालूम होते थे। यदि उनको भोजन की कोई वस्तु दी जाती तो बहुत धीरे-धीरे उसके पास जाते। आपस में लड़ते भी नहीं थे। यदि एक चूहा दूसरे पर आक्रमण करे तो वह अपनी रक्षा के लिये भी कोई विशेष उद्योग न करता था। यदि चुहियों को उनके साथ में रख दिया जाता तो वे उनकी ओर भी आकर्षित नहीं होते थे।

किंतु इन प्रयोगों के पश्चात् उनकी दशा में बिलकुल परिवर्तन हो गया। वे एकदम जवान के ऐसे हो गए। आपस में लड़ाइयाँ होने लगीं। भोजन में भी उनको आनन्द आने लगा। स्त्री-जाति के प्रति भी उनको राग उत्पन्न होने लगा। यहाँ तक कि वे मैथुन करने में समर्थ हो गए। उनके शरीर के गिरे हुए बाल फिर उग आए और चर्म की झुर्रियाँ बहुत कम हो गईं। उनके शरीर में स्फूर्ति आ गई और वे तेज़ी से इधर-उधर दौड़ने लगे।

ब्राउन सीकर्ड का कहना है कि इन प्रयोगों द्वारा मनुष्य की वृद्धावस्था भी बहुत कुछ कम की जा सकती है। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि इन ग्रंथियों का आंतरिक उद्रेचन शरीर के लिये कितने अधिक महत्त्व की वस्तु है।

डिंभ-ग्रंथि—जिस प्रकार पुरुष में पुरुषत्व उत्पन्न करने के लिये शुक्र-ग्रंथियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार स्त्रियों का स्त्रीपन डिंभ-ग्रंथि पर निर्भर करता है। ये दो ग्रंथि उदर में दाएँ और

बाएँ ओर स्थित होती है। इनके निकाल देने से मासिक धर्म बन्द हो जाता है। गर्भाशय कुम्हलाकर कर्महीन और नष्ट हो जाता है। यदि तरुणावस्था पहुँचने से पूर्व यह प्रयोग किया जाता है तो मासिक धर्म आरंभ ही नहीं होता। यदि मासिक धर्म के होने के पश्चात् प्रयोग किया जाता है तो वह बन्द हो जाता है।

इन ग्रंथियों को निकाल देने से शरीर पर और कोई हानि-कारक प्रभाव नही पडता जैसा कि पुरुषों पर शुक्र-ग्रंथि के निकाल देने से पड़ता है। स्त्रियो के बाह्य आकार इत्यादि में कोई परिवर्तन नही होता; किंतु कुछ ऐसी बाते है जिनसे इन ग्रंथियों का उद्रेचन होना मानना पडता है।

वृद्धावस्था में इन निःस्रोत ग्रंथियों मे नाश आरंभ हो जाता है। उनमें कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिनसे उनकी क्रिया बन्द हो जाती है। इन सब ग्रंथियों का एक श्रृंखला है जिसके कारण यदि एक ग्रंथि नष्ट होती है तो उसका दूसरी ग्रंथि पर भी प्रभाव पडता है। अतएव कुछ लोगों का विचार है कि इन ग्रंथियों का उचित प्रकार से प्रयोग करने से वृद्धावस्था का रोग बहुत कुछ कम हो सकता है।

हमारी दैनिक क्रियाओं के करने के लिये ये ग्रंथियाँ आवश्यक हैं। हम देख चुके हैं कि हमारे शरीर के आकार, व्यवहार और भिन्न-भिन्न क्रियाओं पर इन ग्रंथियों द्वारा बनाई हुई वस्तुओ का कितना प्रभाव पडता है। यदि हृदय, फुस्फुस और मस्तिष्क जीवन के लिये आवश्यक हैं तो ये ग्रंथियाँ भी कुछ कम महत्त्व की नही है। पुरुष में यदि पुरुषत्व न हो तो उसका जीवन व्यर्थ है; स्त्री में यदि स्त्रीपन न हो तो वह अपना सांसारिक उद्देश पूरा नहीं कर सकती। यह गुण प्रदान करना इन ग्रंथियो का मुख्य काम है।

ज्ञानेंद्रियाँ

शरीर में पाँच बडी ज्ञानेंद्रियाँ है जिनसे वह भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है । रसना व जिह्वा के द्वारा वह रस का आस्वादन करता है। नेत्रों के द्वारा जगत् के सौंदर्य और प्रकृति की महिमा का अनुभव करता है। कर्णों द्वारा वायु मे उत्पन्न हुई लहरे कर्ण की झिल्ली मे होकर मस्तिष्क को शब्द का बोध कराती हैं। नासिका द्वारा उसे मालूम हो जाता है कि कोई वस्तु उसके प्रयोग करने योग्य है या नही । और अत में त्वचा की स्पर्श-शक्ति से उसको ज्ञान हो जाता है कि उस पर किसी प्रकार का आघात तो नही किया जा रहा है ।

ये सब ज्ञानेद्रियाँ हमारे अस्तित्व के लिये कैसी आवश्यक है? जो लोग दुर्भाग्य-वश किसी प्रकार किसी इद्रिय से वचित हो गए है वे उनका मूल्य पूर्णतया जानते है। जिन लोगों के नेत्र जाते रहते हैं वे अपना जीवन बिलकुल भार समझते हैं। पद-पद पर उनको ठोकर खानी पडती है। संसार के लिये उनका जीवन निरर्थक हो जाता है। जो लोग कर्णों से बधिर हो जाते

हैं उनके लिये संसार से शब्द का सौंदर्य और मधुरता मानों उठ जाती है। स्वाद की शक्ति का नाश होने से मनुष्य किसी प्रकार के रस का आनंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार दूसरी इंद्रियों को भी समझना चाहिए। शरीर में कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिसको शरीर सहज में त्याग सके, यद्यपि समय पड़ने पर सब कुछ करना पड़ता है।

जिह्वा—रस आस्वादन इस अंग का प्रधान कर्म है। भाषण करने में जो काम इसको करना पड़ता है वह स्पष्ट है। किंतु इसका ज्ञान कर्म एक विचित्र कर्म है। किस प्रकार जिह्वा तीखा, मीठा, नमकीन इत्यादि स्वादों को पृथक्-पृथक् पहचान लेती है?

जिह्वा मांस-पेशियो द्वारा निर्मित है। इन पेशियो के संकोच और विस्तार से उसके आकार मे परिवर्तन होते हैं। इन मांस-पेशियों के ऊपर एक श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है। किंतु इस स्थान की श्लैष्मिक कला मे यह विशेषता होती है कि उसमें बहुत से अंकुर ऊपर की ओर निकले रहते हैं। जिह्वा के पीछे के भाग को ध्यान से देखने से मालूम होगा कि वहाँ बहुत से दाने हैं। ये ही दाने अंकुर हैं।

ये अंकुर जिह्वा के आगे के तीन चौथाई भाग पर मिलते हैं। इसके पीछे नहीं होते। तीन प्रकार के अंकुर देखे जाते हैं।

१. खातवेष्टितांकुर—ये आठ व दस होते हैं और जिह्वा के पीछे के भाग पर स्थित होते हैं। सबसे बीच में एक हलका सा गढ़ा होता है। उसके चारों ओर एक हल्की सी गहराई होती है। उसके पश्चात् श्लैष्मिक कला एक दीवार की भाँति ऊँची होकर खात को वेष्टित कर देती है। इस दीवार में वे अंग रहते हैं जिनका कर्म रसास्वादन है। इनको स्वादकोष कहते हैं।

चित्र नं० ६३—जिह्वा का ऊपरी पृष्ठ, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के अंकुर स्थित हैं। चित्र में कंठ का पिछला भाग भी दिखाया गया है।
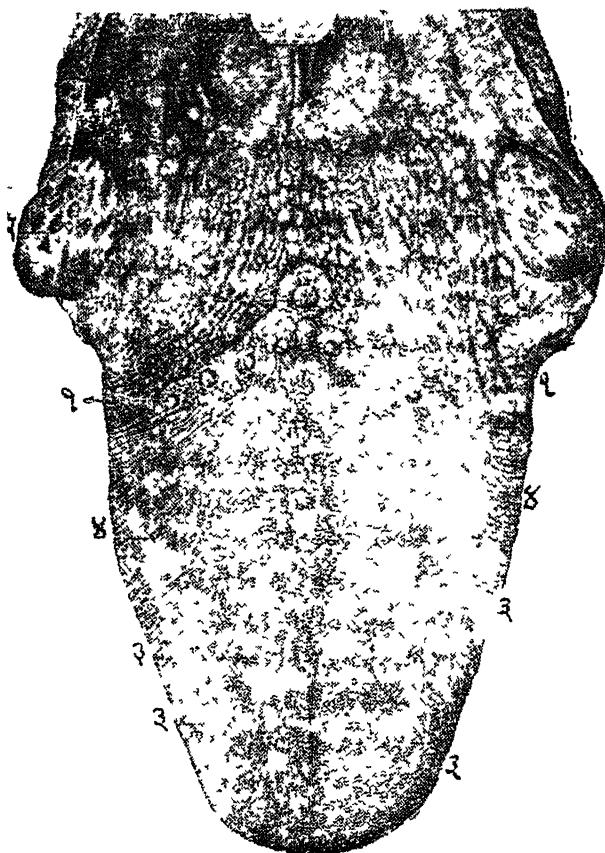
१—खातवेष्टितांकुर। २, ३—छत्रिकांकुर। ४—सूत्रांकुर।
५—गल-ग्रंथि (Tonsils)। (Sappey)

खात के भीतर बहुत छोटी-छोटी ग्रंथियाँ रहती हैं जो एक प्रकार का तरल बनाती हैं।

२. छत्रिकांकुर—ये अंकुर विशेषकर जिह्वा के किनारों और उसकी नोक पर स्थित होते है। यह नाम इस कारण रखा गया है कि इस प्रकार के अंकुरों का आकार छत्रिका नामक वनस्पति, जो वर्षाकाल में यतस्ततः उग आती है, के बहुत कुछ समान होता है।

३. सूत्रांकुर—जिह्वा के ऊपर बीच के भाग में ये अंकुर फैले रहते हैं। इनकी संख्या सबसे अधिक होती है। बहुधा इनके ऊपरी सिरे से बहुत बारीक सूत्र निकले रहते है जिनके कारण जिह्वा खुरदरी मालूम होती है। कुछ मांसाहारी व दूसरे पशुओं में ये सूत्र बहुत बडे और कडे होते हैं। इन्ही के कारण गाय, भैंस इत्यादि की जिह्वा पर हाथ फेरने से काँटे से चुभने लगते हैं।

स्वाद का काम खातवेष्टित और छत्रिकांकुरों का है। सूत्रांकुरों का कर्म स्वाद की अपेक्षा स्पर्श का ज्ञान करना अधिक है।

खातवेष्टित और छत्रिकांकुरों मे स्वादकोष पाये जाते हैं।

चित्र नं० १४—एक स्वादकोष का चित्र।
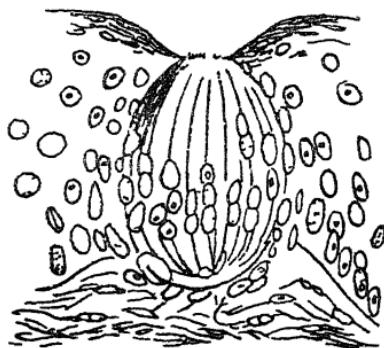
आस्वादन वास्तव में इन स्वादकोषों का कर्म है । इनकी रचना भी विचित्र होती है । लंबे-लंबे सेल आपस मे ग्रंथित होकर एक ग्रंथि के आकार में आ जाते हैं और उनके उपर के सिरे से बहुत सूक्ष्म बाल के समान सूत्र निकले रहते है। इन बीच के स्वादसेलों के ऊपर एक दूसरी भाँति के सेलों का आवरण चढा रहता है। इन स्वादकोषों के भीतर स्वादसेलों के चारों ओर नाड़ी के सूत्रो का एक जाल सा बना रहता है।

जिह्वा के पीछे का भाग, इसके दोनों किनारे और उसका अग्र भाग रसास्वादन की शक्ति रखते है। जिह्वा के ऊपरी तल में रसास्वादन की बहुत कम शक्ति है। मीठा स्वाद अनुभव करने की सबसे अधिक शक्ति जिह्वा के आगे की नोक मे है । कड़ुवा स्वाद जिह्वा के पीछे के भाग को अनुभव होता है और तीखा दोनो ओर के किनारो को। लवण का स्वाद भी जिह्वा के अग्र भाग की नोक को अन्य भागों की अपेक्षा अधिक मालूम होता है। यह प्रयोग बहुत सहज में किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को जल मे घोलकर एक उत्तम बालो के ब्रुश (Camel-hair brush) से जिह्वा पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगाना चाहिए। किंतु यह ध्यान रहे कि जिस ब्रुश से इन वस्तुओ को जिह्वा पर लगाया जाय उसकी नोक अत्यंत बारीक होनी चाहिए और भिन्न वस्तुओं के घोल को इस प्रकार लगाना चाहिए कि वे आपस में मिलने न पावे। नही तो कई स्वाद मिलकर बहुत से स्थान पर फैल जायेंगे और स्थान का निर्णय करना कठिन होगा। ऐसा करने से मालूम होगा कि कोई-कोई अंकुर तो चारों स्वादों को अनुभव करता है, किंतु दूसरे केवल एक ही स्वाद का अनुभव करते है। यह माना जाता है कि मुख्य चार स्वाद है जिनका ऊपर

उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त दूसरे सब स्वाद भिन्न-भिन्न स्वादों के मिलने से उत्पन्न होते है।

जिह्वा में तीन नाड़ियाँ आती है। प्रश्न यह है कि कौन सी नाडी स्वाद से संबंध रखती है ? इस पर बहुत मतभेद रहा है। किंतु आजकल यह माना जाता है कि स्वाद कर्म मुख्यतया जिह्वा कंठिका (Glosso pharyngeal) नामक नाडी का है जो मस्तिष्क से निकलनेवाली नवीं नाडी है। दूसरी नाडियाँ विशेषकर जिह्वा के पेशियों की संचालक है। इनमे स्वाद को अनुभव करने की बहुत कम शक्ति है।

चित्र नं० ६९—घ्राण-नाडी का नासिका-फलक पर वितरण।
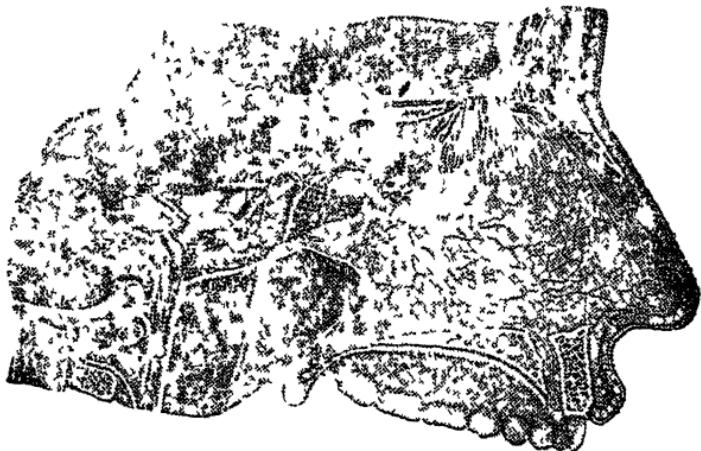
घ्राणेंद्रिय—नासिका घ्राणेंद्रिय है। इसका कर्म गंध का अनुभव करना है। यह शक्ति नासिका के आंतरिक रचना के ऊपर चढ़ी हुई श्लैष्मिक कला में स्थित है। वह भी सारी कला इस शक्ति से संयुक्त नहीं है। उसका थोड़ा-सा भाग गंध का अनुभव

करता है। कुछ पशुओं में इस कला का बहुत अधिक भाग इस शक्ति से सयुक्त होता है।

इस कला पर नाडियों के सूत्रों का एक जाल-सा फैला हुआ है, जैसा चित्र के देखने से स्पष्ट हो जायगा। ये सब घ्राण-नाडियों की शाखाएँ हैं जो मस्तिष्क से निकलनेवाली प्रथम नाडी है। गंध का अनुभव करना इसी का कार्य है। गंध के द्वारा उत्तेजित होकर ये नाडियाँ मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करती है।

यद्यपि मनुष्य में यह शक्ति बहुत कम विकसित हुई है, तो भी प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ है कि वह $\frac{६}{१००,०००,०००}$ रत्ती मुश्क तक को सूँघ सकता है। इस शक्ति की परीक्षा करने के लिये कपूर को जल में घोलकर काम में लाया जाता है। दो नलियों मे साधारण जल और दूसरी दो नलियों में कपूर का जल लिया जाता है। यह जल भिन्न-भिन्न शक्तियों का बनाया जाता है। प्रथम सबसे अधिक कपूर की मात्रावाले जल को सुँघाते हैं। पश्चात् धीरे-धीरे कपूर की शक्ति को घटाते जाते है और उन घोलों को क्रम से सुँघाते हैं। यहाँ तक कि जल और कपूर घोल से भिन्नता मालूम होनी बंद हो जाती है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का भी घ्राणेंद्रिय पर प्रभाव मालूम किया गया है।

नेत्र

नेत्रो का काम देखने का है। नेत्रों में जब कुछ विकार आ जाता है अथवा उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है तब हम कुछ भी नहीं देख सकते। किंतु तनिक सा विचार करने से मालूम होगा कि जिसको हम देखना कहते हैं, वह कर्म वास्तव में मस्तिष्क में होता है। नेत्र केवल बाह्य वस्तुओ के चित्र खींचनेवाले है; उन चित्रों को देखने और समझनेवाला मस्तिष्क है। जिस प्रकार केमरे के प्लेट पर बाह्य वस्तु का चित्र खिंच जाता है; किंतु उसको देखना और समझना व तैयार करना एक दूसरे ही मनुष्य का कर्म है, उसी प्रकार हमारे नेत्रों के अन्तिम पटल पर संसार का, जिसे हम अपने चारों ओर देखते है, एक चित्र खिंच जाता है; किंतु उसको समझना मस्तिष्क का कर्म है। मस्तिष्क में यह अद्भुत शक्ति है कि वह न केवल किसी वस्तु के चित्र को समझता ही है; किंतु उसे संग्रह कर लेता है और फिर काम पडने पर उसे स्पष्ट कर देता है। एक बार हम जिस वस्तु को देख लेते हैं, उसका हमारे मस्तिष्क में एक प्रकार का चित्र-सा बन जाता है, जो आवश्यकता न होने

पर हमारे ध्यान में भी नहीं आता । किंतु ज्यों ही हम उसको देखना चाहते है अथवा यदि उस वस्तु का हमें तनिक सा स्मरण भी हो आता है, तो वह मानसिक चित्र हमारे सामने आ जाता है ।

चित्र नं० ६६—दाहना नेत्र जैसा सामने की ओर से दीखता है ।
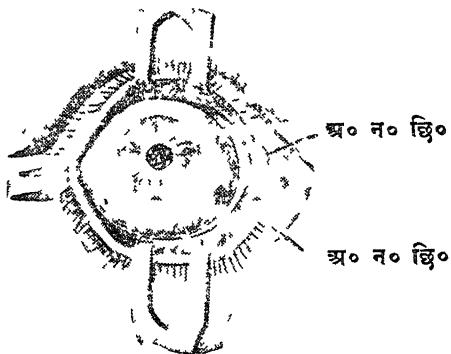
अ० न० छि०—अश्रुनलिका का छिद्र ।

हमारे दोनो नेत्र कपाल की दो नेत्र-गुहाओं में स्थित हैं । इन दोनों नेत्रों के गोलों को ऊपर से ढकनेवाले दो पलक होते है, जो उनकी रक्षा किया करते है । इन पलकों के किनारों पर कुछ बाल होते हैं, जिनको अक्षिलोम कहते हैं । इनका कर्म भी नेत्र की रक्षा करना है । वायु में सम्मिलित छोटे-छोटे कण इन बालों में फँस जाते हैं और उनसे नेत्र की रक्षा होती है ।

नेत्र-गुहा में ऊपर और बाहर के कोने में एक ग्रंथि रहती है, जिसका कर्म अश्रु बनाना है । अतएव यह अश्रुग्रंथि (Lacrimal gland) कहलाती है । उससे एक बडी नलिका निकलती है, जो ऊपर के पलक के नीचे रहती है । उससे कई छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती है, जिनके द्वारा अश्रु प्रत्येक समय नेत्रों के गोलकों

पर बहा करते है। इससे नेत्र के गोले कभी शुष्क नही होने पाते। एक नलिका नासिका के भीतर तक चली जाती है। यही कारण है कि अश्रु-प्रवाह के समय नाक से भी जल गिरने लगता है। वह वास्तव मे अश्रु ही होते है।

नेत्र की रचना।—चित्र को देखने से नेत्र की रचना सहज ही मे समझी जा सकती है। इसका आकार ऐसा है, जैसे दो गेंदों के, जिनमें से एक बडी और दूसरी छोटी हो, कुछ भाग काट दिए गए हो और फिर दोनो को एक दूसरे पर लगा दिया गया हो। इस प्रकार नेत्र के गोले का अग्र भाग एक छोटी गेद का छोटा टुकड़ा दीखता है, और पीछे का भाग बडी गेंद का बडा टुकडा मालूम होता है। इसकी आन्तरिक रचना ठीक एक फोटोग्राफी के केमरे के समान है। नेत्र के कर्म को समझने के लिये आवश्यक है कि इसकी रचना का भली भाँति निरीक्षण किया जाय।

नेत्र-गोलक का सबसे बाहरी भाग बहि पटल (Sclera) का बना हुआ है। यह पटल सौत्रिक तंतुओं से निर्मित है। इसके भीतर की ओर एक दूसरा पटल रहता है, जिसको मध्य पटल (Choroid) कहते है। मध्य पटल के भीतर की ओर एक तीसरा पटल है जो अन्तःपटल (Retina) कहा जाता है, और जो देखने के कर्म से विशेष संबंध रखता है। इस प्रकार यह गोला इन तीनों पटलो से बना हुआ है। इन पटलों के भीतर एक प्रकार की गाढी तरल स्वच्छ अत्यत पारदर्शक वस्तु रहती है। यह वस्तु नेत्र के अग्र भाग और पिछले भाग दोनों में भरी रहती है। इसके अतिरिक्त अग्र और पश्चात् भागों के बीच में एक ताल (Lens) स्थित है। इस ताल पर आगे की ओर मध्य पटल से निकला हुआ एक प्रवर्द्धन लगा रहता है, जो आयरिस

(Lris) कहलाता है । दोनों ओर के आयरिसों के बीच के छिद्र को तारा (Pupil) कहते है ।

सबसे बाहर का बहिःपटल जब नेत्र के अग्र भाग पर आता है, जहाँ पीछे की ओर आयरिस और तारा स्थित हैं, तो उसकी रचना कुछ बदल जाती है । वह बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, जिससे उसके द्वारा प्रकाश की किरणे भीतर प्रवेश कर सकें । यह भाग कनीनिका (Cornea) कहलाता है ।

चित्र नं० ६७—सिलियरी प्रवर्द्धन जैसे कि पीछे से दीखते हैं ।
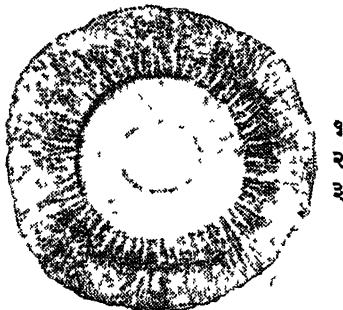
१—आयरिस का पिछला पृष्ठ । नेत्र-संकोचक-पेशी इसमें सम्मिलित है ।

२—मध्य पटल (Choroid) का अग्र भाग ।

३—सिलियरी प्रवर्द्धन (Ciliary processes) ।

पीछे का मध्य पटल वास्तव में नेत्र का रक्तमय पटल है, जो रक्त की अत्यंत सूक्ष्म नलिकाओं के मिलने से बना है । साथ में उनको आश्रय देने के लिये कुछ सौत्रिक धातु भी रहती है । यह पटल नेत्र-गोलक के चारों ओर होता हुआ आगे जहाँ ताल स्थित है वहाँ तक पहुँच जाता है । इसका अंतिम भाग कई प्रवर्द्धनों के

रूप में ताल के किनारों पर लग जाता है । ये सिलियरी प्रवर्द्धन (Cilsry Processes) कहलाते है। इन प्रवर्द्धनों के बाहर की ओर एक पेशी होती है, जिसका नाम सिलियरी पेशी (Ciliary mnscle) है ।

इस पेशी के अतिरिक्त तारे के चारों ओर अनैच्छिक मांस-पेशियों का एक हलका सा घेरा रहता है। यह पेशी कनीनिका का संकोचक होता है।

आयरिस के पीछे स्थित ताल एक कोष से ढका हुआ रहता है। इस ताल को एक बंधन सँभाले रहता है, जो एक ओर ताल से और दूसरी ओर सिलियरी प्रवर्द्धननों से लगा रहता है ।

वह स्थान, जहाँ बहिःपटल और कनीनिका का मेल होता है, नेत्रों के कई रोगों से संबंध रखता है। इसी स्थान पर सिलियरी प्रवर्द्धन, आयरिस और कनीनिका से संगम होता है । कनीनिका का सबसे पिछला परत और बीच का भाग दोनों आयरिस के साथ मिल जाते हैं। आयरिस के कुछ सूत्र और कनीनिका के सबसे पिछले परत के मिलने से एक बंधन बनता है, जिसको कनीनिका का सच्छिद्र बंधन (Ligmentum Pectenatum Iridis) कहते है । यह संगम का स्थल आयरिस का कोण (Iridic angle) कहलाता है । कोण के तल में आयरिस के सूत्र कुछ विच्छिन्न होते हैं और इनसे लसीका प्रवाह करता रहता है। इस स्थान में एक ओर तो लसीका बनता है, और दूसरी ओर उसका शोषण हो जाता है, जिससे लसीका संवहन का एक चक्र जारी रहता है ।

सबके भीतर अन्तःपटल स्थित है । देखने का कर्म इसी पटल का है। अतएव इसकी संपूर्णतः व्याख्या करना आवश्यक है। यह

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १६

चाक्षुष बिंब और पीत बिंदु
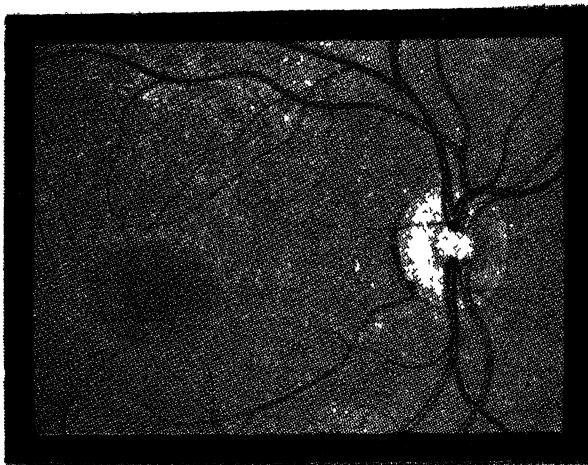
(From Swanzy's "Diseases of the Eye")

(हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ४४८

पटल नेत्र-गोलक के अगले $\frac{1}{6}$ भाग में नहीं रहता। सिलियरी प्रवर्द्धनो के पास ही उसका अंत हो जाता है। यह पटल वास्तव में नाडी के सूत्रों से बना हुआ है।

पीछे की ओर पटल पर एक छोटा सा उभार होता है, जिसकी परिधि $\frac{1}{24}$ इंच होती है। इसका रङ्ग कुछ हलका सा पीला होता है। इस उभार के बीच मे एक हलका सा गढा होता है। इस पीत रङ्ग के उभार को पीत बिंदु (Yellow spot) कहा जाता है। पीत बिंदु के लगभग $\frac{1}{10}$ इच भीतर की ओर वह स्थान है जहाँ नेत्र की दृष्टि-नाडी नेत्र के भीतर प्रवेश करती है। यह नाडी वास्तव में मस्तिष्क ही का एक भाग है, जो इस रूप मे नेत्र तक चला आता है। जिस स्थान पर यह नाड़ी नेत्र से निकलती है वहाँ बहुत से छिद्र रहते हैं।

अतःपटल को सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा देखने से मालूम होता है कि वह दस प्रकार के भिन्न-भिन्न स्तरो के मिलने से बना हुआ है। इन भागों में नाडी-सेलों की ही अधिकता दीखती है। इस पटल का विशेष भाग वह है, जिसको 'दंड और शंकु' (Rods and cones) का नाम दिया गया है। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के सेल होते है। दोनों के आकार में भिन्नता होने के कारण इनरो भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं।

चित्र को देखने से मालूम होगा कि दड और शंकु दोनों के शरीर दो भागो मे विभक्त किए जा सकते हैं। एक भाग तो डडे के समान है और दूसरा भाग जो पीछे की ओर रहता है, ये दोनों में भिन्न है। दंड का बाहरी भाग आकार में पहले भाग के ही समान है, किंतु वह स्वच्छ है। कोन का दूसरा भाग एक छोटे से नोकीले डडे के समान है, जो नीचे से चौडा है, किन्तु ऊपर जाकर पतला हो

जाता है। पक्षियों के अन्तःपटल में कोन अधिक होते हैं ; मनुष्य

चित्र नं० ६८—मनुष्य के अन्तःपटल के परिच्छेद का कल्पित चित्र।
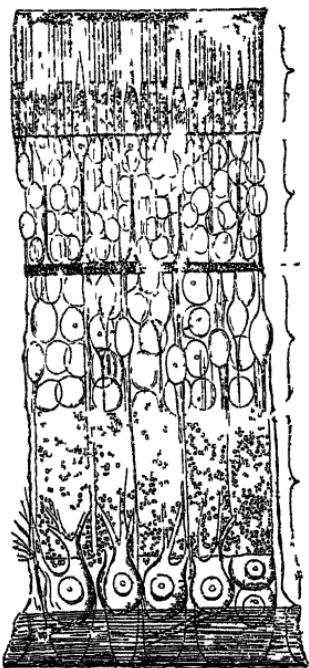
के नेत्र में दंड की अधिक संख्या मिलती है ; किंतु पीत बिंदु के गढ़े में केवल कोन ही उपस्थित है और उनकी संख्या ३०,००,००० के लगभग अनुमान की जाती है।

अंतःपटल का सबसे अंतिम भाग रंजक कणों का बना हुआ है। ये बड़े-बड़े अष्ट-कोणी सेल हैं और उनसे कुछ सूत्र निकल कर दंड के मूल को चारों ओर से घेर लेते हैं।

इस रचना के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नेत्र की बना-

मार्ग से वे फिर लौटती है। यह एक साधारण बात है कि यदि एक गेंद को दीवार पर मारें, तो दीवार से टक्कर खाकर गेंद फिर लौट आता है। जितने वेग से गेंद को मारा जायगा, उतने ही वेग से गेंद लौटेगा। यही बात प्रकाश की किरणों के बारे में सत्य है। यदि वह वस्तु, जिस पर प्रकाश की किरणें टकराती हैं, पूर्णतया समतल है तो प्रकाश की रश्मि उस वस्तु के तल तक पहुँचने में जो कोण बनाएगी, उसके लौटने में भी उतनी ही

चित्र नं० ६६
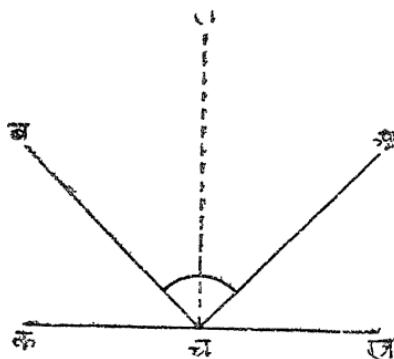
डिगरी का कोण बनेगा। चित्र के देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। क ख तल पर अ च प्रकाशरेखा गिरती है। च स्थान पर टकराकर च ब मार्ग से फिर लौट जाती है। किंतु लौटने में तल के साथ वह उतना ही कोण बनाती है जितना कि तल पर आने के समय उसने बनाया था। अ च ख कोण ब च क कोण के बराबर है। किंतु यदि क च ख तल मुड़ा हुआ होगा तो रेखा का मार्ग बिलकुल बदल जायगा। जितने मुड़े हुए तल हैं वे एक ताल की भाँति व्यवहार करते हैं।

चित्र नं० १००
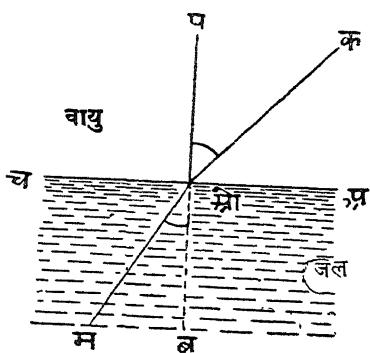
जब प्रकाश की रेखा को एक वस्तु से दूसरी वस्तु में होकर जाना पड़ता है तो उसका मार्ग बदल जाता है। दोनो वस्तुओं के सगम-स्थान पर प्रकाश-रेखा मुड जाती है। यदि रेखा वायु-मंडल से जल में जा रही है तो जहाँ वायु और जल मिलते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि जल के तल पर ही उसका मार्ग कुछ बदल जायगा। इस घटना को वर्त्तन कहते हैं।

मुडे हुए लेंस या ताल के तल पर प्रकाश-रेखा का व्यवहार भिन्न होता है। प्रत्येक लेंस का एक अक्ष होता है। यह उस रेखा का नाम है जो लेंस के गोलाई के केंद्र में होती हुई निकलती है। जो किरणें लेंस के अक्ष के समानातर जाकर उस पर टकराती हैं, वे लेंस में होती हुई वर्तित होकर पीछे की ओर को एक स्थान पर मुख्य अक्ष को काटती हुई निकल जायँगी। जिस स्थान पर पीछे की ओर वे अक्ष की रेखा से मिलती है, वह पीछे का किरण केंद्र कहलाता है। इसी प्रकार एक आगे का किरण-केंद्र होता है।

चित्र नं० १०१—मुड़े हुए पृष्ठ के द्वारा प्रकाश-किरणें।
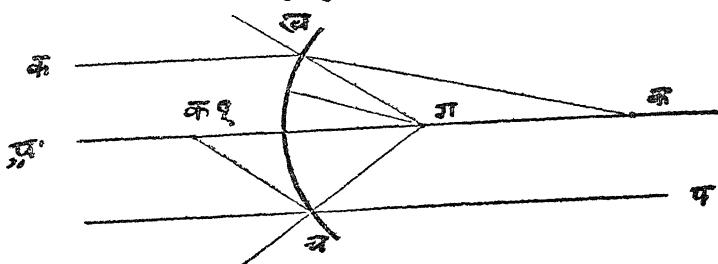
इन केंद्रों पर ही किसी वस्तु की छाया बनती है। हम फ़ोटो लेते समय व सूक्ष्मदर्शक यंत्र में किसी वस्तु का निरीक्षण करते समय उसके लेंसों को आगे-पीछे हटाते रहते हैं। यहाँ तक कि वस्तु का, जिसे हम देख रहे हैं, चित्र बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। यह घटाना-बढ़ाना इसी लिये होता है कि वस्तु की किरणें किरण-केंद्र पर जाकर छायाचित्र बनावें। जब तक यह नहीं होता, चित्र धुँधला रहता है।

हमारे नेत्र में कई मुड़े हुए तल हैं, जिन पर प्रकाश-किरणों को मुड़ना पड़ता है। सबसे पूर्व कनीनिका का ऊपरी तल एक मुड़ा हुआ ताल है। उसके पश्चात् अग्रकोष्ठ में एक तरल वस्तु भरी हुई है, जहाँ प्रकाश का वर्तन होता है। उसके पश्चात् फिर ताल आता है। इसके आगे-पीछे दोनों ओर के तल उन्नतोदर हैं। अतएव जब प्रकाश-रेखा इसके भीतर प्रवेश करती है तब उसका मार्ग बदलता है; जब उससे निकलती है तब फिर मार्ग का परिवर्तन होता है। ताल के पश्चात् फिर पश्चात् कोष्ठ में रेखा को विकृत होना पड़ता है। इस प्रकार अंतःपटल तक पहुँचते हुए प्रकाश-रेखा को कई स्थानों पर मुड़ना पड़ता है।

चित्र नं० १०२—नेत्र में प्रकाश की किरणों का मार्ग, जिससे अंतःपटल पर स्पष्ट प्रतिबिंब बनता है। चित्र से विदित होता है कि पटल पर बाह्य वस्तु का उलटा प्रतिबिंब बनता है।
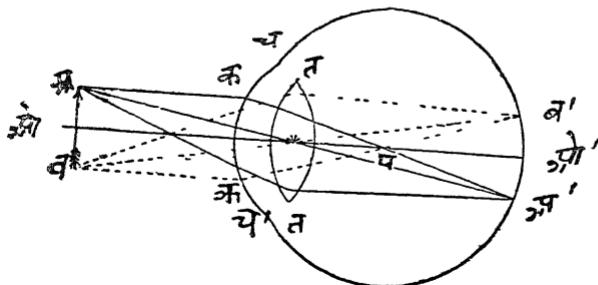
भौतिक नियमों के अनुसार हमारे नेत्र के भीतर जो चित्र बनता है, वह उलटा होता है। यदि हम किसी मनुष्य को देखते हैं तो उसका जो चित्र हमारे नेत्र के भीतर बनेगा, उसमें मनुष्य के पाँव तो ऊपर होगे और उसका सिर नीचे होगा। अंतःपटल एक मुड़ा हुआ तल है, किंतु चित्र इतने छोटे स्थान पर बनता है कि वह समतल ही समझा जा सकता है। किंतु यह एक गूढ़ प्रश्न है कि जब हमारे नेत्र के भीतर जो चित्र बनता है, वह उलटा होता है तो उस वस्तु व व्यक्ति को हम सीधा किस प्रकार से देखते है। यह मस्तिष्क का काम है। देखना और समझना, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नेत्र के कर्म नहीं, किंतु उनका संबंध मस्तिष्क से है। किसी वस्तु के आकार व स्थान का निश्चय नेत्र पर नहीं निर्भर करता; किंतु वह कार्य मस्तिष्क के द्वारा होता है। हम अनुभव द्वारा वस्तुओ के आकार का ज्ञान करना सीख गए है और उन्ही के द्वारा हम किसी वस्तु की दूरी का अनुमान करते हैं।

समीप-स्थान और अनुकूलन—नेत्रों के दूर और पास देखने की शक्ति परिमित है । यदि हम किसी वस्तु को पास करते जायँ तो कुछ दूरी तक तो उस वस्तु को हम सहज ही में देखते जायँगे; किंतु एक विशेष स्थान से आगे बढ़कर उसे देखने के लिये हमें प्रयत्न करना पडेगा । उस वस्तु को नेत्रों के बहुत ही पास ले जाने पर हमको उसे देखने में कष्ट होने लगेगा और अंत में हम उसे नहीं देख सकेंगे । यदि हम एक कागज़ पर दो बिंदु बना दें, जो एक दूसरे से $\frac{1}{12}$ इंच से अधिक दूरी पर स्थित न हों और उस कागज़ को हम कुछ दूरी से बराबर नेत्रों के पास लाते चले जायँ, तो कुछ समय के पश्चात् हमको वे दोनों बिंदु एक ही दिखाई देने लगेंगे । वह स्थान, जहाँ सबसे प्रथम दोनों बिंदु एक दिखाई देते हैं, 'समीप-स्थान' कहलाता है । वह नेत्र से कोई छः इंच की दूरी पर है । नेत्र को समीप देखने में प्रयत्न करना पड़ता है । यदि नेत्र उसी अवस्था में रहें जिसमें कि वह दूरवर्ती वस्तुओं को देखते हैं तो पास की वस्तुओं का अंतःपटल पर स्पष्ट चित्र नहीं बन सकता । ऐसा करने के लिये नेत्र के भीतर स्थित ताल को अपने आकार में कुछ परिवर्तन करना पडता है । इसका आगे का तल अधिक उन्नतोदर हो जाता है और इस प्रकार वह कनीनिका के अधिक पास पहुँच जाता है । कनीनिका का आकार पूर्ववत् ही रहता है । लेंस के पिछले पृष्ठ में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता । इस क्रिया को पश्चिमीय विद्वान् Accomodation कहते हैं; अर्थात् ताल अपने को आवश्यकतानुसार अनुकूल बना लेता है । यह कर्म सिलियरी पेशी का है, जिसके संकोच करने से ताल आगे को बढ़ जाता है । जब पेशी का संकोच समाप्त हो जाता है तो ताल फिर अपनी पूर्व दशा में आ जाता है ।

नेत्र दूरवर्ती वस्तुएँ देखने के लिए अनुकूल है। उनको देखने में ताल के आकार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

नेत्र के विकार—स्वस्थ उत्तम नेत्र की रचना इस प्रकार की होती है कि उसमें बाह्य वस्तुओं का चित्र अंतःपटल पर स्पष्ट बन जाता है। बाहर से जो प्रकाश को रेखाएँ नेत्र में प्रवेश करती हैं वे सब अंत.पटल के ऊपर जाकर मिलती हैं और वहीं उनका किरण-केंद्र बनता है। इस कारण जो चित्र वहाँ बनता है वह बिलकुल स्पष्ट होता है। किंतु ऐसा उन्हीं किरणों से होता है जो समानांतर नेत्र में प्रवेश करती हैं। भौतिक विज्ञान के अनुसार केवल वे रेखाएँ समानांतर होती हैं जो बहुत दूरी से आती हैं। अतएव इससे यह परिणाम निकलता है कि दूरवर्ती वस्तुओं का अंतःपटल पर सदा स्पष्ट चित्र बनता है। इसलिये नेत्र को अनुकूल करने की कोई आवश्यकता नहीं पडती। किन्तु समीपवर्ती वस्तुओं से जो किरणे आती हैं वे समानांतर नहीं होतीं। अतएव वे अंतःपटल पर स्पष्ट चित्र नहीं बना सकतीं। इस कारण ताल को अनुकूल होना पड़ता है।

१. समीप-दृष्टि (Myopia)—इस अवस्था का विशेष कारण नेत्र के गोले का लंबाई में अधिक हो जाना है। इस कारण अंतःपटल ताल से अधिक दूर हो जाता है। अतएव समानांतर किरणे, जो नेत्र में प्रवेश करती हैं, अंतःपटल तक पहुँचने से पूर्व ही अपना किरण-केंद्र बना देती है और फिर पटल पर पहुँचती हैं। वहाँ उनसे जो चित्र बनता है, वह स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि उनका किरण-केंद्र पटल पर नहीं बनता। जो किरणें पास की वस्तुओं से आती है वे ताल के द्वारा समानांतर होकर पटल पर पहुँचकर चित्र बनाती है, किंतु दूर की वस्तुओं का चित्र पटल से पूर्व ही बन

जाता है। इस प्रकार समीप-दृष्टिवाला मनुष्य पास की वस्तु तो देख सकता है, किन्तु दूर की वस्तु उसे नहीं दिखाई देती। इस

चित्र नं० १०३—दोषयुक्त दृष्टि की दशा में नेत्रगोलक की अवस्था।
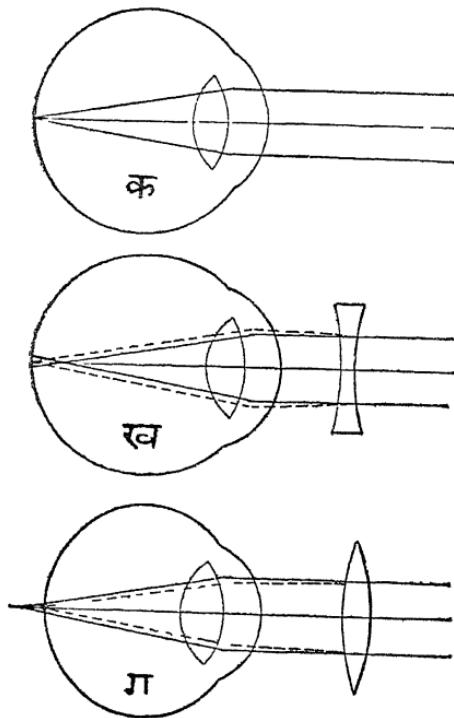
(Howell)

विकार को दूर करने के लिये ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि दूर से आनेवाली समानांतर किरणे अंतःपटल पर पहुँचकर किरण-केन्द्र बनावे। इसके लिये नेत्रों के आगे नतोदर (Concave) काँच के लेंसों का प्रयोग करना चाहिए। ये लेंस किरणों को फैला देते

हैं जिससे उनका किरण-केंद्र पीछे को हट जाता है। उचित लेंसों के द्वारा किरणों के मार्ग को इस प्रकार बदला जा सकता है कि वे अंतःपटल पर जाकर मिलें, जिससे चित्र स्पष्ट बने। दूरवर्ती वस्तुएँ इन लेंसों द्वारा स्पष्ट दिखलाई देने लगती हैं।

यह विकार कभी-कभी जन्म ही से होता है; किंतु अधिकतर जन्म के पश्चात् नेत्रों में उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण नेत्रों के बाहरी पटलों की दुर्बलता है। नेत्रों के आकार को बनाए रखने-वाले यह पटल और भीतर की वस्तु हैं जो पूर्व और पश्चात् कोष्ठ (Acqueous and Vitreous Humour) में भरी रहती है। इस वस्तु के कारण नेत्र के भीतर सदा कुछ भार (Intra Ocular Pressure) बना रहता है जिससे ये पटल ऊपर की ओर उभरे रहते हैं। किंतु साथ में उनको भी इतना कड़ा अवश्य होना पड़ता है, जिससे वे उस भार को सहन कर सकें। जब कभी इनमें दुर्बलता आ जाती है, चाहे वह शरीर की दुर्बलता से या किसी रोग से या किसी अन्य कारण से हो, तो ये आंतरिक भार को सहन न कर सकने के कारण ढीले होने लगते हैं। तिस पर यदि नेत्रों पर अधिक जोर डाला जाता है, जैसे कि छोटे-छोटे अक्षरों के पढ़ने में या बहुत पास से पढ़ने या कम प्रकाश में पढ़ने में, तो नेत्र के गोलक लंबे हो जाते हैं। इनकी कनीनिका से लेकर अंतःपटल तक की दूरी अधिक हो जाती है। अतएव पटल भी दूर हो जाता है और उससे समीप-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इस विषय के पंडितों का विचार है कि आजकल जो यह विकार इतना अधिक देखने में आता है, उसका मुख्य कारण बुरी भाँति से पढ़ना है। बहुत छोटे अक्षर, प्रकाश का अपर्याप्त होना, पुस्तक को उचित प्रकार से नेत्रों के सामने न रखना, इत्यादि ऐसी बातें हैं,

जिनसे नेत्रों पर बहुत ज़ोर पडता है और अंत में वे विकृत हो जाते हैं।

२. दूर-दृष्टि (Hyper metropia)—यह दशा अदूर-दृष्टि से बिलकुल विपरीत है। वहाँ नेत्र के गोले लंबे होते हैं और यहाँ उनका आकार छोटा हो जाता है। कनीनिका और अंत पटल की दूरी जितनी होनी चाहिए उससे कम होती है। यह अवस्था जन्म ही से उपस्थित होती है। दूसरे विकार की भाँति यह विकार किन्हीं कारणों से उत्पन्न नहीं होता, यह जन्म ही से होता है।

नेत्र के गोले के छोटे होने के कारण समानांतर किरणें उसके भीतर प्रवेश करके अन्तःपटल के पीछे की ओर किरण-केंद्र बनाती है। अतएव पटल पर चित्र न बनकर उसके पीछे बनता है। पटल पर प्रकाश-रेखाओं से धुँधले गोल चक्र से बन जाते हैं। अतएव इस दशा का यही इलाज हो सकता है कि किसी प्रकार अन्तःपटल की कनीनिका से दूरी बढाई जाय या किरणों को इस भाँति मोडा जाय कि वे अन्तःपटल ही पर आकर मिलें। उन्नतोदर (Convex) लेंस यही काम करता है। वह समानांतर किरणों को भी एक दूसरे के पास खींच देता है जिससे वे पटल के पीछे न मिलकर पटल ही पर मिल जाती हैं। विकार की अधिकता व न्यूनता के अनुसार लेंस को भी कम या अधिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। यदि विकार अधिक है, तो लेंस भी अधिक शक्ति-शाली चाहिए। कम विकार होने पर थोड़ी ही शक्ति के लेंस से काम चल जायगा।

३. वृद्धावस्था-दृष्टि (Presbyopia)—वृद्धावस्था में नेत्र के ताल में कठिनता आ जाती है। जैसे सहज मे वह युवावस्था में

आगे और पीछे को हट सकता था और उसके आकार में परिवर्तन हो सकता था, वैसे वृद्धावस्था में नहीं होता। अतएव ताल की अनुकूलन-क्रिया की शक्ति के कम हो जाने से यह दशा उत्पन्न होती है। रोगी किसी वस्तु को पास से स्पष्ट नहीं देख सकता। पढ़ने के लिये उसे पुस्तक नेत्रों से बहुत दूर रखनी पड़ती है, यहाँ तक कि अक्षर दिखाई देने बन्द हो जाते हैं। अतएव स्पष्ट है कि उन्नतोदर (Convex) लेंस की वृद्धावस्था में आवश्यकता होती है। इस प्रकार के लेंस से उस विकृत दशा में बहुत सहायता मिल सकती है।

जो लोग पूर्व ही से समीप दृष्टि से ग्रस्त होते हैं, उनको यह विकार इतनी जल्दी नहीं होता, जितना कि साधारण स्वस्थ नेत्र-वालों को हो जाता है। उन लोगों के ताल की अनुकूलन शक्ति के कम हो जाने से वे साधारण अवस्था में आ जायँगे।

४. असम दृष्टि (Astigmatism)—नेत्र की रचना बताते समय यह कहा गया था कि दो गेंदों के कटे हुए भागों को जोड़ देने से नेत्र के समान आकारवाली वस्तु तैयार की जा सकती है। कनीनिका एक गेंद का छोटा सा कटा हुआ भाग कहा जा सकता है। अतएव गोल गेंद के समान उसकी गोलाई चारों ओर समान होती है। जितनी गोलाई ऊपर से नीचे की ओर है उतनी ही गोलाई नेत्र के दाहिने कोने से बाएँ कोने की दिशा में है। ऐसा होने से प्रकाश की किरणों का वर्तन और उनका नेत्र के भीतर प्रवेश करके एक स्थान पर किरण-केंद्र बनाना ठीक प्रकार से होता है। यदि कनीनिका की भिन्न-भिन्न दिशाओं की गोलाई में अंतर पड़ जाय, ऊपर से नीचे की गोलाई और दाहिने से बाएँ कोने तक की गोलाई दोनों आपस में भिन्न हों, तो भौतिक विज्ञान के

नियमो के अनुसार दोनों दिशाओ पर पडनेवाली किरणों के मार्ग भिन्न हो जायेंगे और वे नेत्र के भीतर एक केंद्र पर नही मिलेगी।

असम-दृष्टि इसी को कहते हैं। कनीनिका की भिन्न-भिन्न दिशाओं की गोलाइयो में अन्तर पड जाता है। इस कारण किरणें नेत्र के भीतर एक केंद्र पर नही मिल सकती। वे भिन्न-भिन्न स्थानो पर बहुत सी और अस्पष्ट छाया बना देती है। ऐसे मनुष्य को जो ऐसे विकार से ग्रस्त हैं, भिन्न-भिन्न दशाओ में स्थित वस्तुएँ समान होने पर भी समान नहीं मालूम होतीं। साथ में जो चित्र दिखाया गया है उसको नेत्रो की परीक्षा करने में इस दशा के मालूम करने के लिये प्रयोग किया जाता है। जो लोग इस विकार से ग्रस्त होते है, उनको भिन्न-भिन्न रेखाओ का वर्ण भिन्न-भिन्न दीखता है। कोई रेखा अधिक गहरे काले रङ्ग की दीखती है, किसी का रङ्ग हलका मालूम होता है। कभी-कभी

चित्र नं० १०४
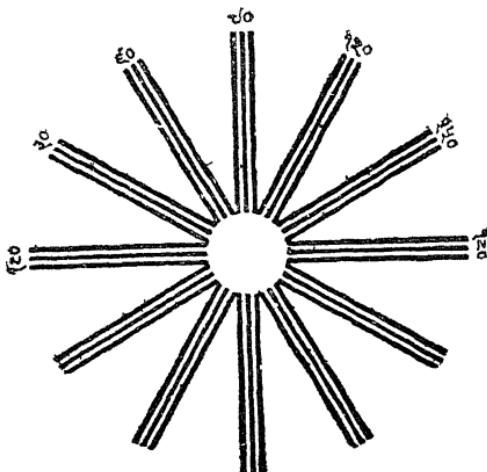
(Howell)

किसी को सब रेखाएँ एक समय में दिखाई ही नहीं देतीं । इसका कारण यही है कि कनीनिका क तल पर पड़नेवाली किरणे नेत्र के भीतर एक स्थान पर नहीं मिलतीं ।

यह विकार कुछ न कुछ सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति के नेत्रों में रहता है । आकाश में तारे जो समान दिखाई देते हैं, उसका कारण यही है कि हमारी आँखों में यह विकार उपस्थित होता है । साधारणतया यह विकार कनीनिका में रहता है । किंतु कभी-कभी ताल में भी पाया जाता है । इसको दूर करने के लिये एक विशेष प्रकार के लेंस प्रयोग किए जाते हैं जिनको Cylindrical कहते हैं ।

ऊपर कहे हुए विकारों के अतिरिक्त नेत्रो में कुछ और भी दोष पाए जाते हैं । साधारणतया जब किसी ताल के द्वारा प्रकाश-किरणे निकलती है तो ताल के सब भागों से प्रकाश-किरणों का समान वर्तन नहीं होता । उसके किनारे जितना अधिक वर्तन कर सकते हैं उतना ताल का मध्य भाग नहीं कर सकता । इस कारण चित्र के स्पष्ट होने में संदेह है । 'इसको गोला पेरण' (Spherical aberration) कहते हैं । साधारण यंत्रो मे—जैसे फ़ोटोग्राफ़ी का केमरा, दूरबीन इत्यादि—इस दोष को दूर करने के लिये एक ऐसा प्रबंध रहता है जिससे प्रकाश-किरणे लेंस के किनारों पर नहीं पडने पातीं । इसको Diaphragm कहते है । इसके बीच में एक छिद्र होता है जिसमें होकर प्रकाश की किरणें लेंस तक पहुँचती है । वह छिद्र छोटा या बडा किया जा सकता है । नेत्रो में भी आयरिस यही काम करता है । वह जितनी आवश्यकता होती है उतना ही प्रकाश नेत्र के भीतर जाने देता है । जिस समय नेत्रो का तारा संकुचित होता है, सूर्य का प्रकाश तेज होता है और देखे जानेवाली वस्तु उचित दूरी पर

होती है, उस समय नेत्र में उस वस्तु का बहुत स्पष्ट चित्र बनता है। नेत्र में किरणें काफी पहुँचती हैं, किंतु थोड़े से स्थान में होकर पहुँचती है।

साधारण तालों में एक और विकार होता है। जिस समय किसी काँच के टुकड़े या ताल के द्वारा प्रकाश जाता है तो वह ताल प्रकाश को उसके अवयव वर्णों में, जिनका उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है, विभक्त करने का उद्योग करता है। उसके लिये दूरबीन इत्यादि यंत्रों में कई प्रकार के प्रबंध रहते हैं। यहाँ कई लेसों को, जो भिन्न-भिन्न भाँति के होते हैं, मिलाकर ऐसा प्रबंध कर दिया जाता है कि एक लेस से उत्पन्न हुए विकार को दूसरा दूर कर दे। इस प्रकार उस 'वर्णापेरण' (Chromatic aberration) की घटना को रोक दिया जाता है। संभव है कि नेत्र में भी, जो भिन्न-भिन्न भागों में से निकलकर प्रकाश को अंतःपटल तक पहुँचना पड़ता है, उस सबका यही अभिप्राय हो। यदि एक वस्तु कुछ इस प्रकार का विकार उत्पन्न करे तो दूसरी उसको दूर कर दे। जो कुछ भी हो, किंतु सबका परिणाम यह होता है कि नेत्र में वर्णापेरण की घटना बिलकुल ही नहीं होती। किंतु जब चित्र उचित स्थान पर नहीं बनता, किरण-रेखाओं का किरण-केंद्र अंतःपटल पर नहीं बनता तो यह घटना कुछ कुछ होने लगती है।

अंतःपटल का कर्म—जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे यह भली भाँति विदित हो चुका होगा कि देखने का काम अंतः-पटल ही का है। इस पर बाह्य वस्तुओं का चित्र बनता है जिससे उसके सेल उत्तेजित होकर मस्तिष्क को उत्तेजना भेजते हैं और मस्तिष्क उनको ग्रहण करता है। इस पटल में जो दंड और

शंकु हैं, इन सबों का नाड़ी के सूत्रों से संबंध है। वास्तव में सारा अंतःपटल नाडी-सेल और सूत्रों का बना हुआ है।

बाहर की सब उत्तेजनाएँ ग्रहण करनेवाला अंतःपटल ही है। जिस स्थान पर दृष्टि-नाड़ी नेत्र से निकलती है उस स्थान पर उस पटल में दंड और शकु नहीं है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यह स्थान दृष्टि-शक्ति से हीन है। इस कारण वह अंध-स्थान (Blind spot) कहलाता है। यदि किसी वस्तु की छाया इस स्थान पर पड़ती है तो वह वस्तु नहीं दीखती। किंतु ज्यों ही वह वस्तु तनिक इधर-उधर को हटती है तो फिर दिखाई देने लगती है। कभी-कभी यह होता है कि नेत्र को एक ओर से दूसरी ओर घुमाने मे क्षण भर के लिये एक काला सा बिंदु वायु में दीख जाता है। यह सब इस अंध स्थान के कारण होता है।

इन दंड और शंकुओं के भी कर्म भिन्न हैं। इन दोनों की रचना में भिन्नता है। आकार दोनों का पृथक् है। दंड में एक प्रकार का रंग होता है जो शंकु में नहीं होता। इसके अतिरिक्त रात्रि में निकलनेवाले पक्षियो के जैसे उल्लू इत्यादि के नेत्रों में दंड को बहुत अधिकता मालूम होती है। जिन मनुष्यो में रंगों में भेद करने की शक्ति नही होती, अतःपटल के उस भाग में, जो रंग भेद करने में अशक्त होता है, शकु अनुपस्थित होते है। कुछ वैज्ञानिको का सिद्धांत है कि रग का भेद करना केवल शकुओं का काम है। प्रकाश और अँधेरे में भिन्नता करने की शक्ति दड मे है। वह रग में भेद नहीं कर सकते। अँधेरे में देखना भी दंड ही का काम है। किंतु दिन के प्रकाश में शकु देखने का काम करते है। अतएव जिन लोगो में रंग मे भेद करने की शक्ति नही होती

उनमें यह प्रतीत होता है कि कोण पूर्णतया विकसित नहीं होते अथवा उनमें कुछ विकार आ जाता है। जिन लोगों को रतौंधी आती है, जो दिन के प्रकाश में ठीक प्रकार से देख सकते हैं, किंतु रात्रि में जिनको नही या कम दिखाई देता है उनके दंड विकृत होते हैं।

हमको रंग क्यों दिखाई देते हैं ?—इसके संबंध में कई सिद्धांत हैं, किंतु इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर कोई भी नही देता। अधिकतर सिद्धांत कोई न कोई रासायनिक वस्तु को इसका कारण मानते है। यद्यपि इनकी संख्या बहुत है, किंतु उनमें मुख्य निम्न-लिखित हैः—

१. यंग-हेल्महोज़ (Young-Helmholtz) का सिद्धांत—ये दोनों लोग यह मानते है कि वास्तव में तीन मुख्य रग होते हैं; कासनी, हरा और लाल। इन तीनो के साथ तीन रासायनिक वस्तुएँ होती है जो अंतःपटल में उपस्थित रहती है। जब हम किसी रंग को देखते है तो इन तानों वस्तुओ में से कोई एक या अधिक वस्तुएँ उत्तेजित हो जाती है। और कुछ विशेष नाडी-सूत्रों को उत्ते-जित करती हैं जो मस्तिष्क के कुछ केंद्रों को, जो इन रंध्रों से संबंध रखते है, उत्तेजनाएँ पहुँचाती है। उसी के अनुसार हमको वर्ण का अनुभव होता है। इन लोगों का कहना है कि इन तीन रगो के अतिरिक्त और सब रंग इन्हीं मुख्य रगों के मिश्रण से बनते हैं। किसी रंग मे इनमे से किसी एक रग की अधिकता होती है, दूसरे में दूसरे की। इसी भाँति इन रंगों की मात्रा की भिन्नता से रंगो में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। जब तीनों रंगो की समान उत्तेजना होती है और तीनो रासायनिक वस्तुएँ समान कार्य करती है तो उससे श्वेत रंग उत्पन्न होता है। जब उनमें से

किसी की भी उत्तेजना नहीं होती तो काला रंग मालूम होने लगता है। अर्थात् अंतःपटल का विश्राम करना ही मानो काला रंग दीखना है। इस सिद्धांत के अनुसार विशेष रंगों के लिए अंतःपटल में विशेष सेलों की उपस्थिति और उनके साथ कुछ विशेष सूत्रो का संबंध मानना पड़ता है। न केवल यही, किंतु मस्तिष्क में भी इन रंगो के लिए विशेष केंद्रों का अनुमान करना पड़ता है।

सिद्धांतनिर्माताओं का कथन है कि हम किसी एक विशेष रंग को उत्तेजित नहीं कर सकते। प्रत्येक किरण एक से अधिक व सब रंगों को उत्तेजित कर देती है। जब हमको कोई एक शुद्ध रंग, जिनका ऊपर नाम लिया जा चुका है, दीखता है तो उसके साथ और दूसरे रंग भी रहते हैं।

इस सिद्धांत पर बहुत से दोष उठाए गए हैं और बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका वह उत्तर नहीं दे सकता।

२. हेरिंग (Herring) का सिद्धांत—ऊपर के सिद्धांत के समान ही हेरिंग महाशय तीन रासायनिक वस्तुएँ मानते हैं। किंतु वह उनका प्रबंध भिन्न प्रकार से मानते हैं। उनके मत के अनुसार इन तीन वस्तुओं से छः प्रकार के रंगो का ज्ञान होता है। प्रथम वस्तु को श्वेत-काला नाम दिया गया है। उनका कहना है कि जब यह वस्तु अपने अवयवों में टूट जाती है, अर्थात् उसका विश्लेषण हो जाता है तो उससे श्वेत रंग का ज्ञान होता है। किंतु फिर जब उन अवयवो का संश्लेषण हो जाता है तो उससे काले रंग का ज्ञान होने लगता है। इनका विश्लेषण रंग की किरणों पर निर्भर करता है। इसी प्रकार अंतःपटल मे लाल-हरी और पीली-नीली वस्तु मानी गई हैं। प्रकाश की लंबी लहरो की जब लाल-हरी

वस्तु पर क्रिया होती है तब उसका विश्लेषण हो जाता है जिससे लाल रंग का ज्ञान होने लगता है। किंतु जब छोटी लहरें क्रिया करती है तो उनसे संश्लेषण होकर हरा रग प्रतीत होने तलगा है। इसी प्रकार पीली-नीली वस्तु की भी व्याख्या की गई है।

यह सिद्धांत किसी सीमा तक ऊपर के सिद्धांत की अपेक्षा उत्तम कहा जा सकता है। यह कई बातो की, जिनको प्रथम सिद्धात नही बता सकता है, अच्छी प्रकार से व्याख्या करता है।

३ ऐड्रिज-ग्रीन (Edridge Green) का सिद्धांत—इस सिद्धात के अनुसार जिस समय हमारे नेत्र मे किसी विशेष रंग की लहरे प्रवेश करती है तो अंतःपटल के दड एक प्रकार के रंग के कणों को बनाते हैं। इसको Visual Purple कहा जाता है। यह वस्तु शकुओ को उत्तेजित करती है और वे नाडी के सूत्रों द्वारा तुरत ही मस्तिष्क के केंद्रों को सूचना भेजते है। यह उत्तेजना प्रथम एक ऐसे केंद्र मे जाती है जिसका कर्म केवल प्रकाश अनुभव करने का है। उसके पश्चात् दूसरे केंद्र में जाती है जो रग का ज्ञान कर सकता है। इस केंद्र में तीन प्रकार के प्रबध है जो मुख्य तीन रगो—लाल, हरे और नीले—से पृथक्-पृथक् उत्तेजित होते है। इनके अतिरिक्त दूसरी लहरे भी उनको उत्तेजित कर सकती हैं। किंतु उत्तेजक लहरें जितनी इन रगो की लहरो के अधिक समान होंगी उतनी ही उनसे उत्तेजना भी अधिक होगी। यदि मान लिया जाय कि नेत्र पर पीले रग की किरणें पड रही हैं तो वह पहले दडों से रग के कण बनवावेगी जो शकुओं को उत्तेजित करके मस्तिष्क के केंद्रो को उत्तेजना भिजवाएँगे। शंकु दृष्टि-नाडी के सूत्रों द्वारा केंद्रो को उस प्रकार की उत्तेजना भेजैंगे जैसी कि पीले प्रकाश की लहरो से उत्पन्न होती हैं। किंतु साथ में दूसरे

प्रकार की उत्तेजनाएँ भी होंगी जो लाल या हरे के बहुत कुछ समान हैं। इससे लाल और हरे रंग का केंद्र भी कुछ अनुभव करेगा। पीले रंग की लहरों से भी यही केंद्र उत्तेजित होंगे, किंतु जितनी उत्तेजना उत्पन्न करने की इन लहरों में शक्ति है उसी के अनुसार उनमें उत्तेजना उत्पन्न होगी।

जो मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार के रंगो मे भिन्नता मालूम करने में असमर्थ होते हैं उनमें ऊपर कही हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु उपस्थित नहीं होती। ऊपर कहे हुए सिद्धांत इस घटना की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं।

चित्र नं० १०९
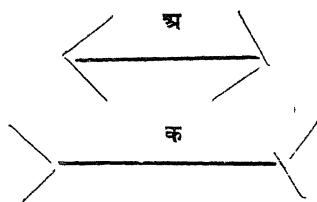
जैसा पहले कहा जा चुका है, हम दूरी और आकार का ज्ञान अनुभव के द्वारा करते है। किंतु उसमें बहुत बार भूल हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि अ और क दोनों रेखाएँ बराबर हैं, किंतु देखने में क रेखा अ रेखा से बडी मालूम होती है। न केवल यही, किंतु कभी-कभी हमको ऐसी वस्तु दिखाई देने लगती है जिसका वहाँ अस्तित्व भी नहीं है। इस कारण हमको कभी-कभी अपनी ज्ञानेंद्रियों के द्वारा प्राप्त किए हुए ज्ञान में संदेह भी करना पडता है।

पश्चात्-प्रतिबिंब—यदि हम किसी वस्तु को कुछ समय तक

ध्यान-पूर्वक देखने के पश्चात् अपने नेत्र बंद कर लें तो हमको उस वस्तु की छाया फिर भी दिखाई देती रहेगी। यह पश्चात्-प्रतिबिंब कहलाते हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी छाया भी उसी रंग की दीखती है, जिस रंग की वह वस्तु होती है। किंतु दूसरे प्रकार की, विशेषकर रंगीन वस्तुओं की जो छाया बनती है उसका रंग उस वस्तु के रंग से भिन्न होता है। यदि बिजली की बत्ती या किसी दूसरे तीव्र श्वेत प्रकाश को कुछ समय तक देखकर अपने नेत्र बंद कर लें तो हमें वह वस्तु वैसी ही कुछ समय तक दिखाई देती रहेगी। किंतु किसी रंगीन वस्तु को, जैसे कि लाल रंग की वस्तु को ध्यान से देखने के पश्चात् यदि हम

चित्र नं० १०६—दाहने नेत्र की संचालन मांस-पेशी।
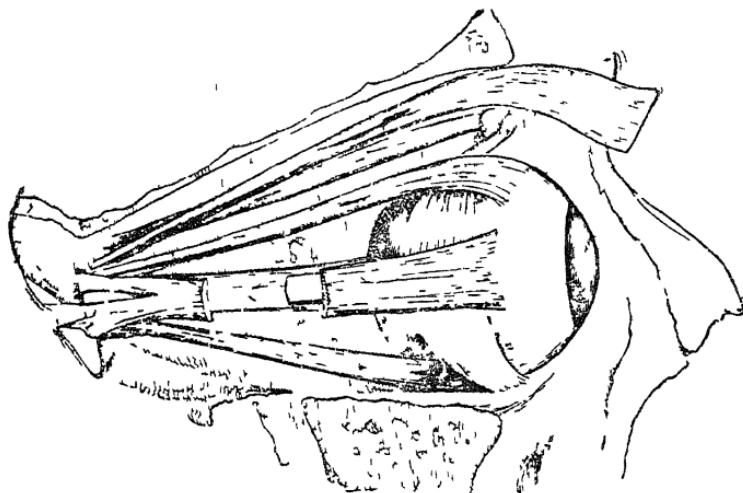
अपने नेत्र बंद करें तो पश्चात्-प्रतिबिंब लाल रंग का न दिखाई देगा; किंतु वह कुछ नीलापन लिए हुए हरे रंग का दिखाई देगा।

यदि रंगीन वस्तु को ध्यान से देखकर आँखों को एकदम किसी श्वेत वस्तु पर घुमा दिया जाय या किसी श्वेत कागज पर आँखे जमा दी जायँ तो पश्चात्-प्रतिबिंब अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगते है। यदि डूबते हुए सूरज को कुछ समय तक ध्यान से देखने के पश्चात् उस पर से आँखे हटाकर दूसरी ओर को देखने लगेंगे तो कई प्रकार के रगो के प्रतिबिंब दिखाई देते हैं, जो एक दूसरे के पश्चात् शीघ्रता से आँखों के सामने आ जाते है।

कर्णेन्द्रिय

श्रवण कर्णेन्द्रिय का कर्म है । शब्द का ज्ञान करानेवाला

चित्र नं० १०७—कर्ण के भिन्न-भिन्न भागों का चित्र ।
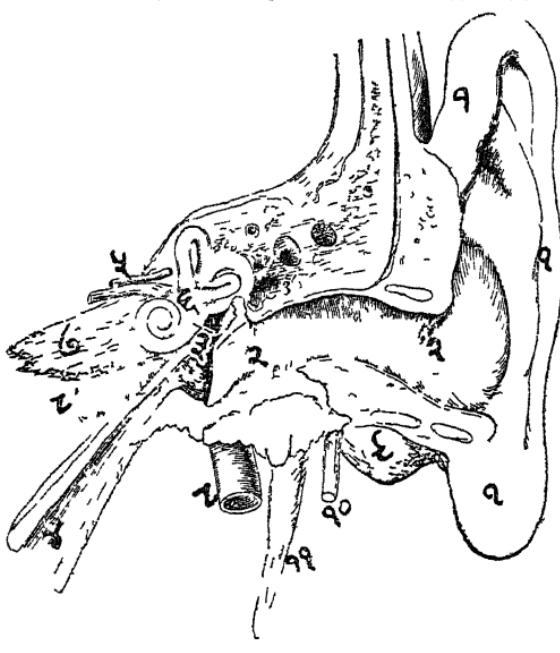
चित्र नं० १०७ का परिचय ।

बाईं ओर की शंखास्थि को कोमल अंगों के साथ कपाल से भिन्न करके उसका एक भाग काट दिया गया है । जिससे बाह्य कर्ण-गुहा, कर्ण-पटह, मध्य कर्ण और कर्ण-कंठ नाली का एक भाग कट गया है । अतःकर्ण दिखाई दे रहा है ।

१—कर्णपाली

२,२—बाह्य कर्णगुहा

२',२'—कर्ण-पटह

३—कर्ण-अस्थियों की शृङ्खला

४—कर्ण-कंठ नाली

५—आंतरिक कर्ण-गुहा

६—कर्ण-कुटी, जिसके एक ओर अर्द्धचद्र नलिकाएं हैं और दूसरी ओर कोक्लिया है ।

७—शंखास्थि का भाग

८—अंतर्मातृका धमनी

९—शंखास्थि का एक भाग

१०—मौखिकी नाड़ी

११—शंखास्थि का शिफा प्रवर्द्धन

यंत्र कर्ण है। इसकी रचना भी नेत्र से कम अद्भुत नहीं है। शरीरांग-विद्या के विद्वानों ने मनुष्य के कर्ण को तीन भागों मे विभाजित किया है। बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण और अंतस्थ कर्ण।

कर्ण का जितना भाग बाहर दिखाई देता है और उसके बीच से भीतर को जाती हुई नली जो आगे जाकर एक झिल्ली पर समाप्त होती है जिसको कान का परदा कहते हैं, यह सब बाह्य कर्ण के भाग हैं। बाह्य कर्ण कान की झिल्ली पर जाकर समाप्त हो जाता है। इस झिल्ली के दूसरी ओर से मध्य कर्ण आरंभ होता है और भीतर को ओर $\frac{1}{2}$ इंच तक चला जाता है। मध्य कर्ण का अधिक भाग शंखास्थि के भीतर रहता है।

कान की झिल्ली को वैज्ञानिक भाषा में कर्ण-पटह (Tympanic membrane) कहा जाता है। यह झिल्ली बाह्य कर्ण के अंत पर रहती है। साधारणतया कान को देखने से इस झिल्ली को नहीं देखा जा सकता। इसको देखने के लिये कर्णदर्शक यंत्र (Auro-cope) की आवश्यकता होती है। इस यंत्र के द्वारा देखने से मालूम होता है कि यह पटह बिलकुल सीधा नहीं रहता, किन्तु टेढा रहता है। इसके बीच का भाग भीतर की ओर दबा रहता है, ऊपर और नीचे की ओर पटह के किनारे आगे की ओर उभरे रहते है; किंतु नीचे की अपेक्षा पटह ऊपर की ओर अधिक आगे बढ़ जाता है। जिस स्थान पर पटह भीतर की ओर दबा रहता है, वह स्थान नाभि कहलाता है। झिल्ली को ध्यान से देखने से उसमें एक श्वेत चमकती हुई रेखा ऊपर से नाभि तक आती हुई दिखाई देती है। यह रेखा वास्तव में मध्य कर्ण की एक अस्थि के एक भाग की छाया है। इस अस्थि को मुद्गर कहते हैं।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी एक दूसरी अस्थि का भी कुछ भाग दिखाई देने लग जाता है।

यह पटह एक चमकती हुई श्वेत गोलाकार झिल्ली के समान दिखाई देता है। स्वस्थ दशा में यह अत्यत स्वच्छ दिखाई देती है। किंतु जब इससे शोथ आ जाता है अथवा इस पर घाव पड जाता है तो इसका दृश्य विकृत हो जाता है। भीतर की अस्थियाँ नहीं दिखाई पड़ती और न इसमें किसी प्रकार की चमक ही दिखाई देती है। कभी-कभी इसमें छिद्र हो जाते हैं जिससे कान बहने लगता है।

मध्य कर्ण एक छोटी सी कोठरी है जिसकी लबाई, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आध इंच के लगभग है। इसमें तीन अस्थियाँ रहती हैं जिनको चित्र द्वारा पहले दिखाया जा चुका है। सबसे बड़ी अस्थि जिसको मुद्गर (Malleas) कहते हैं उसका बडा प्रवर्द्धन पटह की नाभि पर लगा रहता है। दूसरे भाग से यह अस्थि दूसरी अस्थि, जिसको निहाई (Incus) कुछ लोगों ने कहा है, से मिली रहती है। यह नेहाई अस्थि भी एक ओर तो मुद्गर से जुडी रहती है; किंतु दूसरी ओर तीसरी अस्थि से, जिसका आकार रकाब के समान होने से उसको रकाब कहा गया है, मिली रहती है। इस अस्थि का चौडा भाग एक छिद्र द्वारा अन्तस्थ कर्ण से मिला रहता है। इस प्रकार बाह्य कर्ण से अन्तस्थ कर्ण तक अस्थियों की एक शृंखला बन जाती है। यदि बाह्य कर्ण के पटह में किसी प्रकार की झनझनाहट और कपनाएं उत्पन्न होती हैं तो वह इन अस्थियों की शृंखला द्वारा अतस्थ कर्ण तक पहुँच जाती है। इस मध्य कर्ण से एक नाली गले में जाकर खुलती है। इस कारण गले के भीतर जब कुछ शोथ उत्पन्न हो जाता है तो

इससे इस नली का मुख बंद हो जाने या नलिका के शोथयुक्त हो जाने से मध्य कर्ण में वायु नहीं पहुँच सकती। इससे कर्ण-पटह के दोनों ओर वायु दबाव के भिन्न हो जाने से बधिरता उत्पन्न हो जाती है। गले का शोथ नलिका द्वारा मध्य कर्ण तक पहुँच सकता है। इससे भी सुनने में कठिनता उत्पन्न हो सकती है। मध्य कर्ण का सारा आंतरिक भाग एक श्लैष्मिक कला से ढका रहता है।

जहाँ मध्य कर्ण का अंत होता है वहाँ अंतस्थ कर्ण का प्रारंभ होता है। यही श्रवण यंत्र का मुख्य भाग है। इसकी रचना भी बड़ी ही विचित्र और गूढ़ है। यहाँ पर श्रवण नाड़ी के अत्यंत सूक्ष्म सूत्र शंखास्थि के भीतर कुछ खोखले स्थानों में स्थित एक विचित्र प्रकार के कोष्ठ और नलिकाओं में फैले रहते हैं।

मध्य कर्ण की रकाब नामक अस्थि का चौड़ा भाग जिस स्थान पर अंतस्थ कर्ण में लगा रहता है वह उसका बीच का भाग है। उसके पीछे की ओर तीन अर्द्धचंद्राकार नलियाँ रहती हैं जैसा चित्र से प्रकट है। आगे की ओर जो भाग है वह ठीक शंख के ऊपरी भाग के समान दिखाई देता है। इसको कोक्लिया (Cochlea) कहते हैं। इस प्रकार अंतस्थ कर्ण तीन भागों का बना होता है—१ कर्णकुटी, २ कोक्लिया और ३ अर्द्ध-चंद्राकार नलिका। इन रचनाओं की दीवारें शंखास्थि से बनी हुई हैं और जो अस्थि का भाग इनके बनाने में भाग लेता है वह दूसरे भाग की अपेक्षा अधिक कठिन और दृढ़ है। अस्थि के भीतर झिल्ली से बने हुए भिन्न-भिन्न भाग रहते हैं। इस प्रकार अस्थि-निर्मित अंतस्थ कर्ण के भीतर झिल्ली-कृत अंतस्थ कर्ण रहता है। झिल्ली से बनी हुई नलिकाएँ, कोक्लिया और कर्ण-कुटी शंखास्थि के समान

आकार के गुहाओं मे स्थित होती है। इस भाग का कर्म समझने के लिये इनमें से प्रत्येक भाग का कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

कर्ण-कुटी—यह अंतस्थ कर्ण का मध्य भाग है। इसके एक ओर कोक्लिया और दूसरी ओर अर्द्धचंद्राकार नलियाँ स्थित है। सारे यंत्र में सबसे अधिक फूला हुआ भाग यही दिखाई देता है। इसका आकार सब स्थानो पर समान नही है। उसके दीवारों में भीतर की ओर कई सूक्ष्म छिद्र हैं जिनमें होकर श्रावणी नाडी के सूत्र कर्ण के भीतर प्रवेश करते है। बाहर की ओर एक बडा छिद्र होता है जिसमें भीतर की ओर एक झिल्ली बनी रहती है। रकाब नामक अस्थि का चौडा भाग इसी छिद्र मे रहता है। इस छिद्र का आकार कुछ-कुछ अडे के समान है। इसके आगे को ओर एक दूसरा छिद्र होता है जिसके द्वारा कोक्लिया और कुटी का संबध होता है। इस कुटी के पिछले भाग मे पाँच छिद्र होते हैं जिनके द्वारा अर्द्धचद्राकार नलियाँ कुटी मे आकर खुलती है।

अस्थि-कृत अंतस्थ कर्ण के भीतर झिल्ली-कृत अंतस्थ कर्ण रहता है जिसका आकार ठीक अस्थि से बने हुए कर्ण के समान होता है। इस प्रकार तीनों नलिकाओ के भीतर झिल्ली की बनी हुई तीन नलिकाएँ होती हैं।' कुटी के भीतर भी झिल्ली के बने हुए कोष्ठ रहते है किन्तु कुटी के भीतर झिल्ली अस्थि-कृत कुटी के समान नही होती, उसके स्थान पर दो कोष्ठ होते हैं। उनमें से पूर्व कोष्ठ (Utricle) और दूसरा पश्चात् कोष्ठ (Saccule) कहलाता है। पूर्व कोष्ठ का तीनों नलिकाओ से संबंध रहता है। पश्चात् कोष्ठ एक ओर पूर्व कोष्ठ से और दूसरी ओर कोक्लिया से मिला रहता है।

चित्र नं० १०८—झिल्लीकृत अंतस्थ कर्ण।

(Schafer)

१—फूला हुआ पूर्व-कोष्ठ जिसमें तीनों नलिकाएँ मिलती हैं।

२—पश्चात्-कोष्ठ जिसका कोक्लिया से संबंध है।

३—नलिका के द्वार।

४—कोक्लिया, जिन स्थानों में काला रंग दिया गया है, वहाँ श्रवण-नाड़ी आकर फैलती है और समाप्त हो जाती है।

कोक्लिया—इसका आकार शंख के ऊपर के पतले भाग के समान होता है। कोक्लिया का ऊपर का सिरा, जो पतला और नोकीला होता है, शिखर कहलाता है और नीचे का चौड़ा भाग तल कहलाता है। इसके बीच में एक स्तंभ होता है जिसके चारो ओर कोक्लिया की पतली नली चक्कर खाती हुई नीचे से ऊपर को चली जाती है। यह नली पूरे ढाई बार चक्कर खाती है, अर्थात् कर्ण के केंद्र व स्तंभ के चारो ओर इस नली के ढाई चक्र गिने जा सकते हैं। यदि इस भाग को ऊपर से नीचे की ओर दो समान भागों में काट दिया जाय तो प्रत्येक भाग में चक्कर-

चित्र नं० १०६—अस्थि-कृत कोक्लिया का बीच से भाग कर दिया गया है।

दार ज़ीने के समान आधे-आधे भाग दिखाई देंगे। इस कोक्लिया को इस प्रकार काटने से एक और बात मालूम होगी। यह दिखाई देगा कि अस्थि और झिल्ली दोनों ने मिलकर इस नली को दो भागो में बाँट दिया है जिससे दो भिन्न-भिन्न ज़ीनो के समान रचनाएँ तैयार हो जाती है। इस प्रकार एक नली से दो नलियाँ तैयार हो जाती हैं जो बीच के स्तभ के चारो ओर चक्कर खाने में एक दूसरे के ऊपर रहती हैं। यह बीच का परदा, जो अस्थि और झिल्ली से मिलकर बनता है और इस नली को दो भागो में विभाजित करता है, फलक कहलाता है। एक नली इसके ऊपर रहती है और दूसरी नीचे। इन दोनो नलियो के सबध भी भिन्न होते है, ऊपर की नली का कर्ण-कुटी से और नीचे की नली का मध्य कर्ण से सबंध रहता है। ऊपर की नली मध्य कर्ण के उस भाग से प्रारंभ होती है जहाँ रकाब अस्थि एक छिद्र द्वारा उससे मिली हुई है।

इस फलक का आकार नलियो ही के जैसा होता है। उन्ही के समान यह चक्कर खाता है। जहाँ नली चोडी होती है वहाँ यह भी चौडा हो जाता है। ऊपर जाकर जहाँ स्तंभ का अत होता है वहाँ यह फलक भी समाप्त हो जाता है। इसके ऊपर

चित्र नं० ११०—दाहनी ओर का अस्थि-कृत अंतस्थ कर्ण।

(Sommering)

१—कर्णकुटी

२—अंडाकार छिद्र

३—ऊर्ध्व अर्द्धचंद्राकार नली

४—पार्श्व-नली

५—पश्चात्नली; नलिकाओं के फूले हुए भाग

६—कोक्लिया का प्रथम चक्र

७—कोक्लिया का दूसरा चक्र

८—शिखर

९—कोक्लिया-द्वार

छोटे चित्र में यंत्र का स्वाभाविक आकार दिखाया गया है। दोनों नलियाँ आपस में मिल जाती हैं। इस प्रकार ऊपर की ओर ये नलिकाएँ आपस में मिली रहती हैं, किंतु नीचे की ओर पृथक् रहती है। इन दोनों नलियों मे एक प्रकार का द्रव्य भरा रहता है।

अर्द्ध चंद्राकार नलियाँ—ये तीन नलियाँ होती हैं। दिशा का ज्ञान कराना इनका कर्म है। जब हम किसी गाडी मे बैठकर जाते हैं तो आँखे मूँदने पर भी हमको अनुभव हो जाता है कि हम किस ओर को जा रहे हैं। यह ज्ञान इन नलियों के द्वारा प्राप्त होता है।

कोक्लिया व कर्ण-कुटी की भाँति ये नलिकाएँ भी झिल्ली की बनी हुई हैं, जो शंखास्थि द्वारा निर्मित नलिकाओ के भीतर रहती हैं। अस्थि-नलिकाएँ झिल्ली-नलिकाओ की अपेक्षा कही अधिक मोटी होती है और उनके सब भाग आकार में समान होते है। किंतु झिल्ली से बना हुआ भाग ऐसा नहीं होता। वह कहीं मोटा और कहीं पतला होता है, जैसा कि चित्रो से मालूम हो जायगा। झिल्ली-कृत नलिका और अस्थि-कृत नलिका में कुछ स्थानांतर रहता है जिसमे एक द्रव्य भरा रहता है जो बहिर्लसीका (Pre-lymph) कहलाता है। नलिका के भीतर का लिंफ अंतर्लसीका (Endo-lymph) कहलाता है। ये सब नलिकाएँ कुटी के पूर्व कोष्ठ मे खुलती हैं। जिस स्थान पर नलिकाएँ कोष्ठ में खुलती है वहाँ पर उनका कुछ भाग फूल जाता है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

जिस प्रकार झिल्ली कृत नली अस्थि मे रहती है वह चित्र से ठीक प्रकार मालूम किया जा सकता है। भीतर की वह नलिका, जिसमें अंतर्लसीका भरा हुआ है, झिल्ली-कृत है; उसके बाहर अस्थि-नलिका है जिसमें बहिर्लसीका भरा हुआ है। अंतर्नलिका के बाह्यावरण से सौत्रिक धातु के कुछ सूत्र बाहर के अस्थिवेष्ट पर आकर लगते हैं। कुछ दूरी तक झिल्ली-कृत नलिका का अस्थि-नलिका से घनिष्ठ संबंध रहता है। झिल्ली कृत नलिका के भीतर चारों ओर एक कला रहती है।

चित्र नं० १११—एक अर्द्धचंद्राकार नलिका का परिच्छेद ।

१—अस्थि
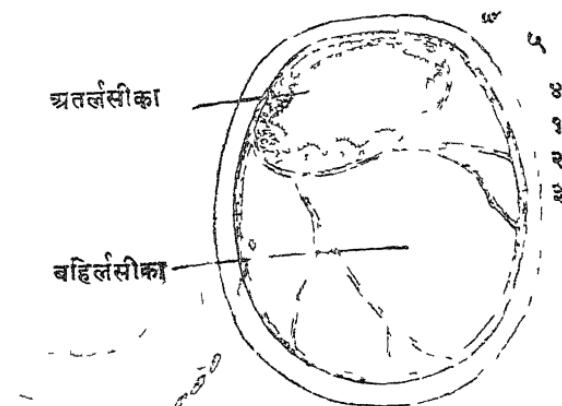
२—अस्थि-आवरण

३—सौत्रिक तंतु के सूत्र जो कि झिल्ली-कृत नलिका और अस्थि-आवरण को संयुक्त करते है

४—झिल्ली-कृत नलिका का बाह्यावरण

५—मुख्यावरण

६—आंतरिक कला

यदि नलिका को, उस स्थान पर जहाँ वह फूलकर कुटी के अग्रकोष्ठ से मिल जाती है, काटकर ध्यान से देखा जाय तो उसकी रचना विचित्र मालूम होगी । झिल्ली-कृत नलिका के बाह्यावरण और भीतरी कला के बीच मे जो वस्तु रहती है वह यहाँ एक अंकुर का रूप धारण कर लेती है । यहाँ की श्लैष्मिक कला के सेलो का आकार लंबा हो जाता है और उनके ऊपरी सिरे से, जो अंतर्लसीका की ओर रहते हैं, कडे बालों के समान

सूक्ष्म सूत्र निकले रहते हैं। इन सूत्रों के बीच में और उनके चारों ओर एक गाढ़ा पदार्थ रहता है जिसमें केलशियम कार्बोनेट (Calcium Carbonate) के कुछ कण पाए जाते हैं। इस सारी रचना को कुपोला (Cupola) का नाम दिया गया है।

चित्र नं० ११२—नलिका के फूले हुए भाग का परिच्छेद।
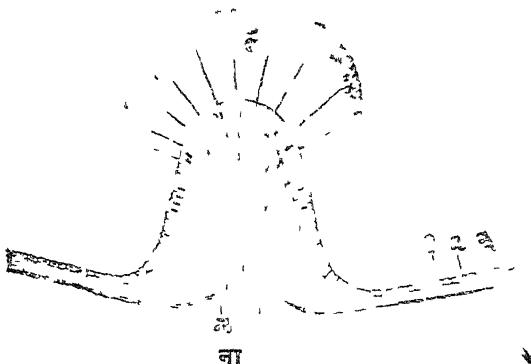
१—आंतरिक कला, २—मुख्यावरण, ३—नलिका का सौत्रिक आवरण, ना—नाडी के सूत्र, कु—कुपोला, जिसमें लोम-सेलों से लोम निकले रहते हैं।

अंकुर के दूसरी ओर से श्रवण-नाडी के सूत्र उस स्थान पर प्रवेश करते हैं और इनकी शाखाएँ उन सेलों में, जिनके ऊपर से सूत्र निकलते हैं, फैल जाती हैं। इस प्रकार इन अर्द्धचंद्राकार नलिकाओं के विशेष सेलों का नाडी द्वारा मस्तिष्क से संबंध स्थापित हो जाता है।

चित्र न० ११३—दोनों ओर को तीनों नलिकाओ को उनके स्वाभाविक स्थिति मे दिखाने का प्रयत्न किया गया है । तीनो नलिकाओ के तल एक दूसरे के समकोण (Right angle) पर स्थित है ।
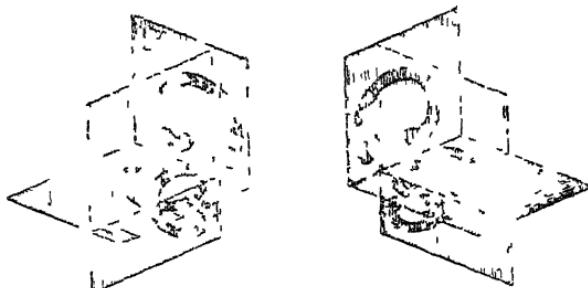
यदि किसी प्रकार से झिल्ली की नलिका के भीतर अतर्लसीका के आंतरिक भार में कुछ घटा-बढ़ी होती है तो उससे सेलों के कडे-कडे सूत्रो पर, जो ऊपर को निकले रहते हैं, प्रभाव पड़ता है। उससे नाड़ी के सूत्रो में उत्तेजना उत्पन्न होकर वह तुरत मस्तिष्क को जाती है । कर्ण कुटी के पूर्व और पश्चात् कोष्ठ की रचना भी ऐसी ही है। वहाँ पर इसी प्रकार के अकुर मिलते हैं जिनमें सूत्रमय सेल उपस्थित हैं ।

ये तीनों नलियाँ तीन दिशाओं में स्थित हैं, जैसा चित्र से प्रकट है, और एक दूसरे के साथ समकोण (Right angle) बनाती हैं। इसी कारण हमको तीन दिशाओ मे अपनी गति का ज्ञान अंकुर की नाडी के द्वारा होता है । जब हम अपना सिर किसी ओर को घुमाते है तो नलिकाओ के भीतर अतर्लसीका की गति भी उसी ओर को होती है, किंतु दूसरी ओर की समान

नलिका में गति बिलकुल दूसरी ओर को होती है। इस प्रकार एक ओर को किसी नलिका में, जिस ओर नलिका का भार बढता है, दूसरी ओर की समान नलिका मे उस ओर भार कम हो जाता है। इस कारण सम्भव है कि मस्तिष्क मे दो प्रकार की सूचनाएँ पहुँचती हो, एक, एक ओर भार बढने की और दूसरी, दूसरी ओर भार कम हो जाने की। "एक नली एक ही ओर की और एक हो गति की सूचना देगी, सारी दिशाओं का भिन्न-भिन्न समतलों मे ज्ञान करने के लिए छः नलियो की आवश्यकता है जो तीन जोडो मे स्थित हों और प्रत्येक जोड़ा (दोनों ओर की दो समान नलिकाओ से अभिप्राय है) समानातर (Plane) समतल मे स्थित हो, किंतु दोनो नलियो के फूले हुए भाग एक दूसरे से विमुख हो। इससे प्रत्येक जोडा उस गति की, जो उसी की दिशा मे होगी व उससे समकोण (at Right-angles) की दिशा में होगी, अनुभव कर लेगा। एक दिशा की गति से एक नाली पर प्रभाव पडेगा और दूसरी ओर की गति होने से दूसरी नाली उत्तेजित होगी" (Crum Brown, Frnm Hallidurton)।

तीन ऊर्ध्व पार्श्व और पश्चात् नलिकाओं में से दोनो ओर की पार्श्व नलिकाएँ एक ही समतल मे स्थित है। एक ओर की पाश्चात्य नलिका, जो कुछ पीछे की ओर को झुकी हुई है, दूसरी ओर को ऊर्ध्व नलिका से समानांतर तल मे स्थित है।

इन नलिकाओ के विकृत हो जाने से मनुष्य को दिशा का तनिक भी ज्ञान नही हो सकता। इनमें विकार उत्पन्न होने से जी मिचलाना, वमन, सिर का घूमना, किसी एक दिशा में ठीक प्रकार से चलने मे असमर्थ होना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते

है। एक ऐसे कबूतर का, जिसके दोनो ओर के कर्ण में से ये नलिकाएँ निकाल दी गई हैं, मस्तिष्क के संबंध में वर्णन किया जा चुका है।

कोर्टी का यंत्र—कोक्लिया मे पहले दो नलियाँ बताई गई थीं; किंतु वास्तव मे उसमे तीन नलियाँ होती है। इन दोनों नलियों के अतिरिक्त, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है, एक पतली सी तीसरी नली भी होती है जिसको मध्य नलिका कहते है। चित्र को देखने से विदित होगा कि यह नलिका त्रिकोणाकार है। इसकी बाहरी दीवार कोक्लिया की दीवार से बनी हुई है। ऊपर की छत और नीचे का फर्श दोनो झिल्लियों से बने हैं। ये दोनो झिल्लियाँ कोक्लिया के फलक के सिरे पर जुड़ी रहती है। यह नली इस फलक के साथ ऊपर जाकर अंत हो जाती है, और नीचे की ओर पाश्चात्य कोष्ठ से मिली रहती है।

चित्र नं० ११४—कोक्लिया के एक चक्र का परिच्छेद।
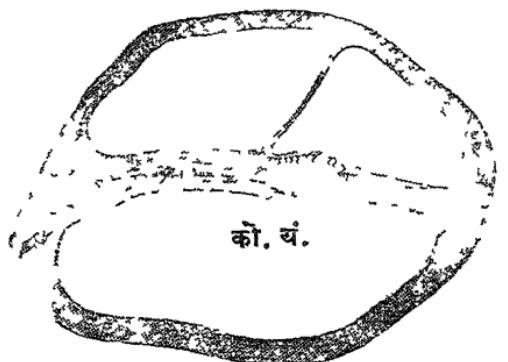
को० यं०—कोर्टी का यंत्र

इस नली के फ़र्श को बनानेवाली झिल्ली पर कई प्रकार के सेल रहते है। इस फर्श के लगभग बीच में कोर्टी का यंत्र

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १८

कोर्टी के यत्र का एक काल्पनिक चित्र, जिसमें सज्ञा-सेल और झिल्लीकृत कोक्लिया के दूसरे भाग दिखाए गए हैं।
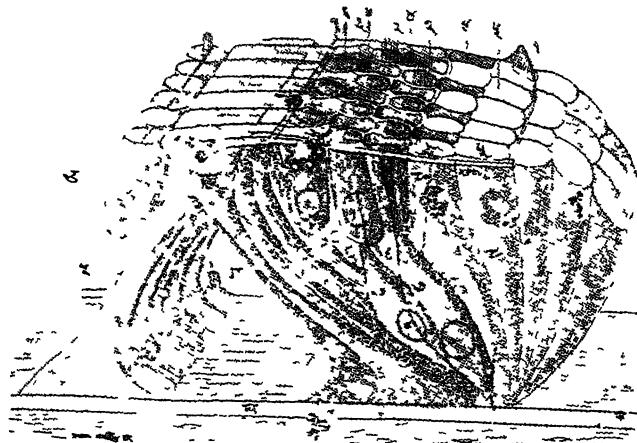
क. कोर्टी की आंतरिक शलाकाएँ। ख. कोर्टी की बाहिरी शलाकाएँ। ग. कोर्टी की सुरग। घ. धारक कला। ङ. आंतरिक लोमेश सेलों की पंक्ति। ६, ६, ६'. बहिः लोमेश सेलों की पंक्ति। ७, ७' डायटर के धारक सेल। आंतरिक लोमेश सेलो के अ तिम भाग ऊपर निकले हुए दीखते हैं। श्रावणी नाडी के सूत्रो को उत्तेजित करना इन्हीं का काम है।

(After Testut From Howell)

पृष्ठ-सख्या ४८६

रहता है। यदि इस यंत्र को एक ओर से देखा जायगा तो मालूम होगा कि झिल्ली के ऊपर जो वस्तु व अंग है वे दो प्रकार के स्तभों से बने है । नीचे की ओर ये चौडे होते हैं, बीच मे पतले हो जाते हैं और ऊपर जाकर फिर चौडे हो जाते हैं । ये दोनो प्रकार के स्तंभ एक दूसरे की ओर झुकते हैं और अंत में ऊपर की ओर एक दूसरे को ढक लेता है। यह ऊपर के चौडे हुए भाग सिर कहलाते है। एक स्तंभ का सिर दूसरे स्तंभ के सिरे को ढके रहता है। इस प्रकार दोनों ओर के स्तंभों के बीच में एक स्थान रह जाता है, जो एक सुरंग का स्वरूप धारण कर लेता है। इन स्तंभो के साथ उनकी ओर को झुकते हुए कुछ लोमेश सेल रहते हैं जिनके ऊपर के सिरे से बाल के समान सूक्ष्म सूत्र निकलते है। श्रवण-नाडी के एक भाग से अनेक सूत्र आकर इन सेलों में फैल जाते है। इनके अतिरिक्त कोर्टी के यंत्र मे और भी कई प्रकार के सेल रहते है।

जिन भिन्न-भिन्न रचनाओ का ऊपर वर्णन किया है, उन सबों का नाडियो से संबंध रहता है । नाडियों के भीतर आने और बाहर निकलने के लिये विशेष मार्ग होते है । कोक्लिया के बीच मे जो स्तभ होता है उसके तले से अनेक छिद्र द्वारा सूक्ष्म नलिकाएँ आरंभ होकर स्तंभ में होती हुई फलक तक चली जाती हैं । इन छिद्रों और नलिकाओ द्वारा नाडी के सूत्र भीतर आते है व बाहर जाते हैं। फलक के पास बहुत से नाडी-गंड रहते है जहाँ से सूक्ष्म सूत्र और स्तंभ कोक्लिया की दोनो बड़ी नलिकाओं मे पहुँचते है। कुछ सूत्र कोर्टी लोमेश सेलो मे जाते हैं।

शब्द—वायु की कपनाओं से शब्द की उत्पत्ति होती है। जब वायु में तरगे उत्पन्न होकर हमारे कर्ण-पटह के द्वारा हमारे

भीतरी कर्ण मे पहुँचती है और वहाँ से श्रवण-नाड़ी उन तरंगों से उत्पन्न हुई उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक ले जाती है तो हम शब्द का अनुभव करते है । ये तरंगे वायु के कणों में किसी कारण हलचल या विप्लव आ जाने से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जल मे हमारे एक ढेला फेंक देने से जल में तरगे उत्पन्न होकर वहाँ से चारों ओर को फैलती है, उसी प्रकार वायु मे भी तरंगे उत्पन्न होकर बहुत दूर तक फैल जाती है ।

जब वायु के कणों को किसी प्रकार धक्का लगता है तो उनको अपने स्थान से पीछे हटना पडता है। पीछे हटने में उनसे दूसरे कणो को धक्का लगता है जो फिर अपने पासवाले कणों को धक्का देते हैं । इस प्रकार यह धक्का बहुत दूर तक चला जाता है। यह धक्का ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों कम होता जाता है । अतएव वायु में तरगे उत्पन्न करने के लिये वायु को धक्का देना आवश्यक है। जब हम किसी बाजे को बजाते है तो उसके स्वरो से वायु को धक्का लगता है। हम जब बोलते हैं तो हमारे स्वरयंत्र की पेशियों की कंपना से वायु को धक्का लगता है। यदि हम किसी वस्तु को किसी दूसरी वस्तु पर पटकते हैं तो उससे भी धक्का लगता है। इस प्रकार वायु के कणों मे विप्लव उत्पन्न हो जाता है और उससे तरगे उत्पन्न होकर चारो ओर को फैलती हैं । तरंगों के फैलने का अर्थ केवल कणों का कुछ समय के लिये अपने स्थान से हट जाना है । वह दूसरे कणों को धक्का देकर फिर अपने स्थान पर आ जाते है। जिस प्रकार मेलों मे धक्के इत्यादि से भीड़ में हलचल मच जाती है वैसे ही वायु के कणो में हलचल मचने से तरंगे उत्पन्न हो जाती हैं।

इन तरंगों का स्वरूप जल की लहरों के समान होता है। तरंग ऊपर उठती है, फिर नीचे गिरती है, फिर ऊपर उठती है और पुनः नीचे गिरती है। तरंग की ऊँचाई और निचाई के अनुसार ही शब्द का स्वरूप होता है। कोई तरंग अधिक ऊपर उठती है और नीचे भी अधिक गिरती है। अर्थात् इसकी लहरें बड़ी होती हैं। किसी कंपना से छोटी-छोटी तरंगे बनती हैं। इन लहरों की ऊँचाई और निचाई के अनुसार शब्द भी भिन्न होते हैं। ये अपनी गति में भौतिक नियमों का पूर्ण पालन करती हैं।

चित्र नं० ११९
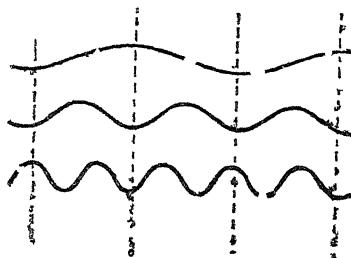
ये लहरें वायु, ठोस पदार्थ और द्रव्य सब वस्तुओं के द्वारा यात्रा कर सकती है। वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार वायु में उनकी गति ११२० फुट प्रति सेकिंड होती है। ताप के घटने-बढ़ने से इसकी गति भी घटती-बढ़ती है, ताप के बढ़ जाने से उसमें वृद्धि हो जाती है। जल में वायु की अपेक्षा शब्द की गति चौगुनी हो जाती है। आठ डिग्री सेंटीग्रेड पर इसकी गति ४७०८ फुट प्रति सेकिंड होती है। लकड़ी में इसकी गति १००००-१५००० फुट प्रति सेकिंड, चाँदी में ८८००, सोने में ६७०० और लोहे में १६००० फुट होती है।

हम शब्द को किस प्रकार सुनते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्रवण से विशेष संबंध रखनेवाला भाग कोक्लिया है। यदि किसी पशु के कर्ण से कोक्लिया निकाल दिया जाता है तो उसकी श्रवण-शक्ति जाती रहती है। नीचे की श्रेणी के जंतुओं मे, जिनको श्रवण शक्ति की अधिक आवश्यकता नही होती, जैसे कि पक्षी, उनमे यह अंग नष्टप्राय पाया जाता है।

वायु में उत्पन्न हुई कंपनाएँ जब बाह्य कर्ण पर पहुँचती है तो कर्ण का बाह्य भाग उन कंपनाओं को एकत्रित करके कर्ण-पटह पर पहुँचा देता है। इन कंपनाओं के कारण कर्ण-पटह में भी कंपनाएँ होने लगती है। यदि कर्ण-पटह एक बिलकुल सपाट झिल्ली होती तो वह केवल एक ही प्रकार के स्वर से कंपित हो सकती थी। किंतु उसकी विचित्र बनावट उसको सब प्रकार के स्वरो को ग्रहण करने के योग्य बना देती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वरों से उसकी कंपनाओं की गति और उनकी तीव्रता में भी अतर आ जाता है। कुछ स्वरों से कंपनाएँ कम उत्पन्न होती है और वे अधिक तीव्र भी नही होतीं, किंतु दूसरे उच्च स्वरों से अधिक और तीव्र कंपनाएँ उत्पन्न होती हैं।

इस पटह से मुद्गर के प्रवर्द्धन का संबंध रहता है और मुद्गर के दूसरे भाग से नेहाई व शूर्मिका लगी रहती है। इस शूर्मिका का सबंध रकाब-अस्थि के चौड़े भाग से रहता है जो कर्ण-कुटी के बड़े छिद्र में रहता है। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। जब वायु की कंपनाओ से पटह में कंपना होने लगती है तो उनका मुद्गर पर प्रभाव पडता है। यदि पटह बाहर की ओर खिचता है तो मुद्गर भी बाहर को खिचता है। पटह के भीतर की ओर गति करने से मुद्गर भी पीछे को हटता है। इसी प्रकार

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० १९

इसमें तीरों के द्वारा ध्वनि का मार्ग दिखाया गया है

From Harmsworth's Popular Science

(हमारे शरीर की रचना से)

पृष्ठ-संख्या ४१०

नेहाई की भी गति होती है। नेहाई का गात्र तो मुद्गर से लगा रहता है; किंतु उसका प्रवर्द्धन रकाब से लगा रहता है। इनका आपस में इस प्रकार संबंध रहता है कि जब पटह मुद्गर को बाहर की ओर खींच लेता है तो नेहाई का गात्र भी बाहर की ओर खिंच जाता है, किंतु उसका प्रवर्द्धन भीतर की ओर गति करता है। इससे रकाब की भी भीतर को गति होती है। वह अंत में कर्णकुटी के भीतर के तरल में कंपनाएँ या लहर उत्पन्न कर देता है। ये कंपनाएँ कोक्लिया की सारी कला को उत्तेजित कर देती हैं जहाँ से मस्तिष्क को सूचना पहुँचती है। तरल की कंपनाएँ कोर्टी के यंत्र पर विशेष रूप से प्रभाव डालती हैं। उसके लोमेश सेल, जिनके चारों ओर नाड़ी के सूत्र रहते हैं, इन कंपनाओं के अनुसार मस्तिष्क को शब्द का ज्ञान करा देते हैं। अर्द्धचंद्राकार नलियाँ श्रवण में कुछ भी भाग नहीं लेतीं।

इससे यह स्पष्ट है कि कंपनाएँ कोक्लिया तक अवश्य पहुँचनी चाहिए, नहीं तो शब्द का ज्ञान न होगा। यदि कोक्लिया में कुछ विकार आ जायगा तो भी शब्द का ज्ञान न होगा। यदि मध्य कर्ण इन कंपनाओं को अंतःकर्ण तक न पहुँचाएगा तो भी बधिरता उत्पन्न हो जायगी। कभी-कभी बाहर के कान में मैल जमा होने से भी सुनने में कठिनता होती है।

शब्द के संबंध में कई सिद्धांत हैं। एक सिद्धांत यह है कि कोक्लिया के तीसरी छोटी नलिका के फर्श बनानेवाली सारी झिल्ली वायु की कंपनाओं से काँपने लगती है जैसे कि टेलीफोन की प्लेट काँपती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वर उस झिल्ली में भिन्न-भिन्न प्रकार की कंपनाएँ उत्पन्न करते हैं जिनसे लोमेश सेल उत्तेजित होकर मस्तिष्क को उसी के अनुसार सूचना देते

हैं। इस प्रकार इस सिद्धांत के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों का ज्ञान व सयुक्त राग को उसके अवयव स्वरों में तोडना मस्तिष्क का काय है। दूसरे सिद्धत के अनुसार, जिसके निर्माणकर्त्ता हेल्महोज़ (Helm-Holtz) है, यह काम कोक्लिया का है। साधारण बाजे मे प्रत्येक स्वर उत्पन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न परदे होते हैं। एक परदे से एक स्वर निकलता है और दूसरे से दूसरा। किसी एक परदे से एक से अधिक स्वर नहीं निकलते। हेल्महोज़ इसी प्रकार अतस्थ कर्ण की मध्य कोक्लिया की झिल्ली मे भिन्न-भिन्न सूत्र मानता है जो भिन्न-भिन्न स्वरों का ज्ञान कराते है। एक सूत्र केवल एक विशेष स्वर का ज्ञान कराता है। बस, जो स्वर अतःस्थ कर्ण मे पहुँचता है उससे मिला हुआ सूत्र कपना करने लगता है जिससे ऊपर का लोमेश सेल मस्तिष्क को उस विशेष स्वर का ज्ञान करा देता है। यदि दो स्वर एक साथ बजते है तो उनसे मिलनेवाले दो सूत्र कंपना करने लगते है और मस्तिष्क को दोनों का ज्ञान हो जाता है।

उत्पादन

उत्पत्ति सृष्टि का नियम है। प्रत्येक जीव में, चाहे वनस्पति हो या पशु, उत्पत्ति अवश्य होती है। प्रकृति अपनी बनाई हुई जातियों को सदा बनाए रखने का पूर्ण प्रयत्न करती है। उनका नाश उसको अभीष्ट नहीं है। इसी कारण उसने छोटे से छोटे जीव को भी उत्पादन की शक्ति और कामना दी है। कहा जाता है कि Hunger and Sex rule the World. किंतु वास्तव में Sex शब्द पहले होना चाहिए था। कुत्ते की स्वामिभक्ति विख्यात है। उसको चाहे कितना भी स्वादिष्ठ भोजन क्यों न दिया जाय, किंतु वह प्राण रहते तो किसी दूसरे कुत्ते या चोरों को अपने स्वामी के मकान में नहीं आने देगा। किंतु स्त्रीजाति के सामने आते ही वह अपनी स्वामिभक्ति भूल जाता है। पूँछ हिलाता हुआ स्वामी के गृह के भोजन इत्यादि के नाश करने में वह कुतिया को सहयोग देता है। कुत्ता अपना भोजन कभी किसी दूसरे कुत्ते को नहीं देगा, पर अपनी प्रेयसी को तुरत दे देगा।

सृष्टि के सब जीवों में यही देखा जाता है। मैथुन की इच्छा तो

प्रकृति ने प्रत्येक जीव में उत्पन्न की है, वह क्षुधा से कहीं अधिक बलवान् होती है। मैथुन के साथ प्रकृति ने जो आनंद का अनुभव उत्पन्न किया है वह उत्पत्ति करने के लिये जीवों को बाध्य करने का एक साधन है। यदि मैथुन से लोगो को आनद न मिलता तो कोई काहे को इतने कष्ट उठाता और इस पकार सृष्टि का अत हो जाता। प्रकृति ने इस बात का पहले ही से ठीक-ठीक बदोबस्त कर रक्खा है। मैथुन के साथ एक ऐसा आनंद रख दिया है कि सृष्टि के जीव उसके कारण मैथुन करते है और उसके द्वारा प्रकृति जाति की रक्षा करवाती है। कुछ जंतुओ (पतग समुदाय Insects) मे देखा जाता हे कि वह स्त्री के साथ केवल एक बार मैथुन करते है। मैथुन कर चुकने के पश्चात् स्त्री पुरुष के शरीर का भक्षण आरंभ करती है, किंतु पुरुष चुपचाप स्त्री के सारे घातक आघातो को सह लेता है। वह अपनी रक्षा के कुछ भी उपाय नहीं करता। स्त्री उसके सिर को खाती है। इसके पश्चात् उसके वक्ष पर, जहाँ पुरुष के शरीर के सब मर्म अग रहते है, आक्रमण आरभ करती है, उसको भी शीघ्र ही समाप्त कर देती है। इस प्रकार पुरुष के सारे शरीर को खा जाती है। ये पुरुष स्त्री की अपेक्षा कई गुणा अधिक बडे होते है। उनमें बल भी बहुत अधिक होता है, किंतु मैथुन के समय स्त्री द्वारा अपने प्राण गँवा देते है और अपनी रक्षा का तनिक भी उद्योग नहीं करते।

इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि मैथुन का तात्पर्य केवल सयोग से आनद प्राप्त करना है। प्रकृति ने केवल आनद अनुभव करने के लिये मैथुन की सृष्टि नहीं की है। यह आनद उसने केवल फँसाने का साधन रखा है। जो लोग प्रकृति के नियमो की अवहेलना करते है अथवा उसको अपने अभिप्राय से वंचित रखने

का उद्योग करते हैं उनको वह कठिन दंड देती है। जो लोग केवल आनद के लिये अधिक संभोग करते है उनको नाना प्रकार के रोग, शरीर की जीर्णता, बल का नाश, तेज की क्षीणता, मस्तिष्क की दुर्बलता, सारे शरीर का बेकाम होना, हाथ-पाँवो का काँपना इत्यादि से पीडित होना पडता है। मैथुन की प्रकृति ने उत्पत्ति ही के लिये सृष्टि की है और वह प्रत्येक प्राणी से अपना अभिप्राय पूरा करवाती है। जो उसे धोखा देने का उद्योग करते हैं वे यथोचित दण्ड पाते है।

संसार के सब प्राणियो में उत्पत्ति होती होती है। अत्यंत सूक्ष्म प्राणियो से लेकर, जिनको देखने के लिये सूक्ष्मदर्शक यंत्र की आवश्यता होती है, बडे से बडे दीर्घ शरीरधारी प्राणी तक इस नियम का पालन करते हैं। जैसा पहले बताया जा चुका है जो नीची श्रेणी के प्राणी है उनमे उत्पत्ति दूसरे प्रकार से होती है। वे केवल दो भागो मे विभाजित हो जाते है जिनमे से प्रत्येक भाग कुछ समय के पश्चात् पूर्ण हो जाता है और वह स्वतन्त्र जीव की भाँति अपना जीवन आरभ करता है। जितने रोगो के जीवाणु है उनमें उत्पत्ति इसी प्रकार होती है। अमीबा नामक जीव व अन्य एकसेलीय जीवो मे उत्पत्ति की यही विधि देखी जाती है। यह अमैथुनी सृष्टि है। स्पायरोगायरा (Spirogyra) अथवा एल्गी (Algae) नामक वनस्पतियो मे भी इसी प्रकार उत्पत्ति होती है।

कुछ जाति के जीवो मे यहाँ भी यह देखा जाता है कि अमैथुनी उत्पत्ति केवल एक परिमित सीमा तक होती है। कुछ समय तक ये जीव विभाजित होकर नए जीव उत्पन्न करते रहते है, किंतु पश्चात् जीवो की यह शक्ति जाती रहती है। फिर

उनको मैथुन-विधि का आश्रय लेना होता है । स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग होता है, जिससे नई जाति की उत्पत्ति होती है। यह जाति फिर अमैथुनी-विधि का साधन करती है । इस प्रकार इनमे अमैथुनी और मैथुनी-विधि दोनों का चक्र चलता है ।

जो नीचे की श्रेणी के जीव हैं उनमें जाति की कोई भिन्नता नही पाई जाती । स्त्री और पुरुष दोनों भिन्न नहीं होते । अमीबा के शरीर मे कोई पुरुष और स्त्री अंग नहीं पाए जाते । ज्यों-ज्यो जीवो की श्रेणियाँ ऊँची होती जाती है त्यों-त्यों ये विशेषताएँ भी उत्पन्न होती जाती है । अमीबा से कुछ ऊपर चलकर हम ऐसे जंतुओ को पाते ह जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों के अंग उपस्थित होते है । इनको उभयोत्पादक (Hermaphrodite) कहा जाता है । इससे भी अधिक आगे चलकर हमे पृष्ठ वंशधारीय जीवो मे जाति की पूर्ण भिन्नता मिलती है ।

इन जीवो मे पूर्ण मैथुनी सृष्टि होती है । पुरुष के शुक्राणुओं का जब स्त्री के रज के डिंभ से संयोग होता है तो नए जीव की नीव पडती है । उस समय स्त्री को गर्भ रहता है । इस गर्भ मे स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए नए जीव की वृद्धि होती है जिससे कुछ समय के पश्चात् नर शिशु का जन्म होता है ।

नर-जननेंद्रियाँ—पुरुष मे शुक्र बनानेवाली ग्रंथियो को शुक्र-ग्रंथि या अंड कहते है । यह दो होती है और अंडकोष में रहती है । एक थैली होती है जो लिंगके नीचे की ओर लटकती है । इसके ऊपर का चर्म बहुत पतला होता है । इसके नीचे एक अनैच्छिक मांस-पेशी का परत रहता है जिसमे कभी संकोच हो जाता है और कभी विस्तार । इसी के अनुसार कभी तो यह थैली सिकुड़ी हुई छोटी सी मालूम होती है और

चित्र नं० ११६—अंडवेष्ट को एक ओर से काटकर अंड और उपांड दोनो दिखाए गए हैं।

१—अंड, २—उपांड, ३, ३′—अंडवेष्ट का कटा हुआ भाग; ४—शुक्र-प्रणाली।

कभी लंबी हो जाती है। इस थली के भीतर दो शुक्र-ग्रंथियाँ व अंड रहते हैं। उन दोनो के बीच में एक परदा रहता है। जहाँ पर बाहर दोनो ओर की खाल के बिलकुल बीच में एक सीवन रहती है उसी स्थान पर भीतर दोनो अंडो के बीच का परदा रहता है।

चित्र नं० ११७—अंड और उपांड में शुक्र-नलिकाओं का मार्ग ।
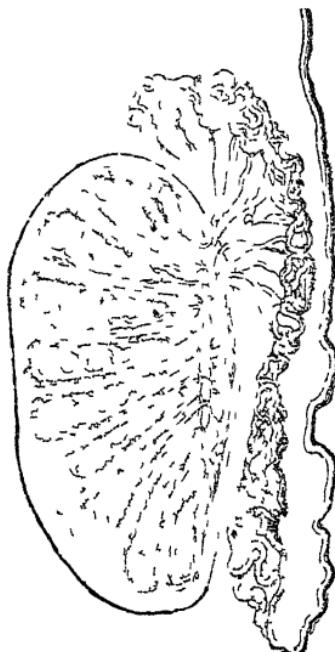
इन अंडों पर एक कोष रहता है जो उदर की औदर्य्या या महाकला का एक भाग होता है। भ्रूणावस्था की एक अवस्था मे अंड उदर के भीतर रहत है। ज्यो-ज्यो भ्रूण मे वृद्धि होती है त्यो-त्यों ये अड भी नीचे उतरते जाते हैं और अंत में अडों की थैली में पहुँच जाते है। इस प्रकार यह अडकोष व अंडवेष्ट उदर की महाकला से बनता है। इस अडकोष के उपर एक और आवरण रहता है जिसको श्वेत होने के कारण श्वेतावरण कहा जाता है। यह पूर्णतया सौत्रिक धातु का बना होता है और बहुत कठिन होता है। किसी-किसी पशुओं में अंड उदर के भीतर पाए जाते हैं।

अंडों और शुक्र-ग्रंथियों का आकार अंडे के समान होता है।

बहुत से परदो के द्वारा अड भीतर से कई कोष्ठों में विभाजित रहता है। ये कोष्ठ पूर्णतया एक दूसरे से अलग नहीं होते, किंतु कुछ-कुछ आपस मे मिले रहते हैं। अंड के प्रत्येक कोष्ठ में बहुत सी मुड़ी हुई चक्करदार नलियाँ रहती है। ये नलियाँ बहुत बारीक होती है। सारी ग्रंथि मे इस प्रकार की कोई ८०० से ९०० तक नलियाँ होती है। मुडी हुई होने के कारण नली थोडे ही स्थान में आ जाती है, किंतु यदि उसको खोल दिया जाय तो प्रत्येक नली २ व ३ फीट लबी हो जाती है।

चित्र न० ११८—अड के भीतर की शुक्र-नलिका का परिच्छेद; शुक्राणुओ की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ दिखाई गई हैं।
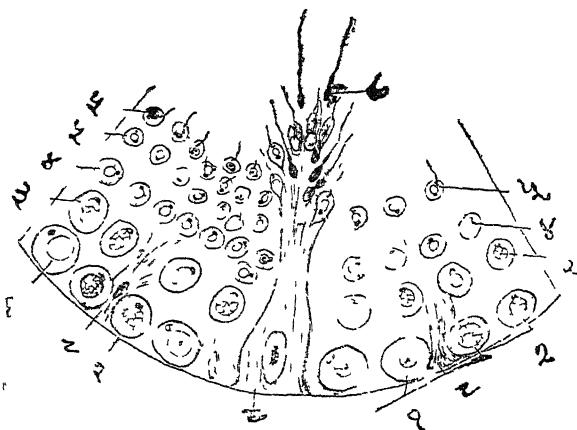
१—से उनकी प्रथम अवस्था दिखाई गई है, २, ३, ४, ५ अवस्थाओं में होते हुए ७ में पहुँचकर पूर्ण हो जाता है।
८—पोषक सेल।

ये नलियाँ ग्रथि के अगले किनारे की ओर से आरंभ होकर

...छे की ओर को जाती है, जहाँ वे एक दूसरे की ओर झुककर आपस में मिलती है । इससे पीछे की ओर एक जाल सा बन जाता है । यहाँ से कोई पन्द्रह नलियाँ निकलती है जो बहुत ही मुड़ी हुई होती है । ग्रथि के पिछले भाग पर ये एक और छोटी सी ग्रंथि बना देती हैं जिसको उपांड कहते है । हाथ से टटो-लने से यह उपाड अड के पीछे की ओर प्रतीत किया जा सकता है । इसका ऊपर का सिरा चौडा और बडा होता है । ऊपर से नीचे की ओर इसका आकार घटता चला जाता है । अन्त मे नीचे का भाग पतली पुच्छ की भाँति रह जाता है ।

ये सब नलियाँ उपाड के सिर मे पहुँचकर एक दूसरी बडी नली बनाती है जो शुक्र-प्रणाली कहलाती है । यह शुक्र-प्रणाली साँप की गेडलियो की भाँति चक्कर खाती हुई उपाड के सिर से आरंभ होकर नीचे की ओर उतरना आरम्भ करती है और उपांड के पुच्छ पर पहुँच जाती है । इस स्थान पर उसकी मोटाई अधिक हो जाती है । यहाँ से प्रणाली फिर ऊपर चढना आरंभ करती है। अंत मे इसी नलिका के द्वारा शुक्र शिश्न की नली मे पहुँचता है ।

अडो के कोष्ठो के भीतर जो मुडी हुई नलिकाएँ होती है वे वास्तव मे एक प्रकार की ग्रथि होती है । शुक्र के शुक्राणु वहीं बनते है। यदि एक नलिका को काटकर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा देखा जाय तो उसमे भिन्न-भिन्न अवस्थावाले शुक्राणु मिलेंगे । कोई पूर्णतया परिपक्व होगे । कोई शुक्राणु बनना आरंभ ही करते होगे । कोई बीच की अवस्था मे होगे। इन नलिकाओ की दीवारो के भीतर ये शुक्राणु बनकर नलिका के बीच की नली मे आ जाते हैं और वहाँ से आगे को चलते है ।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २०

अंड और उपांड का परिच्छेद
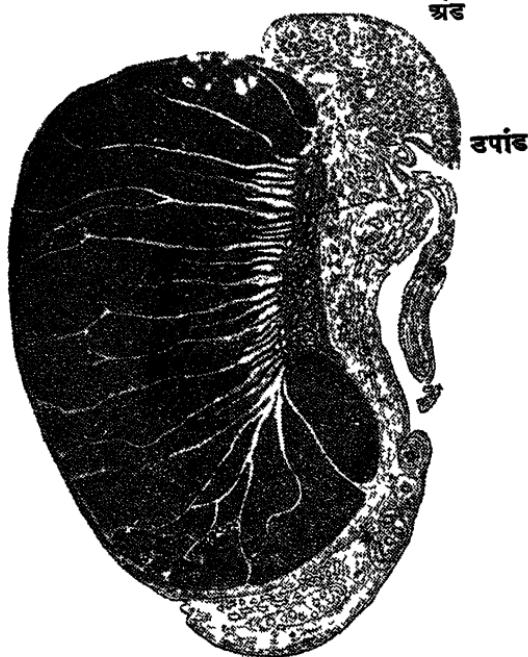
पृष्ठ-संख्या ५००

चित्र नं० ११६—मूत्राशय, शुक्राशय इत्यादि ।

१—मूत्राशय । २, २'—शुक्राशय । ३—पौरुष ग्रन्थि ।

४—प्रणाली जिसके द्वारा शुक्र बाहर आता है ।

५—मूत्र-प्रणाली का श्लैष्मिक भाग । ६— गवीनी ।

शुक्राशय - वस्तिप्रदेश में मूत्राशय के पिछले भाग से लगी हुई दो थैलियाँ होती है जिनमे शुक्र एकत्रित हो जाता है। ये थैलियाँ कोई दो इंच के लगभग लंबी होती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे इनकी लंबाई-चौडाई भिन्न होती है। ये शुक्राशय कहलाती हैं। शुक्राशय मे पीछे की ओर से आकर शुक्र-प्रणाली खुलती है। शुक्राशय भी वास्तव में एक प्रणाली ही है जो बहुत अधिक मुड़ी हुई है और कई भाग फूलकर कोष्ठ के समान हो गए हैं। इसी को छोटी-छोटी शाखाएँ इधर-उधर निकली रहती है जो कोष्ठों का रूप धारण कर लेती है। इसमे एक प्रकार का द्रव्य बनता है, जो शुक्र में मिल जाता है। इन शुक्राशयो से एक पतली नलिका पौरष नामक ग्रंथि मे होती हुई मूत्र मार्ग तक चली जाती है, जहाँ वह एक छिद्र द्वारा खुलती है।

शुक्र—शुक्र एक प्रकार का गाढ़ा लसदार दूध के समान श्वेत रग का द्रव्य होता है। इसमें एक विशेष प्रकार की गंध आती है। जिस वस्त्र पर वह पड जाता है वह कड़ा हो जाता है और वहाँ एक धब्बा पड जाता है। धब्बे का रंग हलका पीला होता है। यह सारा द्रव्य अंडकोषों मे नही बनता। इसमें कई ग्रथियों में बने हुए द्रव्य सम्मिलित रहते हैं। शुक्राशय की दीवारों का बना हुआ द्रव्य उसमें मिला रहता है। शुक्र-ग्रंथियों में भी शुक्राणुओं के अतिरिक्त कुछ द्रव्य बनता है, किंतु वह बहुत गाढा होता है। पौरुष ग्रथि में बना हुआ द्रव्य भी शुक्र मे मिला रहता है। इन सबों के अतिरिक्त शिश्न की दीवारों मे जो ग्रंथियाँ होती है वे भी कुछ द्रव्य बनाती है, जो शुक्र में मिल जाता है। इस प्रकार शुक्र कई भाँति के द्रव्यों का मिश्रण है। यह द्रव्य शुक्राणुओं के जीवन के लिये आवश्यक होता है। किंतु शुक्र की मुख्य वस्तु शुक्राणु होते

है जो शुक्र-ग्रंथियों की नलिकाओं में बनते हैं। यदि शुक्र शुक्राणुओं से रहित हो तो वह जल की भाँति स्वच्छ और पारदर्शी होगा। इसमें श्वेत रंग शुक्राणुओं के ही कारण होता है। इसकी प्रतिक्रिया हलकी क्षारीय होती है।

यदि ताजे शुक्र को एक काँच के स्लाइड पर लेकर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा देखा जाय तो उसमें अत्यंत छोटे-छोटे जीव बड़ी

चित्र नं० १२०—कुछ भिन्न-भिन्न जंतुओं के शुक्राणु।
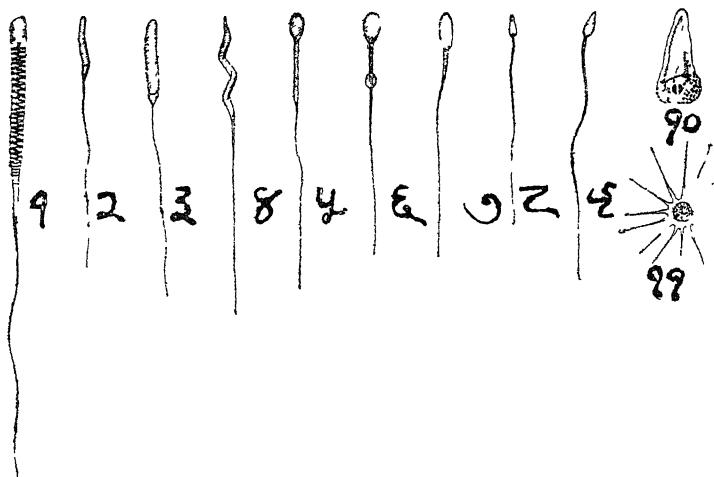
१—चमगादड़ के शुक्राणु; २, ३—मेंढक के शुक्राणु; ४—एक प्रकार की मछली के शुक्राणु, ५—मेढ़ा के; ६, ७—सूअर के; ८—जेली फिश नामक जंतु के, ९—बंदर के; १०—दीर्घ कृमि (Round Worm) जो अंत्रियों में होते हैं) के; ११—करकट (Crate) के।

तेजी से इधर से उधर को दौड़ते हुए दिखाई देंगे। ये शुक्राणु हैं जो उत्पत्ति के मुख्य कारण है। चित्र में देखने से इनकी रचना ठीक प्रकार समझ में आ जायगी। सबसे ऊपर गोल सिर है जिस पर एक आवरण चढा हुआ है। इसके नीचे से शुक्राणु का गात्र प्रारंभ होता है। जिस स्थान पर गात्र और सिर मिलने है वह

चित्र नं० १२१—मनुष्य के शुक्राणु।
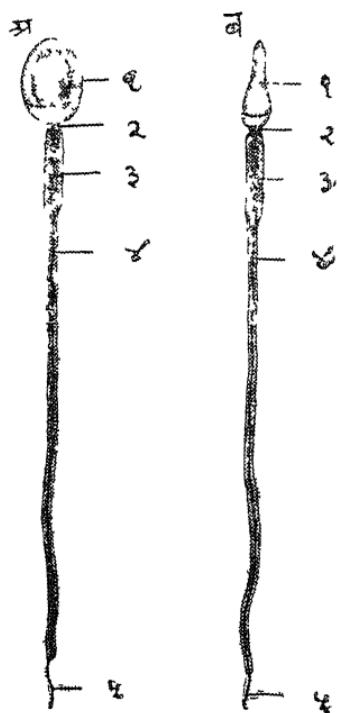
अ—आगे की ओर से; ब—पार्श्व की ओर से; १—सिर-त्राण जो सिर के ऊपर चढ़ा रहता है; २—ग्रीवा; ३—गात्र; ४—पुच्छ; ५— अंतिम भाग।

स्थान कुछ भीतर को दबा हुआ है और गात्र से पतला है। वह ग्रीवा है। गात्र के नीचे से शुक्राणु की पूँछ आरंभ होती है, जो बहुत लंबी है। इसके बिलकुल बीच में एक गाढा काले रंग का सूत्र चित्र में दिखाया गया है। यह शुक्राणु का अक्षीय सूत्र है। पुच्छ के दूसरे सिरे से एक पतला सूत्र निकला रहता है।

शुक्राणु अपनी पुच्छ की सहायता से द्रव्य में तेजी से गति

चित्र नं० १२२—मनुष्य का शुक्राणु बहुत बढाकर दिखाया गया है।
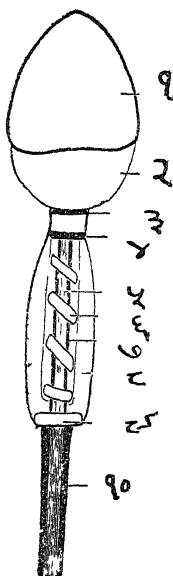
१—सिरत्राण। २—सिर। ३—पूर्व आकर्षक। ४—पश्चात् आकर्षक। ५—अक्ष। ६—चक्राकार वेष्ट। ७—अक्ष का वेष्ट। ८—बाह्यावरण। ९—मंडलाकार भाग। १०—पुच्छीय भाग में अक्ष का वेष्ट।

करते हैं। गति के समय इनकी पुच्छ उसी प्रकार हिलती है, जैसे सप के चलने के समय उसका शरीर गति करता है। शुक्राणु की लंबाई $\frac{१}{१०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इंच तक कही जाती है। चित्र में देखने से विदित होगा कि सिर का अगला भाग नोकीला होता है, पीछे का भाग चौड़ा होता है। इसकी सहायता से वह डिंभ के आवरण को छेद कर सहज में उसके शरीर के भीतर प्रवेश करता है।

ये शुक्राणु लगभग २५ वर्ष की आयु में उत्तम प्रकार से बनने आरंभ होते है। इससे पूर्व ये कमजोर होते हैं। इसी कारण थोडी अवस्था की संतान बलवान् नही होती। निर्बल शुक्राणु शुक्र में बहुत धीरे-धीरे गति करते हैं, किंतु बलवान् शुक्राणु बहुत तेजी से गति करते है। यह अनुमान किया जाता है कि एक बार मैथुन के पश्चात् स्वस्थ मनुष्य से एक तोले के लगभग शुक्र निकलता है। इसमें बीस करोड़ के लगभग शुक्राणु उपस्थित रहते हैं। गर्भ में केवल एक ही शुक्राणु काम मे आता है। शेष सबों का नाश हो जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि एक बार मैथुन द्वारा निकलनेवाले शुक्राणु कितने गर्भ उत्पन्न कर सकते है।

कुछ पुरुषों के शुक्र में शुक्राणु नही होते। वे यद्यपि मैथुन कर सकते हैं, किंतु संतान नही उत्पन्न कर सकते।

अंडधारक रज्जु—शुक्र ग्रंथियों के ऊपर यदि खाल को दबा कर देखा जावे तो भीतर रज्जु के समान कुछ वस्तुएँ प्रतीत होंगी। ये वे भिन्न-भिन्न नलिकाएँ हैं जो शुक्र-ग्रंथि को जा रही हैं या वहाँ से आ रही है। वे सब नलिकाएँ आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा बँधी रहती है और अंडधारक रज्जु के नाम से पुकारी जाती है, क्योंकि शुक्र-ग्रंथि इसी रज्जु से लटकी हुई है। इस रज्जु को बनानेवाले निम्न अवयव हैं—

१ शुक्र-प्रनाली ।

२ शुक्र-प्रनाली की धमनी ।

३ शुक्र-ग्रंथि की धमनी ।

४. नाडियाँ ।

५. लसीकावाहिनी नलियाँ ।

६ शिराओं का जाल । अंड के चारों ओर शिराओं का एक जाल सा बना रहता है ।

इन सब वस्तुओं में शुक्र-प्रनाली सबसे कठिन और कड़ी होती है । अतएव जब हम हाथ से टटोलते हैं तो इसे वह वस्तु विशेष-कर मालूम होती है । ये सब वस्तुएँ रज्जु के साथ उदर में चली जाती हैं । कभी-कभी वह छिद्र, जिसके द्वारा ये उदर में प्रवेश करती है, बडा हो जाता है । ऐसी दशा में उसमें होकर अंत्रियाँ अंडकोष में उतर आती हैं । उसको साधारणतया आँत उतरना कहा जाता है । शिराओं का जाल नरम-पतली रस्सियों का समूह ऐसा प्रतीत होता है ।

शिश्न—मैथुन का यन्त्र शिश्न है । इसी के द्वारा मनुष्य का शुक्र स्त्री की योनि में पहुँचता है । अतएव इसकी रचना भी जानना आवश्यक है ।

शिश्न वास्तव में तीन लंबे-लंबे दंडों से बना हुआ है जो शिश्न की जड से भगास्थियों के मिलने के स्थान से आरम्भ होकर शिश्न के अग्र भाग तक, जो शिश्न-मुंड कहलाता है, चले आते हैं । इनमें से दो दंड तो ऊपर रहते हैं और एक नीचे रहता है । नीचेवाला दंड बीच में से खोखला होता है जिसके द्वारा मूत्र इत्यादि बाहर निकलता है । ऊपर के दोनों दंड ठोस होते हैं । इनके बीच में शिश्न की दो धमनियाँ, नाडियाँ और एक

शित रहती है। इन दंडों की बनावट विचित्र होती है। इनके भीतर कई छोटे-छोटे कोष्ठ होते है जिनमें रक्त भर जाने से शिश्न का प्रहर्ष हो जाता है। इसी से मैथुन सभव होता है। मैथुन के पश्चात् इन स्थानो मे से रक्त लौट जाता है और अंग ढीला पड जाता है। इन कोष्ठो के ऊपर, जो सौत्रिक ततु और मांस के बने होते है सौत्रिक ततु और अनैच्छिक मांस चढा रहता है। इन सबो पर चर्म आच्छादित होता है जिससे लिंग या शिश्न का साधारण रूप बन जाता है।

शिश्न का आगे का भाग जो मुंड कहलाता है वह ऊपर के दडो से नही बनता । इन दडो का मुड के पीछे ही अंत हो जाता है। केवल नीचेवाला दड ऊपर के दोनों दडो से आगे बढा चला जाता है। उसका अंतिम भाग इस प्रकार चौडा हो जाता है, जैसे कि 'साँप की छत्री' की डडी के ऊपर छत्र होता है। इसमें जो बाहर की ओर छिद्र होता है उसी के द्वारा मूत्र बाहर निकलता है।

नारी-जननेंद्रियाँ—जिस प्रकार मनुष्य में दो शुक्र-ग्रंथियाँ होती है, उसी प्रकार स्त्रियों में भी दो डिंभ-ग्रंथियाँ होती है। एक बाईं ओर और दूसरी दाहनी ओर रहती है। इनमे डिंभ तैयार होते है। जब इनका पुरुष के शुक्राणु से संयोग होता है तभी गर्भ की स्थापना होती है।

इन ग्रथियो का रंग गहरा भूरा होता है। इनकी लंबाई एक इच और चौडाई $\frac{3}{4}$ इच या मोटाई $\frac{1}{2}$ इंच के लगभग होती है। इनका भार ६ माशे के करीब होता है। ये उदर के पीछे की दीवार पर गर्भाशय के दोनों ओर लगी रहती है। गर्भाशय से एक बंधन डिंभ-ग्रंथि तक फैला रहता है। इसके ऊपर सौत्रिक

तंतु का एक आवरण रहता है। इसके भीतर भी सौत्रिक तंतु

चित्र नं० १२३—शिश्न की पेशी।
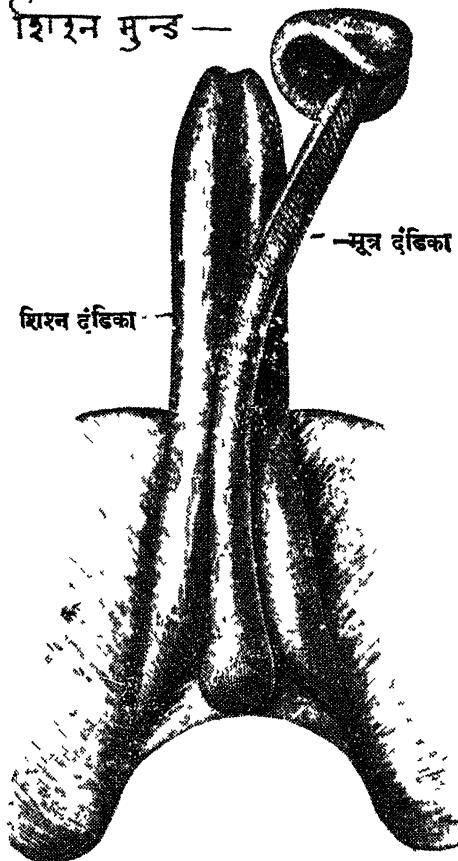
रहता है जिसके साथ में कुछ अनैच्छिक पेशी की सेलें भी मिली रहती है। ग्रंथि के ऊपर जो कला रहती है उसको उत्पादक कला कहते हैं। यह कला जहाँ-तहाँ ग्रंथि के भीतर भी चली जाती है। यदि ग्रंथि को काटकर देखा जाय तो उसके भीतर सेलों की बनी हुई कुछ थैलियाँ दिखाई देंगी, जिनको आशय भी कह सकते हैं। इन थैलियों को डिंभ-कोष कहा जाता है। जो छोटे डिंभ-कोष हैं वे ग्रंथि की सतह पर रहते हैं और जो बड़े हैं वे नीचे रहते हैं। किंतु ज्यों-ज्यों वे बढ़ते हैं त्यों-त्यों ऊपर की ओर सरकते हैं और अन्त में ग्रंथि के ऊपरी तल पर आकर फट जाते हैं।

डिंभ-कोष के बाहर का आवरण उसी सौत्रिक तन्तु से बना होता है जिससे ग्रंथि का मुख्य भाग बनता है। इसके भीतर सेलों का एक परत रहता है जो ग्रंथि की उत्पादक कला से बनता है। इसके भीतर कुछ द्रव्य भरा रहता है और द्रव्य के भीतर एक बड़ी सेल होती है जो डिंभ कहलाती है। ज्यों ज्यों डिंभ बढ़ता जाता है त्यों त्यों प्रत्येक परत के सेलों की संख्या भी बढ़ती है। छोटे कोषों में द्रव्य नहीं होता। वह उनके बढ़ने पर उत्पन्न होता है। बड़े होने पर डिंभ के चारों ओर सेलों के कई परत उत्पन्न हो जाते हैं। यह सब डिंभ-वेष्ट कहलाता है। धीरे-धीरे डिंभ-कोष के भीतर का द्रव्य बढ़ता है, जिससे कोष तन जाता है। वह ग्रंथि की सतह पर पहुँचता है और तरल के तनिक और बढ़ने से फट जाता है। इससे कोष के भीतर का डिंभ स्वतन्त्र होकर डिंभ-प्रणाली (Fallopian Tube) के सिरे के झालर में अटक जाता है। वहाँ से वह धीरे-धीरे गर्भाशय में पहुँचता है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २१

बिल्ली की डिंभ-ग्रंथि का परिच्छेद।
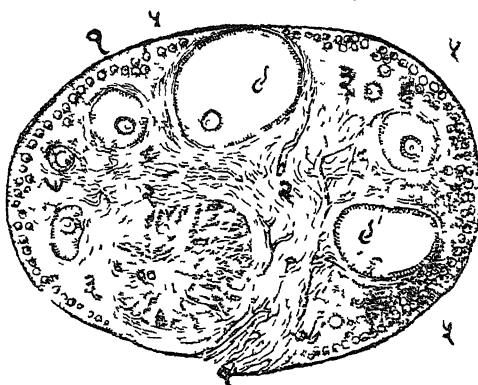
१—ग्रंथि के स्वतत्र धारा का बाह्यावरण जिस ओर वह बंधन से नहीं लगी हुई है।

१—दूसरी धारा जिस ओर ग्रथि दूसरे अंगो से जुडी हुई है।

२—ग्रंथि का आंतरिक भाग।

३—कणमय भाग जो सौत्रिक भाग के बाहर की ओर स्थित है।

४—रक्त-नलिकाएँ।

५—डिभ-कोष की प्रथम अवस्था।

६—डिभ-कोष की दूसरी अवस्था जहाँ उनका परिपक्कीकरण आरभ हो चुका है और वे ग्रंथि के भीतर की ओर चले गए हैं।

७—

८—डिभ-कोषअधिक परिपक्कहोकरसौत्रिक भाग में पहुँच गयाहै।

९—सबसे अधिक परिपक्क डिभ-कोष जिससे डिंभ निकलने-वाले हैं।

९—कोष जिससे किसी कारण से डिंभ निकल गया है

१०—पीतांग।

चित्र नं० १२४—परिपक्व डिंभ, डिंभ ग्रन्थि के पृष्ठ पर स्थित।

(हमारे शरीर की रचना से)
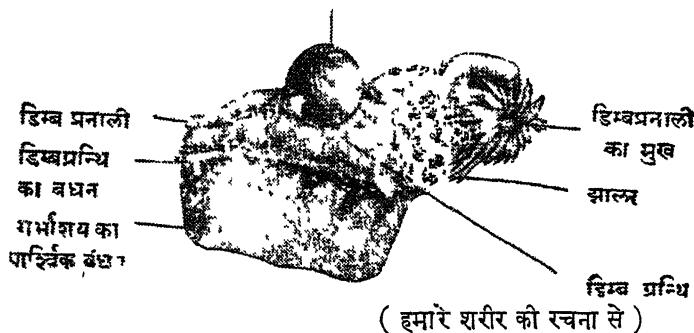
यह माना जाता है कि शुक्राणु और डिंभ का संयोग डिंभ-प्रनाली में होता है। गर्भाशय की ओर से शुक्राणु आता है और डिंभ प्रनाली के दूसरे सिरे की ओर से डिंभ जाता है। बीच में दोनों का मिलान हो जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक डिंभ ग्रंथि में ७२,००० के लगभग डिंभ-कोष होते हैं। अतएव डिंभों की भी इतनी ही संख्या होती है। प्रत्येक आर्त्तव में ग्रंथि से एक डिंभ निकलता है।

जब डिंभ-ग्रंथि से डिंभ निकल चुकता है तो फटे हुए डिंभ-कोष में पीले रंग के कुछ सेल उत्पन्न हो जाते हैं। यह उन्हीं सेलों से बनते हैं जो डिंभ-कोष के ऊपरी आवरण के भीतर की ओर स्थित थे। उन्हीं सेलों के बढ़ने से ये पीले रंग के सेल उत्पन्न होकर खाली स्थान को भर देते हैं। कभी-कभी यहाँ पर कुछ रक्त भी दिखाई पड़ता है जो कोष के फटने से निकलता है। यह पीतांग कहलाता है। इसमें विचित्रता यह होती है कि

यदि गर्भ स्थापन हो जाता है, तो यह पीतांग और बड़ा हो जाता है, और अंत तक उसके चिह्न बने रहते है। किंतु यदि गर्भस्थापना नही होती तो वह पीतांग धीरे धीरे सूखने और सिकुडने लगता है, यहाँ तक कि यह बिलकुल नष्ट हो जाता है। गर्भ के न होने पर छठे महीने के पश्चात् यह पीतांग दिखाई भी नही देता, किंतु गर्भ स्थापन होने पर नवे महीने मे यह इतना बड़ा हो जाता है कि इसकी परिधि $\frac{2}{3}$ इंच के लगभग होती है।

डिंभ—यह डिंभ, जो कोष के फटने से निकलता है, कुछ गोल होता है। बीच में प्रोटोप्लाज्म का समूह होता है और इसके चारों ओर एक स्वच्छ पारदर्शक झिल्ली होती है। इसको बाह्य वेष्ट कहते है। प्रोटोप्लाज्म में बसा और अलवूमन के बहुत से कण पाए जाते है। वह इन कणो से भरा रहता है। वास्तव मे यह डिंभ का पोषण-संग्रह है। उसने आगे के लिये अभी से अपने खाने की सब सामग्री एकत्रित कर ली है। प्रोटोप्लाज्म में एक स्थान पर केंद्र और केंद्राणु रहते है। इस स्थान पर किसी प्रकार के कण नही होते। प्रोटोप्लाज्म स्वच्छ होता है। इस सेल के भीतर एक आकर्षक मंडल भी होता है। इस सारे प्रोटोप्लाज्म के चारो ओर बाह्यावरण के भीतर एक पतला सा अतरावरण रहता है।

डिंभ-प्रणाली—यह वह प्रणाली है जिसके द्वारा ग्रंथि से निकलकर डिंभ गर्भाशय में जाता है। ये दो प्रणालियाँ दाहनी और बाईं, गर्भाशय के ऊपरी भाग के सिरों से आरंभ होती है। प्रत्येक प्रणाली ४ इंच के लगभग लंबी होती है। गर्भाशय के दोनों ओर से जो बंधन वस्ति—प्रदेश को जाते है उनके

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २२

एक मानुषिक डिंभ
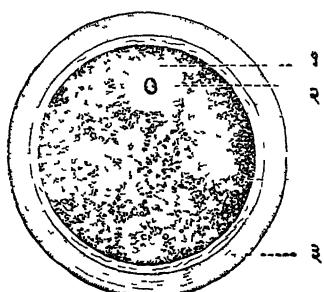
१—केंद्र या उत्पादक कोष।

२—केंद्राणु या उत्पादक कण।

३—बाह्यावरण।

पृष्ठ-संख्या ४१२

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २३

गर्भाशय, डिंभ-प्रणाली और डिंभ-नलिका इत्यादि। भग के नीचे और आगे का भाग और गर्भाशय का अंतिम भाग काट दिए गए हैं।
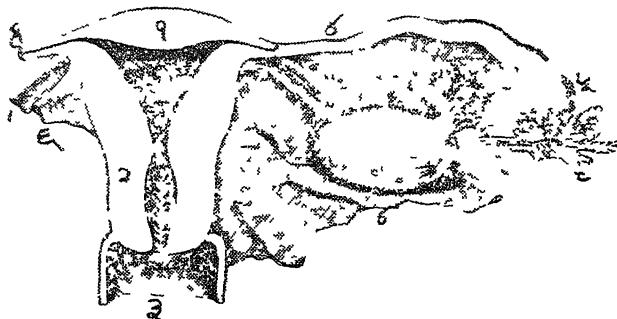
१—गर्भाशय का ऊपरी भाग ;

२—ग्रीवा (आतरिक द्वार के पास) ;

३—भग का ऊपरी और पिछला भाग ,

४—डिंभ-प्रणाली ;

५—डिंभ-प्रणाली का चौड़ा भाग ;

६—डिंभ का बधन ;

७—डिंभ-ग्रंथि ;

८—डिंभप्रणाली के दूसरे सिरे की झालर ;

पृष्ठ-संख्या ५१३

नारी-वस्ति गह्वर
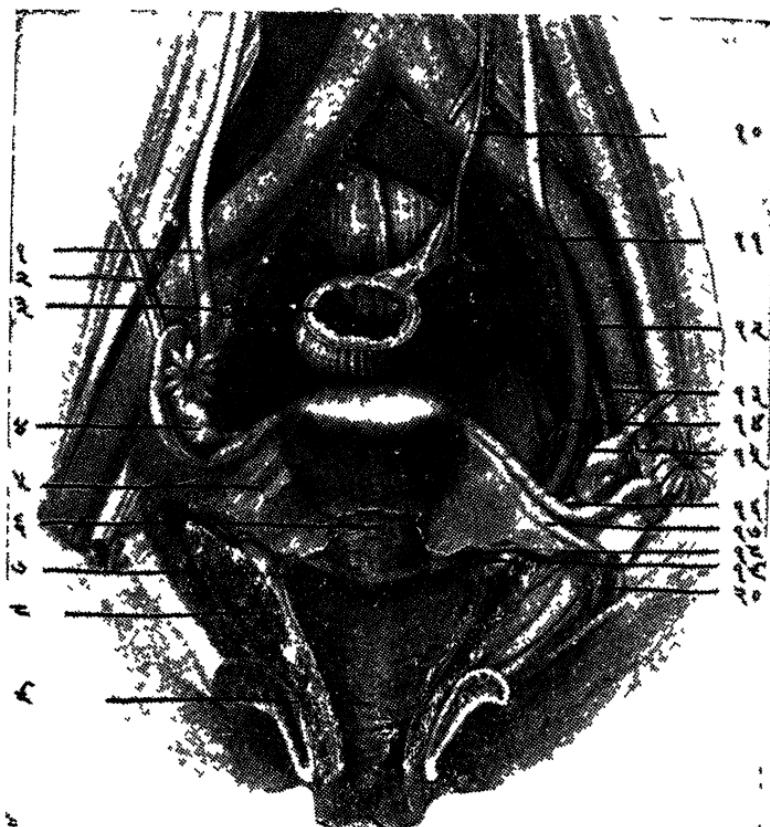
(Cunningham's Practical Anatomy)

(हमारे शरीर की रचना से)

प्लेट नं० २४ की व्याख्या

१=मूत्र-प्रणाली
२=डिंभ रक्तवाहिनियाँ
३=श्रोणिगा बृहत् अंत्र
४=डिंभ ग्रंथि
५=गर्भाशय का पार्श्विक बधन
६=जरायु ग्रीवा
७=योनि पार्श्विक कोण
८=गुदोत्थापिका पे०
९=योनि की कला जिसमे सलवटें पडी रहती हैं
१०=सरलांत्रोर्ध्व धमनी
११=अंत श्रोणिगा धमनी
१२=मूत्र-प्रणाली
१३=नाभि धमनी (सूखी हुई)
१४=सरलांत्र मध्य धमनी
१५=गर्भाशयिकी धमनी
१६=डिंभ-प्रणाली
१७=गोल बंधन
१८=गर्भाशयिकी धमनी
१९=मूत्र-प्रणाली
२०=उदराध' रक्तवाहिनियाँ

दोनों स्तरों के बीच में यह प्रणाली रहती है। उसका दूसरा सिरा डिंभ-ग्रंथि के पास खुलता है। इस सिरे पर एक झालर सी लगी हुई है। इस प्रणाली का डिंभ-ग्रंथि से वास्तव में कोई संबंध नहीं रहता। केवल यह झालर उसके पास रहती है। इसी के सहारे से डिंभ प्रणाली में आकर गर्भाशय की ओर चला जाता है।

प्रणाली की दीवारें सौत्रिक तंतु की बनी हुई होती हैं। साथ में कुछ अनैच्छिक मांस पेशियाँ भी रहती हैं। भीतर की ओर श्लैष्मिक कला रहती है। किंतु इस कला में लंबाई की ओर कुछ सिलवटें पड़ी हुई हैं। यहाँ की कला में वे सेल होते हैं, जिनके ऊपर से बारीक बारीक सूत्र निकले रहते हैं। उनकी क्रिया गर्भाशय की ओर हुआ करती है। अतएव वे डिंभ को आगे बढ़ने में सहायता देते हैं।

गर्भाशय—यह वह अंग है जिसमें गर्भ की स्थापना होती है। यह वस्ति-प्रदेश में रहता है। चित्र की ओर देखने से इसका आकार तुरंत ही समझ में आ जायगा। उसके सामने की ओर मूत्राशय और पीछे की ओर मलाशय रहते हैं।

गर्भाशय के ऊपर का भाग चौड़ा और मोटा होता है. किंतु नीचे का भाग पतला हो जाता है। यहाँ इसका मुख होता है जो योनि में पीछे की ओर खुलता है। इस मुख के दो ओष्ठ होते हैं; एक अगला और दूसरा पिछला। ऊपर का गर्भाशय का चौड़ा व मोटा भाग इसका गात्र कहलाता है। मुख के ऊपर का पतला भाग ग्रीवा कहा जाता है। गर्भ धारण करने से पूर्व गर्भाशय ३ इंच लंबा, २ इंच चौड़ा और १ इंच मोटा होता है, किंतु गर्भ के पश्चात् उसका आकार बढ़ जाता है।

गर्भाशय को अपने स्थान पर रखनेवाले कई बंधन होते है। दोनो ओर से उदर की कला उसको वस्ति के पार्श्व भाग से बाँधे हुए है। इस कला के दोनो परतो के बीच एक गोल रज्जु के समान बंधन रहता है। इसके अतिरिक्त और भी कई बंधन होते है।

यदि गर्भाशय को काटकर सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र में देखा जाय तो उसकी दीवारे तीन प्रकार के भागों से बनी हुई दिखाई देगी। सबके भीतर श्लैष्मिक कला, उसके बाहर पेशी, उससे बाहर सौत्रिक तंतु का स्तर। इन्ही तीन परतो से डिंभ-प्रणाली भी बनी होती है। किंतु गर्भाशय में पेशी का भाग बहुत अधिक होता है। क्योंकि उसको पेशी की आवश्यकता भी अधिक होती है।

साधारणतया गर्भाशय के भीतर खाली स्थान नही रहता। उसकी दीवारे आपस में मिली रहती है। जब वहाँ गर्भ की स्थापना होती है तब उसकी दीवारें एक दूसरे से अलग हो जाती है और उनके बीच में स्थान हो जाता है। ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ता है त्यों-त्यों स्थान भी अधिक होता जाता है।

योनि—योनि गर्भाशय के मुख तक पहुँचने का मार्ग है, यद्यपि उसका वहीं अंत नही हो जाता। वह वास्तव में एक नली है। उसका ऊपर का सिरा गर्भाशय के मुख और ग्रीवा के नीचे रहता है। गर्भाशय का मुख इस नली में आगे की ओर को निकला रहता है। इस कारण यह नली गर्भाशय के मुख के पीछे, किंतु उससे अधिक ऊपर तक चली जाती है। इस नली का नीचे का खुला हुआ सिरा और उसका बाहर का छिद्र भग के ओष्ठों के बीच मे मूत्र द्वार से आधा इंच ऊपर रहता है। ऊपर यह

नली गर्भाशय के पीछे की ओर जितनी गहरी है उतनी आगे की ओर नहीं है। ये उसके पूर्व और पश्चात् कोण कहलाते हैं। मैथुन करने से पूर्व बाहर का द्वार एक प्रकार की झिल्ली से बंद रहता है जो मैथुन से टूट जाता है।

इस नली की लंबाई कोई तीन या चार इंच होती है। उसके भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक कला रहती है। वह एक प्रकार का तरल बनाती रहती है जिससे सारी नली सदा गीली रहती है। प्रदर के रोगों में यह तरल अधिक बनने लगता है। योनि-द्वार पर योनि सकोचिनी पेशी रहती है। योनि की दीवार में शिराओं की संख्या बहुत अधिक होती है, जो मैथुन के समय रक्त से भर जाती हैं। मैथुन के पश्चात् वह फिर खाली हो जाती हैं।

जननेंद्रियों की रचना का सामान्यतः ज्ञान प्राप्त कर चुकने के पश्चात् अब हमको इस बात का ज्ञान करना आवश्यक है कि गर्भ की स्थापना किस प्रकार होती है? कौन-कौन भाग क्या-क्या कार्य करते है, डिंभ किस समय ग्रंथि में से निकलता है और उसके और शुक्राणु के सयोग से किस प्रकार गर्भस्थिति होती है। यह गर्भशास्त्र अथवा भ्रूण-शास्त्र स्वयं ही विज्ञान की एक बड़ी शाखा है। इस विषय का पूर्णतया वर्णन करने के लिये एक इस पुस्तक से भी बड़े ग्रथ की आवश्यकता है। इस कारण यहाँ पर गर्भ-संबंधी केवल बहुत मोटी-मोटी बातों के बताने की चेष्टा की जायगी।

आर्त्तव—डिंभ उस समय ग्रंथि से निकलता है जिस समय स्त्री को मासिक धर्म होता है। यह हमारे देश में १२-१४ वर्ष की आयु में आरंभ होता है और ४५-५० वर्ष की आयु तक जारी रहता है। इसके पश्चात् वह बंद हो जाता है। इसको

रजोनिवृत्ति कहते हैं। आर्त्तव के समय मे भिन्न-भिन्न दशाओं में अंतर पाया जाता है। शीत देशो मे रजोदर्शन देर से होता है। जो लड़कियाँ आमोद-प्रमोद मे पलती है, उत्तेजक वस्तुएँ खाती हैं और ऐसे ही उपन्यास पढती हैं उनमें साधारण काम-काज करनेवाली ग्रामीण कन्याओं की अपेक्षा रजोदर्शन शीघ्र आरंभ हो जाता है। रजोदर्शन से यह समझा जाता है कि कन्या युवती हो गई अर्थात् संतानोत्पत्ति के योग्य हो गई है।

प्रत्येक स्त्री को लगभग चार सप्ताह के पश्चात् मासिक धर्म होता है और तीन या चार दिन तक रहता है। इस समय में योनि से रक्त का स्राव होता रहता है। उस समय में अथवा उसके आरंभ होने से कुछ समय पूर्व ही से गर्भाशय की श्लैष्मिक कला लाल हो जाती है। उसमें रक्त का संचालन अधिक होता है। श्लैष्मिक कला के नीचे कहीं-कहीं रक्त जमा होने लगता है। अंत में रक्त के अधिक होने से श्लैष्मिक कला फट जाती है और रक्त बहने लगता है। यह साधारण रक्त नही होता, किंतु उससे कुछ भिन्न होता है। उसमें श्लेष्मा अधिक रहता है। इस कारण वह साधारण रक्त की भाँति नहीं जमता। इसमें चूने के लवणों की भी अधिकता होती है और श्लैष्मिक कला का भी बहुत कुछ भाग रहता है। मासिक स्राव से गर्भाशय की कला का बहुत सा भाग नष्ट हो जाता है। कभी-कभी कला के नीचे स्थित सेलों का भी नाश हो जाता है। यह स्राव तीन-चार दिन तक होने के पश्चात् फिर बंद हो जाता है। अनुमान किया जाता है कि एक बार मासिक स्राव में दो या तीन छटाँक रक्त निकलता है। किंतु इसका परिमाण सब स्त्रियों में समान नहीं होता। किन्हीं में अधिक होता; किन्ही मे कम होता है। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

आर्त्तव के समय में दूसरी जननेंद्रियों में भी कुछ परिवर्त्तन होते हैं। डिंभ-ग्रंथि में रक्त का अधिक संचालन होता है। गर्भाशय की दीवारें रक्तमय हो जाती हैं। योनि की श्लैष्मिक कला भी रक्त की अधिकता के कारण कुछ सूज जाती है और उसका रंग लाल हो जाता है। गर्भाशय कुछ कडा भी हो जाता है। इनके अतिरिक्त बहुत सी स्त्रियों को आर्त्तव के दिनो में पीडा होती है। शारीरिक और मानसिक दोनो ही अवस्थाएँ बिगड जाती हैं। शरीर में आलस्य का रहना; कमर या कूल्हों मे भारीपन मलूम होना; भोजन या काम करने में अरुचि; स्वभाव का चिडचिडा हो जाना आदि साधारण बातें हैं। जिनके शरीर में पूर्व ही से कुछ विकार है उनको अधिक कष्ट होता है। गर्भाशय के दोनों ओर या पेडू में तीव्र दर्द का होना गर्भाशय या डिंभ-प्रणाली के रोग का सूचक है।

डिंभ-ग्रंथि में बहुत बडा परिवर्तन होता है। जिन दिनो में मासिक स्राव होता है उस समय डिंभ-ग्रंथि में डिंभ परिपक्क होकर अपने कोष को फाड़कर बाहर निकल आता है। वह स्राव के समय डिंभ प्रणाली मे आता है या आनेवाला होता है। जिन दिनों में स्राव नहीं होता उन दिनों में डिंभ भी परिपक्क नहीं होता और न वह ग्रंथि से बाहर ही निकलता है। मासिक स्राव और ग्रंथि से डिंभ के निकलने में अवश्य ही गहरा संबंध है; इसमें तनिक भी सदेह नहीं। जब तक डिंभ परिपक्क होना आरंभ नहीं होता, उस समय तक रजोदर्शन भी आरंभ नहीं होता और जिस आयु में डिंभ-ग्रंथि से डिंभ निकलना बन्द हो जाता है, जो ४५ या ५० वर्ष की अवस्था में होता है, उस समय मासिक स्राव भी बन्द हो जाता है। अतएव इसमें किसी को भी

संदेह नहीं है कि इन दोनों घटनाओं में अवश्य ही कुछ न कुछ सम्बन्ध है।

किंतु इस सम्बन्ध के स्वभाव और कौन सी घटना पूर्व होती है, ग्रंथि से डिंभ पहले निकलना है व स्राव पहले होता है, इन बातों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ पशुओं मे, जिन पर कुछ प्रयोग किए गए है, यह पाया गया है कि डिंभ उस समय परिपक्व होता है जब स्राव बन्द हो जाता है या बन्द होनेवाला होता है। अर्थात् स्राव के पश्चात् डिंभ परिपक्व होता है। कुत्ते, भेड और सूअर में यही पाया गया है। अनेक बार भिन्न-भिन्न अन्वेषणकर्त्ताओं के द्वारा बहुत से विचित्र सिद्धान्त बने है और रद्द हो चुके है। किंतु यह बात ठीक मालूम होती है, जैसा कि उनमें से कुछ सिद्धान्त बताते है कि मासिक स्राव का अभिप्राय गर्भाशय की श्लैष्मिक कला को इस योग्य बना देना है कि वह डिंभ को अपने में धारण कर सके। प्रत्येक मास मे गर्भाशय की कला नई हो जाती है। इससे डिंभ को धारण करने की उसमें पूर्ण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। एक महाशय का कथन है कि स्राव से कला खुरदरी हो जाता है जिससे डिंभ को वहाँ चिपकने मे सुगमता होती है। जिन लोगों का यह मत है कि डिंभ स्राव से पूर्व ही परिपक्व होकर प्रणाली में आ जाता है उनका कहना है कि गर्भाशय पहले से डिंभ के आतिथ्य-सत्कार के लिये प्रस्तुत रहता है, किंतु जब डिंभ वहाँ नही आता तो वह रोता है। सो गर्भाशय के अश्रु ही मानो मासिक स्राव है।

प्रति मास ग्रंथि से एक डिंभ निकलकर डिंभ-प्रणाली मे प्रवेश करता है। प्रणाली के सेलों की सिलियाँ उसको गर्भाशय की ओर चलता कर देती है। उनकी क्रिया उसी ओर को होती

है । अतएव डिंभ को उस ओर जाने में भिल्लियों की गतिसे सहायता मिलती है । इस प्रकार डिंभ गर्भाशय में पहुँच जाता है। यदि इस यात्रा में गर्भाशय में पहुँचने के पूर्व डिंभ-प्रणाली मे उसको शुक्राणु मिल जाता है तो दोनो का संयोग होता है । डिंभ का गर्भाधान (Fertilization) होता है और संभव है कि वृद्धि भी यहीं आरंभ हो जाती हो।

परिपक्वीकरण—गर्भाधान अर्थात् स्त्री और पुरुष सेलों का संयोग होने से पूर्व उन दोनों मे कुछ परिवर्त्तन होते है जिनके पश्चात् वे परिपक्व हो जाते हैं । जो शुक्राणु ग्रंथियो के सेलो के भीतर होते हैं वे संयोग करने के योग्य नहीं होते । उनमें एक बार भाग होता है, और साथ में कुछ और भी परिवर्त्तन होते हैं, जिनके पश्चात् उनमें संयोग करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । ये शुक्राणु अपने प्राथमिक स्वरूप से भिन्न होते हैं । इसी प्रकार डिंभ में भी परिवर्त्तन होते हैं । प्राथमिक डिंभ मे दो बार भाग होता है जिससे चार, डिंभ के समान, गोल-गोल वस्तुएँ तैयार होती है। इनमें से केवल एक डिंभ होता है। शेष तीनो गोले ध्रुवकण (Polar Bodies) कहलाते है । इसी प्रकार प्राथमिक शुक्राणु के भाग से चार शुक्राणु बनते हैं; किंतु वे सब अपना काम करनेवाले होते हैं ।

इस संबंध मे इतना कहना आवश्यक है कि जब डिंभ परिपक्व होने लगता है तो उसमें भाग होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह भाग दो बार होता है। जैसे सामान्य सेलों के भाग में सेल का केंद्र लम्बे-लम्बे तंतुओं के रूप मे आकर क्रोमोसोम बना देता है, उसी प्रकार यहाँ भी क्रोमोसोम बन जाते हैं। अपरिपक्व डिंभ का केंद्र अपने रूप का छोड देता है। केंद्र जिस वस्तु का बना

चित्र नं० १२९—शुक्राणु और डिंभ का परिपक्कीकरण।
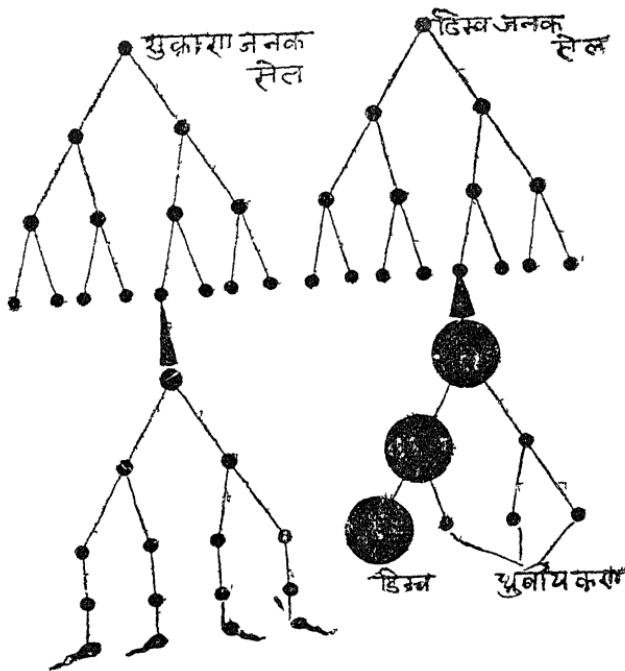
होता है वह एक विशेष आकार धारण कर लेता है। बहुधा सेल के दोनों सिरो पर यह वस्तु छोटे-छोटे दंडों के आकार में स्थित हो जाती है। ये दंड क्रोमोसोम कहलाते हैं। सेल के भाग होने में क्रोमोसोम बीच से विभाजित होकर आधे आधे दोनो सिरों पर स्थित हो जाते हैं (देखो चित्र नं० ३ मानव-शरीर-रहस्य प्रथम भाग)। जब भाग पूर्ण हो जाता है तो आधे-आधे क्रोमोसोम सेल के दोनों भागों मे चले जाते हैं। इससे प्रत्येक भाग मे पहले की अपेक्षा आधे क्रोमोसोम रह जाते है। यदि इन नवीन

भागों का फिर भाग होता है तो क्रोमोसोम फिर दो भागो मे विभाजित होते है। अतएव परिपक्व क्रिया के पश्चात् डिंभ में क्रोमोसोम की सख्या घट जाती है। क्रोमोसोम डिंभ और शुक्राणु दोनो में होते हैं। अतएव जब दोनो के संयोग से गर्भाधान होता है तो दोनों के क्रोमोसोम का भी संयोग होता है। यही क्रोमोसोम माता-पिता के गुणों के वाहक माने जाते हैं।

गर्भाधान—शुक्राणु और डिंभ दोनो परिपक्व होकर गर्भाधान के लिये तैयार हो जाते हैं। मैथुन-क्रिया के द्वारा दोनो का संयोग होता है। इस क्रिया से स्त्री-पुरुष दोनों को एक प्रकार का आनन्द होता है। इसका कारण वे नाडियाँ होती हैं जो दोनो ओर के मुंडों में रहती हैं, जिनसे सवेदना मस्तिष्क को जाती है। योनि की दीवारे सदा एक विशेष प्रकार के तरल से गीली रहती है। यह तरल उन ग्रंथियो से निकलता है जो योनिद्वार के पास रहती है।

मैथुन-क्रिया से शिश्न गर्भाशय के द्वार के पास शुक्र को पहुँचा देता है। कभी-कभी गर्भाशय के मुख ही में शुक्र चला जाता है अथवा गर्भाशय योनि से शुक्र को चूस लेता है। मैथुन समाप्त होने पर शिश्न ढीला पड जाता है। इस प्रकार गर्भाशय के भीतर शुक्र के शुक्राणु प्रवेश करते हैं। ये शुक्राणु अपने शरीर को तीव्र गति से ऊपर की ओर यात्रा करते हैं और वहाँ डिंभ-प्रणाली के छिद्र द्वारा प्रवेश करके नाली में पहुँच जाते हैं। यहाँ पर उनको परिपक्व डिंभ मिलता है। एक डिंभ के लिये केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। अतएव एक शुक्राणु का तो डिंभ से संयोग हो जाता है; दूसरे शुक्राणु अंत को नष्ट हो जाते हैं।

चित्र नं० १२६—एक मूषकी के डिंभ की गर्भाधान-विधि।

शुक्राणु अपने सिर के अग्र नोकीले भाग के द्वारा डिंभ के बाह्यावरण को छेद देता है और इसका सिर, ग्रीवा और गात्र का कुछ भाग भी डिंभ के भीतर प्रवेश करते है। शेष सारा भाग बाहर ही पड़ा रहता है और अत को नष्ट हो जाता है। कुछ समय

में शुक्राणु के डिंभ के भीतर गए हुए भाग के स्वरूप में परिवर्तन होता है और वह पुरुष-पूर्वकेंद्र (Male-Pro-nucleus) बन जाता है। उसका आकार एक केंद्र ही के समान होता है। उसके साथ में उसके आकर्षक मंडल और आकर्षक बिंदु भी रहते हैं। इसी डिंभ में स्त्री-पूर्वकेंद्र (Female-Pro-nucleus) बन जाता है। इन दोनों केंद्रों में क्रोमोसोमो की संख्या समान होती है।

कुछ समय के पश्चात् स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वकेंद्र आपस मे मिल जाते हैं जिनसे केवल एक केंद्र बनता है। उस समय गर्भाधान पूर्ण हो जाता है। इस समय डिंभ में एक केंद्र होता है और उसके साथ दो आकर्षक मडल होते हैं। इसके पश्चात् डिंभ-प्रणाली द्वारा गर्भाशय में आता है, जहाँ वह उसकी भित्ति पर चिपट जाता है। इसके पश्चात् उसमें भाग और वृद्धि होने आरंभ होते हैं।

यह समस्या अभी तक हल नहीं हो सकी है कि पुरुष-पूर्व केंद्र की ऐसी कौन सी क्रिया होती है जिससे डिंभ में वृद्धि होने लगती है। वह क्रिया रासायनिक है या भौतिक है। लोइब (Loeb) महाशय का कथन है कि पुरुष-पूर्वकेंद्र की क्रिया केवल रासायनिक है। उसने रासायनिक साधनो द्वारा कुछ छोटे जीवो की उत्पत्ति की है। उसने पहले डिंभ को फ़ारमिक अम्ल (Formic Acid) में रखा। इससे उसके ऊपर एक पतली सी झिल्ली बन गई। इसके पश्चात् उनको ऐसे सामुद्रिक खारे जल मे रखा जिसमे लवण की मात्रा अधिक थी। और अंत में उसको साधारण सामुद्रिक जल मे रखा जिसमें लवण की मात्रा कम थी। ऐसा करने से डिंभ के भाग होने लगे और

उनसे जंतुओं की उत्पत्ति आरंभ हो गई। इन महाशय को इस प्रकार से पूर्ण जतु के उत्पन्न करने मे तो सफलता नही हुई है, किंतु वह उस जतु के लारवे* (Larva) की अवस्था तक पहुँच गए है। उससे इनका यह विचार है कि शुक्राणु डिंभ को कोई ऐसी रासायनिक वस्तु देता है जिससे डिंभ उत्तजित होकर वृद्धि करने लगता है।

वृद्धि का क्रम—शुक्राणु और डिंभ के मिलने से जो भ्रूण सेल बनता है, उसमे भाग होना आरम्भ होता है। एक सेल से दो सेल बनते है। ये दोनों सेल फिर दो-दो भागों मे विभक्त होते हैं। इस प्रकार चार सेल बन जाते है। चार से फिर आठ बनते है, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस; बत्तीस से चौंसठ; इसी प्रकार इनकी सख्या बढ़ती चली जाती है। बत्तीस ये सब सेल एक दूसरे के साथ चिपटे रहते है। इससे इनका एक समूह सा बन जाता है जिसमें प्रत्येक सेल की स्वतंत्र स्थिति होती है। इस समूह का आकार एक बडे गोल शहतूत की भाँति हो जाता है। इन सब सेलो के चारों ओर डिंभ का बाह्यावरण रहता है। इस प्रकार एक बडे कोष्ठ के भीतर ये सेल विभक्त होकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते है। इस अवस्था को कलल अवस्था (Morula Stage) कहते है। इसमें बाहर की सेलें भीतर की सेलो की अपेक्षा बड़ी होती हैं। इस प्रकार बीच में छोटे सेलों का समूह रहता है और उसके चारों ओर बड़े सेलों का एक स्तर रहता है।

धीरे-धीरे इस सेल-समूह के बीच से सेल हटने लगते हैं। इससे

* पूर्ण जतु बनने से पूर्व की एक दशा का नाम है।

वहाँ पर कुछ खोखला स्थान बन जाता है, जिसमें एक प्रकार का तरल रहता है। धीरे-धीरे यह तरल बढ़ता है। सारे सेल एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं और बाहरी दीवार के साथ लगे रहते हैं। बाहरी आवरण के भीतर की ओर जो सेलों का एक परत रहता है उसके सेल बडे और अष्टकोणी हो जाते हैं। भीतर के सेलों का आकार क्रमहीन हो जाता है। इनमें कोई बड़े और कोई छोटे होते है। इस प्रकार इस अवस्था पर भ्रूण सेल के भीतर स्थित सेल-समूह के चारों ओर सेलो का केवल एक परत रहता है। किंतु शीघ्र ही इस परत के भीतर की ओर सेलों का एक नया परत बन जाता है। ये सेल भीतर स्थित सेल-समूह से बनते है। इस प्रकार एक के स्थान मे अब दो परत हो जाते हैं। शीघ्र ही इन दोनो परतो के बीच मे एक नया तीसरा परत बन जाता है और भ्रूण-सेल के चारो ओर फैल जाता है। इन सेलों के तीनो परतो को भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है। सबसे बाहरी परत को वाह्योत्पादक बीचवाले परत को मध्योत्पादक और भीतरवाले को अंतरोत्पादक कहते है। इन तीनोंपरतो से शरीर के भिन्न-भिन्न भाग बनते हैं। जैसा कि नीचे के लेख से विदित है।

बाह्योत्पादक से—

१. उपचर्म और उसके अकुर जो भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हैं।
२. नाडी-मंडल, मध्यस्थ और प्रांतिक दोनों।
३. ज्ञानेंद्रियों, नेत्र कर्ण, नासिका इत्यादि के कुछ भाग।
४. मुख की भीतरी कला
५. नासिका के रंध्रो की कला।
६. चर्म की ग्रंथियो की कला।

७. स्वेद ग्रथियो से संबंध रखनेवाले पेशी-सूत्र।

८. नेत्र के आयरिस के पेशी-सूत्र।

माध्योत्पादक से—

१. शरीर की समस्त अस्थियाँ।

२. सारे शरीर का सौत्रिक तन्तु।

३ शरीर की समस्त मांस-पेशी।

४. रक्तवाहक संस्थान, हृदय, धमनी, शिरा इत्यादि।

५. रसवाहिनी नलिकाएँ।

६. प्लीहा।

७. मूत्र-संस्थान।

८. जननेंद्रियाँ

अंतरोत्पादक से—

१. समस्त पाचन प्रणाली की भीतरी कला जो दाँतों के भीतर की ओर से आरभ होकर सारी प्रणाली की दीवारों को भीतर क ओर से आच्छादित करती हुई मल-स्थान तक चली जाती है।

२. पाचन-प्रणाली से सबंध रखनेवाली सब ग्रथियाँ, जैसे यकृत्, अग्न्याशय इत्यादि, की कला भी इससे बनती है।

३. श्वास-संस्थान की कला।

४. कर्ण की कला।

५. अवटुका और बालग्रंथि के कोष्ठो की कला।

६. मूत्राशय और मूत्र-नलिका की कला।

इस प्रकार गर्भकाल मे गर्भाशय में एक सेल से शरीर के सारे अंग बन जाते है। जब नव मास के पश्चात् बच्चा जन्म लेता है तो उस समय उसके शरीर के सारे अवयव अपना-अपना कर्म स्वतंत्रता से कर सकते है। यद्यपि जन्म के पश्चात् कई साल

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० २६

डिंभ में भाग जिससे एक सेल से अनेक सेल उत्पन्न हो जाते है।
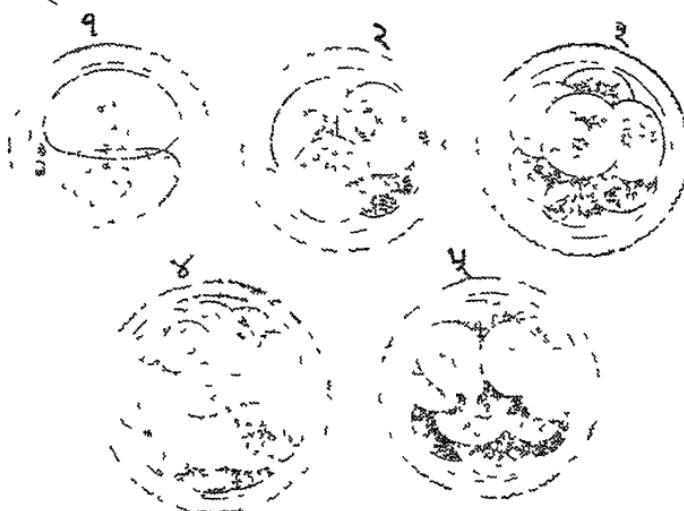
१—एक सेल का दो मे भाग।

२—दो का चार मे भाग।

३—चार से आठ सेल उत्पन्न होते है।

४ और ५—इसी प्रकार सेलो की संख्या बढती जाती है, जिससे स्वच्छ और कण-रहित सेल बाहर की ओर रहते है और कणमय सेल भीतर की ओर आ जाते हैं।

पृष्ठ-संख्या ५२७

तक वह अपने भोजन, पालन-पोषण के लिये माता ही पर निर्भर करता है तो भी उसकी भौतिक स्थिति भिन्न हो जाती है। यह उस भाँति माता के शरीर का एक भाग नहीं रहता, जैसे कि पहले था।

गर्भ के भीतर बच्चा अपने शरीर के लिये सारी आवश्यक सामग्री माता ही के शरीर से प्राप्त करता है और उसी के सहारे उसके शरीर के अंग बनते हैं। माता के रुधिर से बच्चे के शरीर में सारे पोषक पदार्थ पहुँचते हैं। किन्तु माता और बच्चे के शरीर का रक्त कहीं भी आपस में मिलते नहीं। दोनों भिन्न रहते है। बच्चे का रक्त उसके रक्त-नलिकाओं में रहता है और उसकी उत्पत्ति भी उसी के शरीर मे होती है। माता का रक्त उससे बिलकुल भिन्न रहता है। बच्चे का रक्त माता के रक्त का भाग नहीं है। दोनों रक्तों मे इतनी भिन्नता होते हुए भी माता के रक्त में सम्मिलित भोजन पदार्थ बच्चे के रक्त मे पहुँच जाते है।

बच्चे के शरीर का माता के शरीर के साथ अपरा के द्वारा संबंध रहता है। यह उस स्थान पर बनता है, जहाँ सबसे पहले डिंभ-प्रणाली से आकर गर्भाशय की दीवार से स्थित होता है। बच्चे के लिये यह अपरा बहुत महत्त्व का अंग है। क्योंकि इसी के द्वारा बच्चे का पोषण होता है। अतएव इसकी उत्पत्ति और रचना पर तनिक अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

गर्भाशय मे भ्रूण-सेल की स्थिति और अपरा की उत्पत्ति—हम पहले देख चुके है कि शुक्राणु और डिंभ का संयोग डिंभ-प्रणाली में होता है। वहाँ से भ्रूण-सेल गर्भाशय की ओर यात्रा करता है। यह माना जाता है कि इस यात्रा में उसको सात दिन लग जाते हैं। जिस समय वह गर्भाशय में पहुँचता

है, इस समय तक सेल मे बहुत कुछ वृद्धि हो चुकती है। कलल-अवस्था समाप्त होकर दूसरी अवस्था आरंभ हो जाती है। भिन्न-भिन्न उत्पादको के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। बाह्योत्पादक का बहुत कुछ भाग बन चुकता है।

सबसे छोटा मानविक डिंभ, जो अब तक देखा गया है, १३-१४ दिन का था, किंतु इसमे भी सेलों के दो परत उपस्थित थे। इनमे से बाहर के परत मे अम्ल के समान नाश करने की शक्ति होती है। जिस स्थान पर डिंभ स्थित होता है, वहाँ के तंतु इस परत के कारण घुल जाते हैं और इस प्रकार वहाँ एक छोटा सा गढा जाता है। भ्रूण के बाहर के परत की इस शक्ति का कारण एक रासायनिक वस्तु होती है जिसके कारण उसके चारों ओर तंतु घुलने लगते है।

इस प्रकार जहाँ पर डिंभ स्थित होता है, वहाँ एक छोटा-सा गढा बन जाता है, जिसमे भ्रूण स्थित हो जाता है। भ्रूण धीरे-धीरे नीचे को खोदना आरंभ करता है और भीतर को प्रवेश करता चला जाता है। अंत में वह गर्भाशय की दीवार के भीतर गड़ जाता है और उसके ऊपर का गढा, जिसके द्वारा उसने प्रवेश किया है, रक्त से भर जाता है। कुछ समय के पश्चात् यह रक्त भी दूसरे सेलों के द्वारा शोष लिया जाता है। इस प्रकार भ्रूण गर्भाशय की दीवार के भीतर अपने लिये एक खोखला स्थान तैयार कर लेता है जो चारो ओर से बंद होता है। इस खोखले स्थान में भ्रूण-सेल पडा रहता है और जो रक्त उसके चारो ओर रहता है उसी से वह पोषित होता है।

भ्रूण के आने के कुछ समय पूर्व ही से गर्भाशय उसके स्वागत की तैयारियाँ करने लगता है। जैसा एक बार ऊपर कहा जा चुका

है। कुछ का तो यह मत है कि भ्रूण के न आने से गर्भाशय रोता है। मासिक स्राव ही उसका रोना है। भ्रूण के आ जाने पर उसकी तैयारियाँ और भी बढ़ जाती हैं। उसके भिन्न-भिन्न भागों की रचनाओं में परिवर्तन होने आरम्भ हो जाते हैं। भ्रूण-सेल की तन्तुओं को नाश करने की शक्ति को रोकने के लिये गर्भाशय को प्रयत्न करना पड़ता है। यदि यह क्रिया किसी भाँति न रोकी जाय तो कुछ समय में गर्भाशय की दीवार में छेद हो जाते हैं। अतएव गर्भाशय की दीवार के भीतर के सौत्रिक तन्तु के सेल, जो पहले छोटे होते हैं, आकार मे बढ़ जाते है और उनके केन्द्रों का आकार भी बड़ा हो जाता है। ये सेल आकार में अष्टकोणी होते हैं। भ्रूण-सेल की नाशक शक्ति का अवरोध करने के लिये गर्भाशय इन सेलों की एक दीवार तैयार कर देता है। गर्भाशय की दीवार के भीतर की ग्रन्थियों में भी वृद्धि होती है। वे लम्बी और चौड़ी हो जाती है; वहाँ रक्त का प्रवाह अधिक होने लगता है, रक्त-केशिकाएँ फूल जाती हैं और गर्भाशय की भीतरी कला फूली हुई और लाल दिखाई देती है। साधारण अवस्था में इस कला की मोटाई $\frac{1}{25}$ इंच के लगभग होती है; किन्तु इस समय वह फूलकर $\frac{1}{5}$ इंच तक हो जाती है। कला की इतनी वृद्धि का मुख्य कारण ग्रंथियों की वृद्धि है। इनका नीचे का चौड़ा भाग भी बढ़ता है, किन्तु ऊपर की गर्दन में अधिक वृद्धि होती है। इस प्रकार यदि कला को काटकर देखा जाय तो उसके दो भाग दिखाई देंगे; एक ऊपर का भाग जिसमें ग्रंथियों की गर्दन रहती है जिनके बीच में दूसरे सेल भरे रहते हैं; दूसरा नीचे का भाग जहाँ बहुत से चौड़े-चौडे खाली स्थान दिखाई पड़ते हैं। ये ग्रंथियों के गात्र हैं।

प्रसूतिशास्त्रज्ञ गर्भाशय की कला को तीन भागों में विभाजित करते हैं; पहला वह भाग जो भ्रूण के उपर रहता है अर्थात् भ्रूण को ढके रहता है; दूसरा वह जो भ्रूण के नीचे रहता है और तीसरे भाग में गर्भाशय की समस्त कला गिनी जाती है। ज्यों-ज्यों भ्रूण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह कला पतली पड़ती जाती है। और जब तीसरे मास के अंत में भ्रूण बढ़कर गर्भाशय के भीतर सारे स्थान को भर देता है तो वह बहुत ही पतली झिल्ली सी रह जाती है।

अपरा की उत्पत्ति—हम ऊपर देख चुके हैं कि भ्रूण अपने रहने के लिये एक छोटा सा मकान बना लेता है, जो चारों ओर से बंद होता है। जिस गड्ढे में वह रहता है उसमें रक्त भरा रहता है, जो भ्रूण का पोषण करता है। यहीं पर, जहाँ भ्रूण गर्भाशय की कला के संपर्क में रहता है, अपरा बनना आरंभ होता है। सबसे प्रथम भ्रूण के बाह्यावरण से अंकुर निकलने आरंभ होते है। इन्हीं अंकुरों के द्वारा वह अपने बाह्य स्थान की दीवारों पर चिपट जाता है। इन अंकुरों के बीच में कला का वह भाग पड़ा रहता है जो भ्रूण के द्वारा नष्ट हो चुका है। साथ में वहाँ पर माता का वह रक्त भी रहता है जो इस गढ़े के बनने के समय गर्भाशय की रक्त-नलिकाओं के मुँह खुल जाने से निकला था।

इस समय ये अंकुर क्रमहीन और भद्दे से होते है। धीरे-धीरे इनकी रचना सुधरने लगती है। जो रक्त और कला का नष्ट भाग इनके बीच में पड़ा हुआ था वह सब कला ही में शोषित हो जाता है और कुछ समय के पश्चात् ये अकुर गर्भाशय के साथ अपना पूर्ण संबंध स्थापित कर लेते हैं। इनके द्वारा भ्रूण की स्थिति पक्की हो जाती है और इन्हीं के द्वारा उसको पोषण भी

गर्भ के चारों ओर से अंकुर निकलकर गर्भाशय-कला से संयुक्त हो जाते हैं। उनके ऊपर सेलों का एक केवल परत रहता है, जिस पर भत्तकवेष्ट का एक परत रहता है।

१—अंकुर में जानेवाली नलिकाएँ।

२—भत्तकस्तर।
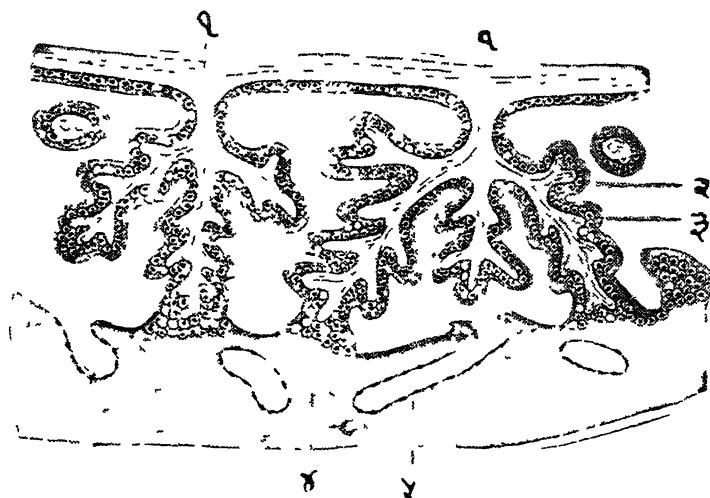
३—लैंगहैन का स्तर।

४—गर्भ कला।

५—माता की रक्त-नलिका जिसके द्वारा रक्त आकर अंकुरों के बीच में भ्रमण करता है।

अपरा का परिच्छेद।

१—अपरा के रक्त-स्थान।

२—गर्भ-कला।

३ और ४—गर्भाशय की धमनी और शिरा।

मिलता है । ये अंकुर भ्रूण के चारों ओर से निकलते हैं और कला, जो उनको ढके हुए है व जिस पर वे स्थित हैं, की ओर बढ़ते है । इन अंकुरों में से शाखाएँ निकलती हैं और उन शाखाओं में से फिर बारीक-बारीक प्रशाखाएँ निकलती हैं । इस कारण ये अंकुर एक वृक्ष की टहनी जैसे दीखने लगते हैं और अंत मे वे गर्भाशय की कला से मिल जाते हैं । इस प्रकार इन अनेक अंकुरों द्वारा वह स्थान या गढ़ा, जिसमें भ्रूण रहता है, बहुत से छोटे-छोटे कोष्ठों में विभाजित हो जाता है, जिनके द्वारा माता का रक्त प्रवाह करता है । यह रक्त उन केशिकाओं और नलिकाओं से निकलता है जिनका अंकुरों के गर्भाशय की दीवार में घुसने पर नाश हो जाता है । इससे यह स्पष्टतया विदित है कि इस स्थान में भ्रूण के अंकुर रहते हैं और उन अंकुरों के बीच में रक्त का प्रवाह होता रहता है । अर्थात् ये अंकुर रक्त में डूबे रहते हैं ।

प्रथम तो ये अंकुर भ्रूण के चारों ओर से निकलते हैं, किंतु ज्यों-ज्यों भ्रूण का आकार बढ़ता है, त्यों-त्यों इसके ऊपर की कला पतली होती जाती है और अंत में वह एक बहुत बारीक झिल्ली रह जाती है । इस कारण जो अंकुर कला के इस भाग से संबंध रखनेवाले थे वे सूखने लगते हैं और कुछ समय के पश्चात् उन अंकुरों का बिलकुल नाश हो जाता है । केवल वे अंकुर, जो भ्रूण के नीचे की कला के साथ संबंध रखते हैं, शेष रह जाते हैं । तत्पश्चात् उनमें बहुत वृद्धि होती है । इस प्रकार अंकुर केवल एक ही स्थान पर एकत्र हो जाते हैं और अपनी अत्यंत अधिक वृद्धि से नष्ट अंकुरों की कमी को पूरा करते हैं । ये अंकुर और नीचे की कला मिलकर अपरा बना देते हैं ।

इस प्रकार इन अंकुरों, भ्रूण के नीचे की कला जिसमें अंकुर लगे रहते हैं और अंकुरों के बीच के स्थान से, जिनमें मातृ-रक्त प्रवाह करता रहता है, अपरा बनता है। किसी समय पर यह अपरा भ्रूण के चारों ओर फैला रहता है; किंतु अंत में केवल एकदेशीय हो जाता है। ऐसा होना गर्भ के दूसरे मास में आरंभ होता है और तीसरे मास के अन्त तक अपरा पूर्णतया एकदेशीय हो जाता है। उस समय इसकी रचना भी पूर्ण हो जाती है। समस्त गर्भाशय की कला का चौथाई व तिहाई भाग अपरा के बनाने में भाग लेता है।

ये अंकुर दो प्रकार के होते हैं। एक का काम केवल भ्रूण को कला में चिपटाने का होता है। ये अंकुर कला के भीतर घुस जाते हैं और वहाँ पर चिपट जाते हैं। इन अंकुरों का इसके अतिरिक्त और कोई काम नहीं होता। दूसरे अंकुर भ्रूण के लिये पोषण ग्रहण करते हैं। ये अंकुर छोटे होते हैं। वे कला तक नहीं पहुँच पाते। इनमे शाखाएँ भी बहुत निकलती है जिनके चारों ओर मातृ-रक्त बहता रहता है। ये अंकुर प्रत्येक समय मातृ-रक्त में डूबे रहते हैं। प्रथम अंकुरों की अपेक्षा ये अधिक मोटे होते हैं, किंतु इनके सिरे, जो रक्त में डूबे रहते हैं, अत्यंत सूक्ष्म और कोमल होते हैं। इनके भीतर बहुत ही सूक्ष्म रक्त-नलिकाएँ रहती हैं जो संख्या में बहुत होती हैं। ये सूक्ष्म केशिकाएँ होती हैं और इनका अन्तिम संबंध उन रक्त-नलिकाओं से रहता है जो बच्चे के नाल में रहती हैं।

अपरा के भीतर जो रक्त आता है वह गर्भाशय की दीवारों में स्थित धमनियों से आता है और इन धमनियों के साथ की शिराओं द्वारा लौट जाता है। ज्यों-ज्यों अपरा की वृद्धि होती

है त्यों-त्यों ये नलिकाएँ भी बढ़ती हैं और अपरा में अधिक रक्त लाती हैं । इनके द्वारा रक्त सदा आता रहता है और अंकुरों के बीच में प्रवाह करके फिर लौट जाता है।

इससे विदित होगा कि माता का रक्त बच्चे के रक्त से बिलकुल भिन्न रहता है। वह आपस में कहीं भी नहीं मिलता। बच्चे की रक्त-नलिकाएँ इन अंकुरों के भीतर से आरम्भ होती हैं और उनमें बच्चे का रक्त रहता है। माता का रक्त अंकुरों के बीच में प्रवाह किया करता है, किन्तु किसी प्रकार अंकुर के भीतर नहीं पहुँचता। अंकुर माता के रक्त से पोषण ग्रहण कर लेते है जो बच्चे के रक्त में पहुँच जाता है। किन्तु स्वयं रक्त बच्चे के शरीर में नहीं पहुँच पाता।

जब जन्म के समय बच्चे के साथ अपरा या कमल गर्भाशय के बाहर आता है, तो वह गहरे लाल रग का होता है। आकार में वह चपटा होता है, किन्तु एक रकाबी की भाँति गोल होता है। बीच में यह मोटा होता है, किन्तु चारों ओर के किनारों पर पतला हो जाता है। उस पर बाहर की ओर एक प्रकार की झिल्ली चढ़ी रहती है जो उस पर से उतारी जा सकती है। इसके नीचे बहुत सी रक्त-नलिकाएँ और अंकुर रहते हैं। इसी ओर कमल का नाल के साथ सम्बन्ध रहता है, जो उसके बिलकुल बीच में न लगकर एक ओर को लगा रहता है। कमल की सारी सूक्ष्म रक्त-नलिकाओं से जो बड़ी रक्त-नलिका बनती है वह इस स्थान पर कमल में प्रवेश करती है और नाल के द्वारा जाकर बच्चे की नाभि में होकर उसके शरीर में पहुँचती है। यदि कमल को पानी में रखकर उसको ध्यान से देखा जाय तो उस पृष्ठ पर, जो गर्भाशय की ओर रहता है, बहुत से अंकुर दिखाई देंगे।

हुए और कमल का रंग भी अधिक गहरा लाल और मांस के समान दिखाई देता है। साथ में कमल को जल के भीतर ही फाड़-कर देखने से बहुत सी रक्त-नलिकाओं के मुख दिखाई देंगे।

जन्म के समय अपरा का भार शरीर-भार का $\frac{1}{6}$ भाग होता है। साधारणतया वह आध सेर के लगभग होता है। उसका व्यास ९ इंच होता है।

अपरा के कर्म—बच्चे का माता के साथ अपरा ही के द्वारा सम्बन्ध होता है। उसके शरीर के लिये जितना पोषण आवश्यक होता है वह इस अंग के द्वारा पहुँचता है। जब कभी अपरा के नाल पर किसी प्रकार का दबाव पड जाता है व वह जन्म के समय बच्चे के सिर और माता की वस्ति की अस्थियों के बीच में आकर दब जाता है तो बच्चे की तुरन्त ही मृत्यु हो जाती है। अपरा के मुख्य निम्न-लिखित कर्म हैं।

१. पोषण—अपरा का सबसे बडा कर्म भ्रूण का पोषण है। जिस समय से भ्रूण के अंकुरो के भीतर रक्त-नलिकाएं बन जाती हैं और उनमें रक्त उत्पन्न हो जाता है तब से बच्चा इन्ही के द्वारा माता के रक्त से अपना भोजन लेता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इन अंकुरों के ऊपर भ्रूण के उस बाह्यावरण का एक परत रहता है जो गर्भाशय के तन्तुओं को गलाकर उसके लिये स्थान बना देता है। सारे पोषक पदार्थ इसी परत के द्वारा छन-कर बच्चे के रक्त में पहुँचते है। यह भली भाँति मालूम हो चुका है कि प्रोटीन पदार्थ इस झिल्ली द्वारा भीतर जाते हैं; किन्तु वे किस रूप में जाते हैं, यह नही मालूम हो सका है। वे इस स्तर के द्वारा विश्लिष्ट होकर पेप्टोन बन जाते हैं अथवा उनका और भी अधिक भंजन हो जाता है; इसका अभी तक ठीक ज्ञान नहीं हुआ

है। खनिज लवण, लौह इत्यादि इस झिल्ली के द्वारा बच्चे के रक्त में पहुँचते है। वसा भी अपरा के द्वारा बच्चे के शरीर में पहुँच जाती है। इसी प्रकार कारबोहाइड्रेट भी पहुँचते हैं। इनके सम्बन्ध में अपरा वही काम करता है जैसा कि युवा मनुष्य में यकृत् करता है। वह कारबोहाइड्रेट को ग्लायकोजिन के रूप में एकत्र कर लेता है। इसी प्रकार अपरा भी उस समय तक, जब तक बच्चे का यकृत् बढकर इस कर्म को करने के योग्य नहीं होता, ग्लायकोजिन को संग्रह करता है और आवश्यकता के समय पर बच्चे के शरीर के प्रयोग के लिये दे देता है। वैज्ञानिकों का यह विचार है कि अंकुरों के ऊपर का आवरण ग्लायकोजिन को ग्ल्यूकोज के रूप में परिवर्त्तित कर देता है और अपरा उसका शोषण करता है। इससे विदित है कि यह आवरण एक साधारण झिल्ली नहीं है, किन्तु शरीर की रासायनिक क्रियाओं में भी यह भाग लेता है।

२. श्वास कर्म—जिस प्रकार हम फुस्फुस द्वारा शुद्ध वायु को ग्रहण करके उससे आक्सिजन ले लेते हैं और कार्बन-डाई-आक्साइड लौटा देते हैं, उसी भाँति भ्रूण अपरा के द्वारा आक्सिजन ग्रहण करता है और अशुद्ध वायु को लौटा देता है। माता का रक्त कमल में आक्सिजन लाता है। वहाँ पर अंकुरों द्वारा वह आक्सिजन बच्चे के रक्त में पहुँच जाती है। दूसरी ओर बच्चे के शरीर में जितनी कार्बन-डाई-आक्साइड बन चुकी है वह उसकी शिराओं द्वारा अंकुरों में आकर माता के रक्त में मिल जाती है, जो उसको फुस्फुस के द्वारा निकाल देता है।

३. अवरोधक कर्म—यह भली भाँति मालूम हो चुका है कि अपरा हानिकारक वस्तुओं को भ्रूण के शरीर में नहीं जाने देता।

वह उनको बाहर ही रोक देता है। माता के सारे रोग बच्चे को नहीं होते। यदि माता को मलेरिया ज्वर होता है तो उसके जीवाणु बच्चे के शरीर में नहीं पहुँचते। इसी प्रकार दूसरे रोगों के जीवाणु भी बच्चे के रक्त में प्रवेश नहीं कर पाते। अपरा उनको बाहर ही रोक देता है। यदि माता के रक्त में कुछ रासायनिक वस्तुएँ मिला दी जायँ तो कुछ विशेष वस्तुओं के अतिरिक्त सब बाहर ही रुक जाती हैं। किन्तु कभी-कभी यह अवरोधक शक्ति कुछ कम हो जाती है और कुछ विष, विशेषकर रोगों के विष, भ्रूण के शरीर में पहुँच जाते हैं।

४ मलोत्सर्ग—भ्रूण का यह कर्म भी अपरा ही के द्वारा होता है। भ्रूण के शरीर में जो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती हैं उनसे जो निकृष्ट हानिकारक वस्तुएँ बनती हैं वे सब रक्त-नलिकाओं द्वारा अपरा के अंकुरों में पहुँचती हैं और वहाँ से माता के रक्त में चली जाती है। ऐसी वस्तुओं की मात्रा बहुत अधिक नहीं होती, क्योंकि युवा मनुष्य के शरीर की अपेक्षा भ्रूण के शरीर में बहुत कम क्रियाएँ होती हैं। किन्तु तो भी कुछ न कुछ रासायनिक क्रियाएँ अवश्य होती है और क्रिया होने से कुछ न कुछ निकृष्ट वस्तुएँ बनती ही हैं। इनका परित्याग अपरा ही के द्वारा होता है।

अपरा के इन कर्मों से समझा जा सकता है कि वह भ्रूण के लिये कितनी आवश्यक और उपयोगी वस्तु है। हमारे लिये, जो पाचन-संस्थान, श्वास-संस्थान और मलोत्सर्ग अंगों का मूल्य है, भ्रूण के लिये केवल एक अपरा का वह मूल्य है। केवल अपरा के विकृत या नष्ट हो जाने से कई संस्थानों का कार्य बन्द हो जाता है।

नाल—अपरा और भ्रूण का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला अंग नाल है। यह जन्म के समय एक २२ इंच लम्बी नली के समान

अपरा में पोषण ग्रहण करनेवाले और संबंध स्थापित करनेवाले अंकुर दिखाए गए हैं
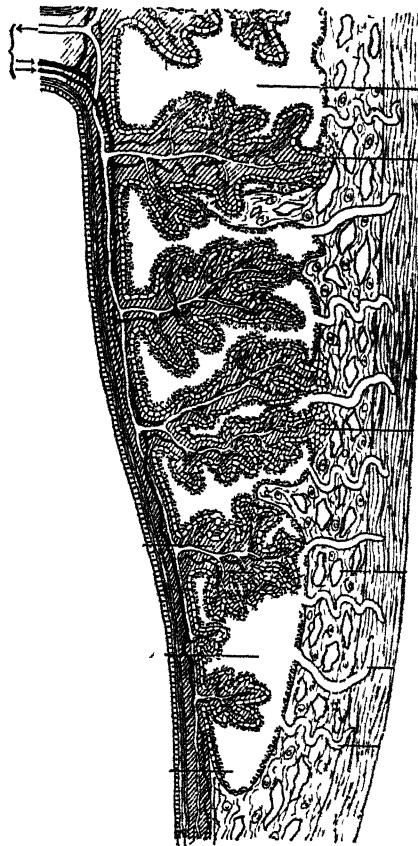
पृष्ठ-संख्या ५३

दीखता है। इसकी चौड़ाई $\frac{1}{2}$ इंच होती है। वह एक रस्सी की भाँति कुछ बटा हुआ सा होता है, और उसके बट बाईं ओर से दाहनी ओर को होते हैं। उसके भीतर एक शिरा और दो धमनियाँ होती हैं। दोनों धमनियाँ शिरा पर लिपटी रहती हैं।

इस नाल की शिराएँ कमल के अंकुरों के भीतर की शिराओं से आरंभ होती हैं। उनके मिलने से ये शिराएँ बनती हैं और नाभि के स्थान से भ्रूण के शरीर में प्रवेश करके उदर की रक्त-नलिकाओं में मिलकर यकृत् को जाती है; धमनियाँ नाभि से आरभ होकर अंकुरों में जाकर समाप्त होती है। इन धमनियों और शिराओं को घेरे हुए एक लसदार पदार्थ रहता है जिसके ऊपर एक सौत्रिक तंतु का आवरण चढ़ा रहता है। कहीं-कहीं पर नाल में लसदार पदार्थ की गाँठें बन जाती हैं।

भ्रूण में रक्त-संवहन—भ्रूण के रक्त-संवहन में एक श्वास लेने-वाले शिशु व युवा मनुष्य के सचालन से अंतर होता है। जन्म लेने से पूर्व बच्चे के फुस्फुस काम नहीं करते। रक्त की शुद्धि फुस्फुस द्वारा न होकर अपरा के द्वारा होती है। गर्भ में स्थिति ही ऐसी होती है कि फुस्फुस इस कर्म को नहीं कर सकते। इस कारण प्रकृति ने पूर्व ही से ऐसा प्रबंध कर दिया है कि भ्रूण को शुद्ध रक्त मिले।

फुस्फुस के कर्म न करने से वे ठोस होते हैं। उनमें वायु के भरने का स्थान नहीं होता। यदि जन्म से पूर्व किसी बच्चे के फुस्फुसों को जल में डालकर उनकी परीक्षा की जाय, तो वे डूब जायँगे। किंतु जन्म लेते ही बच्चे के रोने के साथ वायु फुस्फुस में पहुँचकर उनको फुला देती है, वे चौड़े जाते हैं। वायुकोष्ठ फैलते हैं और उनमें रक्त का भी संचार होने लगता है। ये फुस्फुस जल के भीतर नहीं डूबते, जल पर तैरने लगते हैं।

भ्रूण में अपरा से शिरा रक्त को ले जाती है और भ्रूण के अगों में इसका वितरण करती है । धमनियाँ अशुद्ध रक्त को अपरा में लौटा कर लाती है । रक्त को ले जानेवाली शिरा अपरा से आरंभ होकर नाल द्वारा भ्रूण की नाभि में पहुँचती है । वहाँ से वह यकृत् के नीचे की ओर जाती है और उसके पास पहुँचकर कई शाखाएँ यकृत् में भेजती है और स्वयं शिरीय नलिका के नाम से आगे चलकर ऊर्ध्वगामी महाशिरा में मिल जाती है । इस प्रकार अपरा से आया हुआ रक्त दो भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा महाशिरा में पहुँचता है । रक्त का एक भाग तो अंत्रियों से आए हुए रक्त के साथ मिलकर यकृत् में जाता है और फिर यकृतीय शिराओं द्वारा महाशिरा में पहुँचता है। रक्त का दूसरा भाग शिरीय नलिका द्वारा महाशिरा में पहुँचता है । अपरा से आनेवाला रक्त पूर्णतया शुद्ध होता है । किंतु जो रक्त अंत्रियों से लौटकर यकृत् में आता है वह अशुद्ध होता है । इस कारण यकृत् में शुद्ध और अशुद्ध रक्त मिल जाते है । वही मिश्रित रक्त महाशिरा में पहुँचता है, जहाँ उसमे शिरीय नलिका द्वारा आया हुआ पूर्ण शुद्ध रक्त मिल जाता है । इस प्रकार महाशिरा में भी मिश्रित रक्त रहता है ।

महाशिरा में पहुँचकर शिरीय नलिका और यकृतीय शिराओं द्वारा आया हुआ रक्त शरीर के नीचे के भाग और उदर से आने-वाले रक्त के साथ मिलता है । यह रक्त हृदय के दाहने अलिंद में पहुँचता है । यहाँ पर दाहने अलिंद और बाएँ अलिंद के बीच के परदे में एक छिद्र रहता है और उस पर एक कपाट रहता है । बस दाहने अलिंद में आनेवाला रक्त इस कपाट द्वारा छिद्र में होता हुआ बाएँ अलिंद मे आ जाता है । बाएँ अलिंद से रक्त बाएँ निलय में जाता है, जहाँ से वह बृहद् धमनी में चला जाता

है। बृहद् धमनी इस रक्त का अपनी शाखाओं द्वारा शिरा और बाहु या वक्ष इत्यादि में वितरण कर देती है। रक्त का बहुत कम भाग बृहद् धमनी के उस भाग को जाता है जो नीचे की ओर जाकर शरीर के निम्न भाग को पोषित करता है।

शिर और ऊर्ध्व शाखाओं से लौटनेवाला रक्त दाहने निलय में आता है। शिरीय नलिका इत्यादि से भी रक्त इसी स्थान पर आता है, किन्तु दोनों ओर के रक्तों का मार्ग भिन्न होता है। शिर और ऊर्ध्व शाखा से आनेवाला रक्त सीधा अलिंद से निलय में चला जाता है, किन्तु महाशिरावाला रक्त इधर के अलिंद से बाएँ अलिंद में जाता है।

ऊपर से आनेवाला रक्त अंग में दाहने निलय में पहुँचता है और वहाँ से फुस्फुसीय धमनी द्वारा उसका वितरण होता है। फुस्फुसीय धमनी से एक शाखा सीधी अधोगामी बृहद् धमनी में जाकर मिलती है। अतएव दाहने निलय से आनेवाले रक्त का बड़ा भाग बृहद् धमनी में चला जाता है। थोड़ा सा रक्त फुस्फुसों में भी जाता है; जहाँ से वह बाएँ अलिंद में लौट आता है।

फुस्फुसीय धमनी से धमनीय नलिका के द्वारा रक्त अधोगामी बृहद् धमनी में पहुँचता है, जहाँ वह ऊर्ध्वगामी बृहद् धमनी से आए हुए थोड़े से रक्त के साथ मिल जाता है। इस बृहद् धमनी के द्वारा यह रक्त शरीर के शेष सब भागों में ले जाया जाता है। धमनी ज्यों-ज्यों नीचे को उतरती है, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न अंगों को शाखाएँ देती चली जाती है। इस प्रकार यकृत् और अंत्रियों को शाखाएँ देने के पश्चात् वह निम्न-शाखाओं को रक्त भेजती है। इससे पूर्व उससे दो धमनियाँ निकलती है जो रक्त को नाभि तक ले जाती हैं। ये दोनों धमनियाँ एक शिरा के साथ मिलकर नाल

द्वारा कमल में पहुँचती हैं। इस प्रकार भ्रूण में रक्त का परिभ्रमण होता है।

यह संचालन साधारण संचालन के क्रम से बहुत भिन्न है। विशेष-कर ध्यान देने योग्य बातें ये हैं—

१. अपरा से जितना रक्त आता है उसका बहुत बडा भाग पहले यकृत् में जाता है, उसके पश्चात् शिरा में पहुँचता है। अधोगामी बृहद् धमनी से भी रक्त एक शाखा द्वारा यकृत् में जाता है। इस प्रकार यकृत् में सारे रक्त का बहुत अधिक भाग जाता है। यही कारण है कि भ्रूणावस्था में यकृत् का आकार इतना बडा होता है। उसका भार युवा मनुष्य में सम्पूर्ण शरीर का $\frac{१}{४०}$ वाँ भाग होता है, किन्तु भ्रूण में $\frac{१}{१८}$ वाँ भाग होता है।

२. दाहने अलिंद में दो ओर से रक्त की धाराएँ आती हैं; दोनो के मार्ग और निर्दिष्ट स्थान भिन्न होते हैं। ऊर्ध्वगामी महाशिरा का रक्त अपने कपाट और बीच के परदे के छिद्र द्वारा सीधा बाएँ अलिंद में पहुँच जाता है; किन्तु ऊपर से आनेवाला रक्त दाहने निलय में जाता है। इस कारण यहाँ पर दोनों ओर के रक्त का कुछ न कुछ मिश्रण अवश्य हो जाता है।

३. अपरा से आनेवाला शुद्ध रक्त यकृत् के मिश्रित रक्त के साथ मिलकर सीधा बाएँ निलय मे पहुँचकर बृहद् धमनी द्वारा शिर और ऊर्ध्व शाखाओं को वितीर्ण कर दिया जाता है। इस प्रकार यकृत् के अतिरिक्त शरीर के दूसरे भागों की अपेक्षा शिर और ऊर्ध्व शाखा को अधिक शुद्ध रक्त मिलता है।

४. अधोगामी बृहद् धमनी द्वारा जिन अंगों को रक्त मिलता है वह दूसरे भागों के रक्त की अपेक्षा अधिक अशुद्ध होता है।

जब बच्चा जन्म लेता है और बाहर की वायु के स्पर्श और अन्य कारणों से श्वास-केन्द्र काम करने लगता है तो श्वास-कर्म आरंभ हो जाता है। अतएव जो फुम्फुम सिकुड़े हुए थे वे फैलने लगते हैं और उनके वायु-कोष्ठ बड़े हो जाते है। साथ में वहाँ रक्त भी जाने लगता है। फुस्फुसों में रक्त के लिये जितना स्थान है और जितनी शिराएँ वहाँ हैं उनका प्रथम ही वर्णन हो चुका है। अतएव इतना अधिक स्थान होने से दाहने क्षेपक कोष्ठ का सारा रक्त फुस्फुसों में चला जाता है। इस कारण धम-नीय नलिका का कोई प्रयोग नहीं रह जाता। अतएव वह सूखने लगती है और कुछ दिनों में बिलकुल बंद हो जाती है, केवल उसके चिह्नमात्र रह जाते हैं। श्वास आरंभ होते ही यह नलिका बंद होने लगती है और चौथे से छठे दिवस तक बिलकुल बंद हो जाती है।

जन्म लेने के पश्चात् बच्चे का अपरा से संबंध नहीं रहता। उसका जीवन-क्रम बिलकुल बदल जाता है। वह माता के रक्त से पोषक पदार्थ ग्रहण न करके सीधा अपने मुख द्वारा माता के स्तनों से दुग्ध के रूप में पोषण ग्रहण करता है। उसका पाचक-संस्थान, जो अब तक शिथिल पड़ा हुआ था, काम करने लगता है। इस कारण वे नलिकाएँ, जो नाल द्वारा रक्त को लाती थीं और ले जाती थीं, सूखने लगती हैं। नाल की धमनी और शिरा दूसरे और पाँचवे दिन के भीतर बिलकुल बंद हो जाती हैं। शिरीय नलिका भी दूसरे और पाँचवें दिन के भीतर बंद हो जाती है। हृदय के दोनों ओर अलिंदों के बीच में जो छिद्र रहता है वह दसवें दिन तक बद हो जाता है और उस पार का कपाट भी सूख जाता है। कभी-कभी उसके चिह्न रह जाते हैं।

चित्र नं० १२७—चित्र में अत्यंत आरंभावस्था में गर्भित डिंभ और गर्भाशय की गर्भकला का संबंध दिखाया गया है।
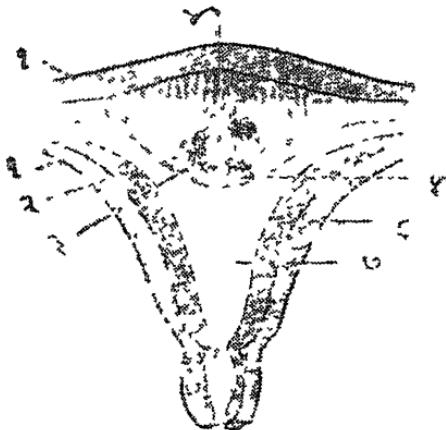
१—गर्भाशय की पेशी। २—गर्भित डिंभ का बाह्यावरण। ३—डिंभ का आंतरिक सेल-समूह जो वास्तविक उत्पादक स्थान है। ४—गर्भकला जो डिंभ के मूल में रहती है। ५—गर्भकला जो डिंभ को ऊपर से ढके हुए है। ६—गर्भकला जो गर्भाशय के अन्य भागों में रहती है। ७—गर्भाशय में खाली स्थान।

भ्रूण का वृद्धि-क्रम—चौथा सप्ताह—इस समय भ्रूण बहुत ही मुड़ा हुआ होता है। इस कारण उसके शिर और पूँछ दोनों पास-पास आ जाते है। उसकी लंबाई $\frac{1}{2}$ इंच के लगभग होती है और उसका भार ५ माशे होता है। जिधर शिर बनता है वह भाग मोटा होता है। दूसरा जो पतला होता है वहाँ पूँछ बनती है। नाल भी यहीं लगा रहता है। शिर और सुषुम्ना की रचना आरंभ हो जाती है। आँख और कानों के चिह्न भी प्रकट हो जाते हैं। जहाँ पर बाहु और टाँगें बननेवाली हैं वहाँ छोटे-छोटे उभार दिखाई पड़ते हैं। मुख के स्थान पर एक दरार

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३०

दो सप्ताह का भ्रूण
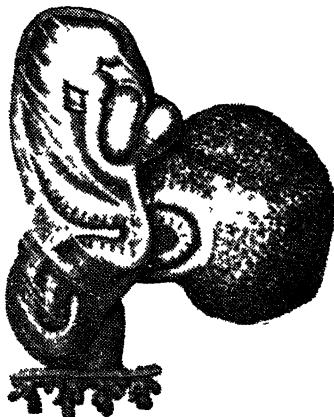
पृष्ठ-संख्या २४२

उत्पन्न हो जाती ह । हृदय भली भाँति दिखाई देता है और इसका चार कोष्ठों में भाग होना आरम्भ हो जाता है।

चित्र नं० १२८—कुछ समय पश्चात् का भ्रूण।
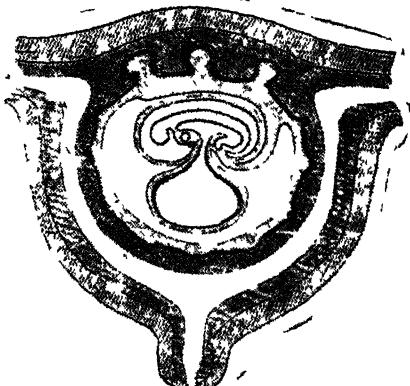
चित्र नं० १२९—चित्र नं० १२८ से कुछ समय पश्चात् का भ्रूण।
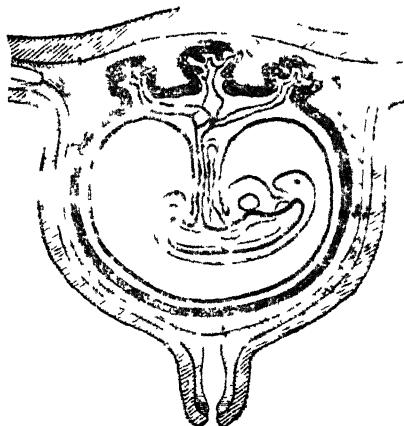
चित्र नं० १३०—६ सप्ताह का भ्रूण ।
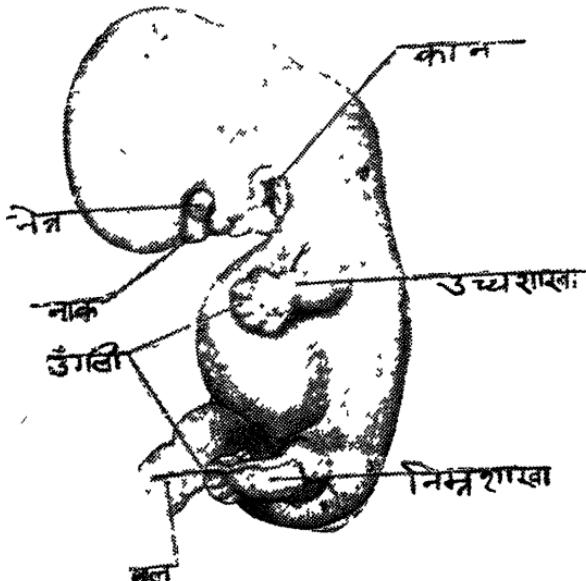
दो मास का भ्रूण—भ्रूण की लम्बाई आध इंच से डेढ़ इंच हो जाती है। शिर का आकार मनुष्य के शिर के कुछ-कुछ समान हो जाता है। पूँछ जाती रहती है। नेत्र, ओठ और नाक के स्थानों पर कुछ रचना दीखने लगती है। हाथ और पाँव कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाते हैं। मल-द्वार का चिह्न दिखाई देता है। जननेन्द्रियों का बनना आरम्भ हो जाता है। फुस्फुस, प्लीहा, अधिवृक्क भी देख पड़ते हैं। कुछ अस्थियों का विकास होने लगता है; अपरा भी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि जननेन्द्रियों का बनना इस समय आरम्भ हो जाता है, किन्तु जाति की भिन्नता इस समय तक नहीं होती।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट न० ३१

१८ से २१ दिन का भ्रूण

पृष्ठ-सख्या २४४
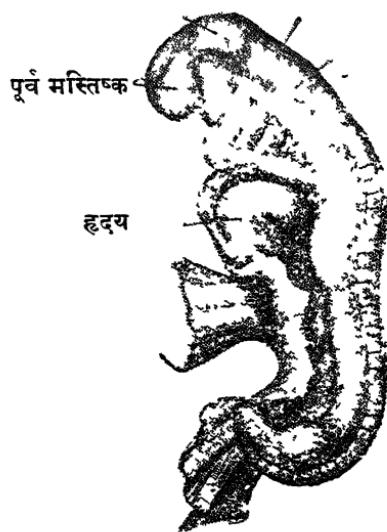
मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३२

२७से३० दिन का भ्रूण
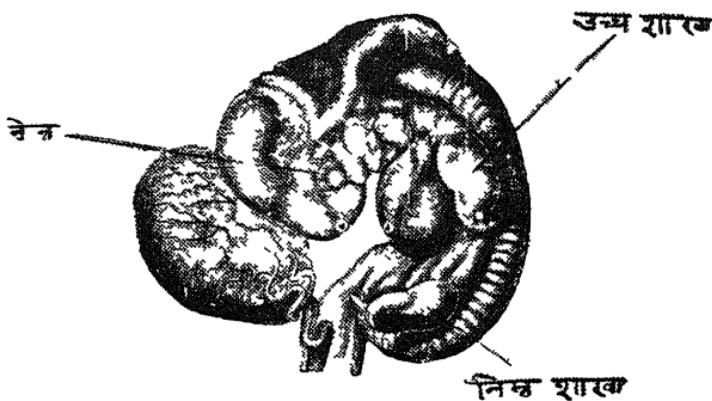
प्लेट नं० ३३

३१ से ३४ दिन का भ्रूण
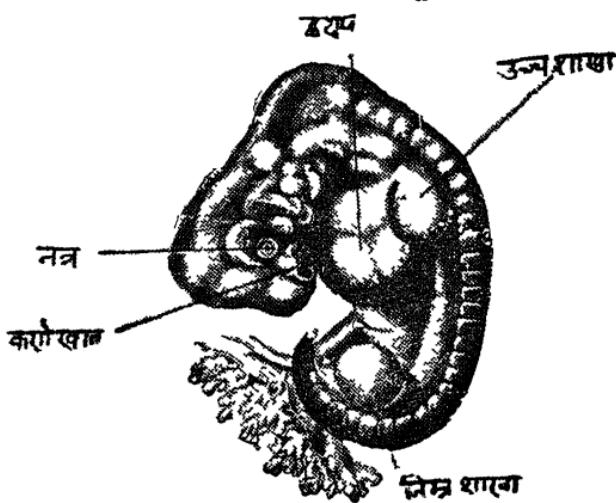
चित्र नं० १२१—गर्भ के सातवें और आठवें सप्ताह के गर्भाशय का परिच्छेद।
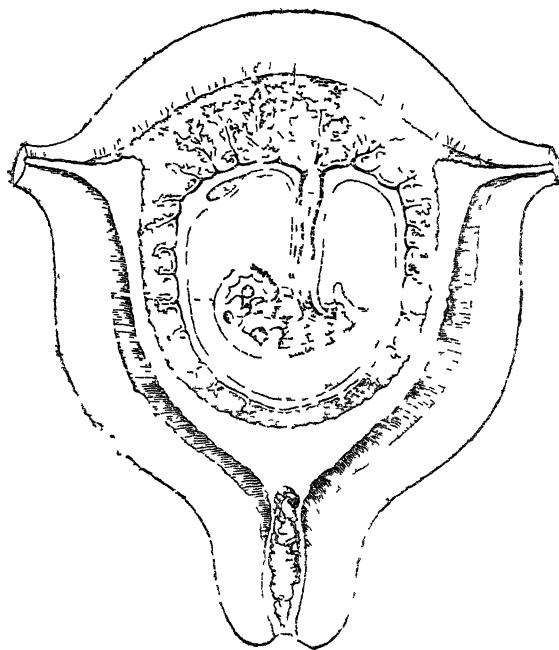
तीन मास का भ्रूण—तीसरे मास में लम्बाई ३½ इंच के लगभग होती है। भार १½ छटांक होता है। सिर बहुत बड़ा होता है। नेत्रों के पलक जुड़े रहते हैं। ओष्ठ भी जुड़े होते हैं। उदर के भीतर अन्त्रियाँ बन जाती हैं। नाल में ऐंठन पड़ने लगती है। जो स्त्रीभ्रूण होते हैं, उनके उदर में गर्भाशय बन जाता है। पुरुष

चित्र नं० १३२—८½ सप्ताह का भ्रूण।
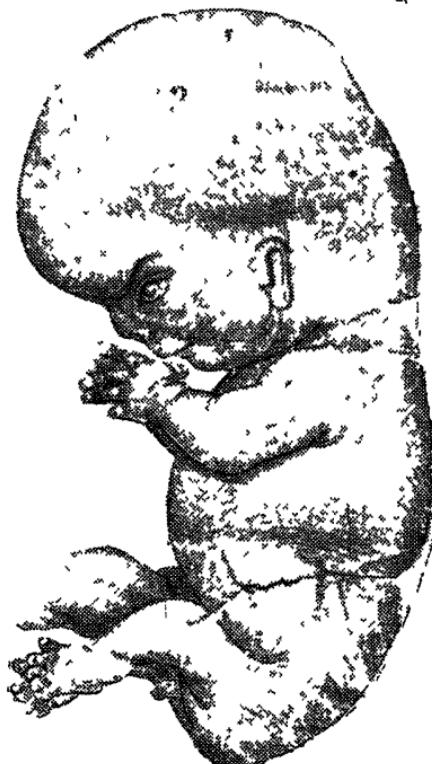
भ्रूणों में शिश्न के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। अधिकतर अस्थियों का विकास आरम्भ हो जाता है। हृदय का निलय-कोष्ठ बन चुकता है। गर्भाशय में भ्रूण के ऊपर की कला शेष कला के साथ मिल जाती है। गले की बालग्रन्थि और उदर में अधिवृक्क-ग्रंथियाँ उस समय बन चुकती हैं।

चार मास का भ्रूण—इस समय भ्रूण ४ इंच लम्बा होता है। इसका भार २½ छटाँक के लगभग होता है। इस समय भ्रूण

की जाति बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। शरीर के चर्म पर लोम दिखाई देने लगते हैं। हाथो और पाँवों में कुछ नख बनने लगते है।

पाँच मास का भ्रूण—पाँचवे मास पर पहुँचकर भ्रूण की लम्बाई सात या आठ इंच हो जाती है। शरीर का भार ६ छटाँक के लगभग होता है। सिर इस समय भी शरीर की अपेक्षा बहुत बडा होता है। शरीर के चर्म पर एक श्वेत लसदार वस्तु जम जाती है। सारे शरीर पर लोम उग आते हैं। उँगलियों के नख बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं। अन्त्रियो मे कुछ-कुछ मल एकत्रित होने लगता है। यकृत् पूर्णतया बन चुकता है। गर्भाशय के भीतर ही भ्रूण कुछ गति करने लगता है। माता इन गतियों को स्वयं प्रतीत कर सकती है।

छ मास का भ्रूण—इस समय भ्रूण की लम्बाई १२ इंच होती है और उसका भार लगभग १२ छटाँक के होता है। पलक अब भी जुडे ही रहते हैं। नेत्रो में कनीनिका के सामने एक झिल्ली रहती है। भौं और पलको का बनना आरम्भ हो जाता है। सिर के बाल लम्बे होने लगते हैं। शरीर के चर्म के नीचे इस समय वसा एकत्रित होने लगती है। वसा की कमी से चर्म में झुर्रियाँ पडी हुई मालूम होती हैं। इस समय कनीनिका के सामने की झिल्ली, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, गायब हो जाती है। इस अवस्था मे अड बन चुकते है, किन्तु वे अडकोष मे नहीं रहते। वे उदर में वृक्क के पास ही स्थित होते है।

सातवें मास का भ्रूण—इसकी लम्बाई १४½ इंच होती है। शरीर का भार १½ सेर के लगभग होता है। पलक इस अवस्था पर खुल जाते है। कनीनिका के ऊपर की झिल्ली का इस

समय पता भी नहीं रहता। शरीर के चर्म के नीचे कुछ वसा एकत्रित हो जाती है। इस कारण चर्म की झुर्रियाँ कम होने लगती हैं। सिर के बाल $\frac{1}{4}$ इंच से अधिक लम्बे हो जाते हैं। अण्डों का उदर मे अपने पूर्वस्थानों से उतरना आरम्भ होता है। वे नीचे की ओर सरकने लगते है। अन्त्रियों में इस समय पर मल जमा हो जाना है। इस समय जो बालक जन्मते हैं उनका बचना बहुत कठिन है, यद्यपि उनको बचाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

आठवे मास का भ्रूण—शरीर की लम्बाई लगभग १६ इंच और भार लगभग २ सेर होता है। वसा की मात्रा धीरे-धीरे बढती जाती है। सिर के बाल पहले से घने हो जाते हैं। उँगलियो के नख यद्यपि बराबर बढ़ते रहते है, किन्तु अभी तक पूर्णतया उँगलियों के सिरों तक नही पहुँचते हैं। इस समय पर उत्पन्न हुए बालक को पूर्ण और उचित सावधानी से पाला जा सकता है।

नवे मास का भ्रूण—लम्बाई १७$\frac{1}{2}$ इंच और भार २$\frac{3}{4}$ सेर होता है। इस समय बच्चे के शरीर में गोलाई आनी प्रारम्भ हो जाती है। चर्म के नीचे वसा की मात्रा काफ़ी बढ़ जाती है। इस कारण चेहरे पर से भी झुर्रियाँ जाती रहती है। अण्ड बहुधा अण्डकोष में पहुँच जाते है।

दसवे महीने का भ्रूण—शरीर की लम्बाई २० इंच; शरीर का भार ३$\frac{1}{2}$ सेर। इस समय शरीर का चर्म बिलकुल चिकना और साफ हो जाता है। उस पर गुलाबी रङ्ग आ जाता है। नख उँगलियों के सिरों तक पहुँच जाते हैं। सिर के बाल काफी बढ़ चुकने हैं। शरीर की समस्त रचनाएँ और अङ्ग पूर्ण हो चुकते है।

लगभग प्रत्येक अस्थि में विकास आरंभ हो जाता है। अंड अंडकोष में पहुंच जाते हैं। नाल शरीर के मध्य से कोई आध इंच नीचे लगा होता है।

नवजात शिशु—जिस समय बच्चा उत्पन्न होता है, इसका

चित्र नं० १२३—नवजात शिशु।

(हमारे शरीर की रचना से)

क = कमल; न = नाल; श = नाभि; ध = नाभि धमनी;
वृ = वृक्क, ह = हृदय; य = यकृत्; म = महाधमनी।

सारा शरीर एक चिकनी वस्तु से ढका रहता है। उत्पन्न होते ही बच्चा रोता है। रोने से उसके फुस्फुस फैलते है और मज़बूत होते हैं। मनुष्य का बच्चा जितना निस्सहाय होता है उतना किसी भी पशु का बच्चा नहीं होता। वह अपने भौतिक अस्तित्व के लिये दूसरों की दया पर निर्भर करता है। बहुत अधिक समय के पश्चात् वह इस योग्य होता है कि किसी प्रकार से अपनी कुछ आवश्यकताओं के पूर्ण करने में कुछ भाग ले सके।

चर्म—उत्पन्न होने के समय बच्चे के चर्म पर जो पदार्थ चढ़ा रहता है, वह धीरे-धीरे दो-एक दिनों में जाता रहता है। प्रथम तो उसको जो प्रथम स्नान कराया जाता है उसी में हटा दिया जाता है, किंतु यदि कुछ रह जाता है तो वह पश्चात् के दो एक स्नानों में ग़ायब हो जाता है। किंतु बच्चे की त्वचा से एक प्रकार का तेल निकलता रहता है। आयु के प्रथम वर्ष में इसकी मात्रा अधिक होती है। बच्चे का चर्म अत्यंत कोमल होता है। तनिक से भी रगडने से वह लाल हो जाता है। उसमें रोगों के जीवाणुओं को रोकने की शक्ति बहुत कम होती है। स्वस्थ बच्चे का चर्म गुलाबी रंग का होना चाहिए। पीतवर्ण और मुरझाई हुई त्वचा रोग की सूचक है।

अस्थि—जन्म के समय कंकाल का बहुत सा भाग अस्थि नहीं होता, किंतु कारटिलेज होता है। जितनी लंबी अस्थियाँ हैं, उनके दोनों सिरे उस समय तक बीच के भाग से नहीं जुड़ते। बहुत सी चपटी अस्थियाँ, जो पूर्ण कंकाल में एक दीखती है, वास्तव में कई भागों की बनी होती है, जो उस समय तक भिन्न रहती है। आयु के प्रथम वर्ष में सबसे अधिक अस्थियों में परिवर्तन होते हैं। इस समय यदि बच्चे को उचित भोजन न मिले तो उसके

शरीर की वृद्धि रुक जाती है और अस्थि-सबंधी रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मांस-पेशी—बच्चा उत्पन्न होने पर मास-पेशियो से बहुत कम काम लेता है। वह सोता है, खाता और मल त्याग करता है। इसके अतिरिक्त वह रोने मे हाथ-पाँव चलाता है।

बच्चे की मांस-पेशियाँ बहुत ही निर्बल होती है। इनका बिलकुल ही विकास नहीं होता। मास-पेशियों का भार भी, आयु और शरीर का परिमाण ध्यान में रखते हुए, बच्चों मे युवा मनुष्यों की अपेक्षा आधा होता है। अर्थात् युवा पुरुषों की अपेक्षा आयु के अनुसार बच्चों में मास का जितना भार होना चाहिए, उससे आधा भार होता है। आरंभ में बच्चे की पेशियाँ उसकी इच्छा के अधीन नहीं होतीं। उसका प्रत्येक कर्म एक परावर्तन कर्म होता है। तीसरे महीने मे उसमें अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करने की कुछ-कुछ शक्ति उत्पन्न होने लगती हे। तीसरे मास पर बच्चे को अपना सिर सम्हालने के योग्य हो जाना चाहिए। पाँचवे और सातवें मास में बच्चा खिलौनों के लिये हाथ बढ़ाने लगता है। सातवे और आठवे मास में उसमें बैठने की शक्ति आ जाती है, और नवे-दसवें मास में किसी के सहारे से खडा होने लगता है। बच्चा बारहवे मास में अलग खडा होने लगता है; तेरहवें और चौदहवें मास में अकेला चलने लगता है और पंद्रहवे मास मे भागने लगता है।

रोगी रहने, मंदाग्नि, रिकेट्स (Rickets), उचित समय से पूर्व जन्म, उचित भोजन की कमी, माता की बीमारी इत्यादि कारणो से बच्चे की वृद्धि रुक सकती है। बच्चो के लिये भोजन में विटेमिन होना बहुत आवश्यक है।

शरीर की उष्णता—जन्म के समय बच्चे के शरीर की उष्णता १०० फैरनहीट होती है। जन्म के पश्चात् शीघ्र ही यह उष्णता दो डिग्री कम हो जाती है; प्रथम दो-तीन दिन के पश्चात् फिर ९८.५ पर पहुँच जाती है।

रक्तसंवहन—जन्म के पश्चात् रक्तसंवहन में जो अंतर उत्पन्न होता है उसका पहले ही वर्णन किया जा चुका है। नवजात शिशु के शरीर मे एक युवा की अपेक्षा, उसके शरीर-भार को ध्यान में रखते हुए, अधिक रक्त होता है। उसका हृदय भी बड़ा होता है और धमनी और शिराएँ भी बडी होती हे। इस कारण बच्चे के हृदय की गति अधिक तीव्र होती है। उसकी नाड़ी का स्पंदन एक मिनट मे १२० से १४० बार होता है। छः मास की आयु पर नाडी की गति १२० प्रति मिनट होती है।

श्वासकर्म—छोटा बच्चा एक मिनट में तीस या पैंतीस बार श्वास लेता है। छः मास की आयु पर भी श्वास की संख्या ३५ प्रति मिनट होती है। दूसरे वर्ष के आरंभ में वह २५ रह जाती है। जिन बच्चों के नाक में किसी प्रकार का रोग होता है व कोई अवरोध होता है, उनको श्वास लेने मे कष्ट होता है। न केवल यही, किन्तु उनके भोजन मे भी बाधा पडती है। माता का दूध पीते-पीते उनको बार-बार स्तनों से मुँह को हटाना पडता है, क्योंकि वे मुँह के द्वारा श्वास लेते हैं।

चेतना और ज्ञानशक्ति—जिस समय बच्चा उत्पन्न होता है, उस समय उसमे अन्य सब पशुओं से कम चेतना होती है। कुछ पशुओं के बच्चे उत्पन्न होते ही खड़े होकर माता के स्तनों से दूध पीने लगते हैं। कुछ रेंगकर माता के पास तक पहुँच जाते हैं, किंतु मनुष्य का बच्चा इन सब शक्तियों से रहित होता है। प्रथम

मास में खाना, श्वास लेना, रोना, मलत्याग करना ही उसके कर्म होते हैं। वह दूसरे मास में कुछ-कुछ हँसने लगता है, जिसके द्वारा वह हर्ष प्रकट करता है। इसके पश्चात् उसकी दूसरी शक्तियों का विकास होता है।

बच्चे की साधारण ज्ञानशक्ति बहुत ही दुर्बल होती है। वह अपने शरीर पर मक्खियों के बैठने का अनुभव नहीं कर सकता। उसमे दुःख अनुभव करने की भी शक्ति अधिक नहीं होती। क्षुधा अनुभव करने की शक्ति बच्चो में बहुत तीव्र होती है। तनिक भी भूख लगते ही बच्चा रोने लगता है। भोजन पाने के पश्चात् वह तुरंत ही फिर सो जाता है। स्वाद और घ्राण की शक्ति बच्चों में जन्म ही से उपस्थित मालूम होती है। मीठी वस्तु को बच्चे तुरंत ग्रहण कर लेते है; किंतु कड़वी वस्तु को मुँह में से निकाल देते हैं। इसी प्रकार यदि कोई ऐमोनिया जैसी तीव्र गंधवाली वस्तु उनको सुँघाई जाय तो वे उसे अनुभव करते हैं।

छोटे बच्चों में श्रवणशक्ति बिलकुल अनुपस्थित सी मालूम होती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि उनका मध्य कर्ण एक लसदार वस्तु से भरा रहता है, जो दो सप्ताह के बाद जाती रहती है। इसके पश्चात् बच्चा सुनना आरंभ करता है और धीरे-धीरे उसकी सुनने की शक्ति बढती जाती है। तीसरे मास में वह भली प्रकार सुन सकता है। जिधर भी शब्द होता है उधर ही को वह सिर घुमाने का प्रयत्न करता है।

बच्चों में दूर की वस्तु देखने की शक्ति नहीं होती। बहुत छोटी अवस्था में तो वे किसी भी वस्तु पर अपनी दृष्टि नहीं ठहरा सकते। उनके नेत्र कमज़ोर होते है। इस कारण उनको सदा तीव्र प्रकाश से बचाना चाहिए।

यह शक्ति भी बच्चों में धीरे-धीरे बढ़ जाती है।

गर्भकाल—गर्भकाल कितना होता है, कितने दिन तक गर्भाशय के भीतर रहकर बच्चा बाहर आता है ? इस संबंध मे बहुधा प्रश्न पूछे जाते है। गर्भवती स्त्रियाँ और भावी पिता बहुधा डाक्टरों से पूछा करते है, उनके कौन से दिन बच्चा होगा। इस प्रश्न का निश्चित रूप से, बीजगणित के प्रश्नों के समान, ठीक-ठीक उत्तर देना असभव है, किंतु अनुमान से प्रसव की तिथि कही जा सकती है।

हम पहले देख चुके है कि हमको इस बात का पूरा ज्ञान नही है कि गर्भाधान किस समय पर होता है। शुक्राणु और डिंभ का संयोग मासिक स्राव के पूर्व होता है अथवा पश्चात्, हमको यह बात ठीक प्रकार से नही मालूम है। और इस बात की आशा करना भी कि हम मनुष्य में इन दोनो सेलों के संयोग का समय निश्चित रूप से जान लें, एक दुस्साहस करना है। यह देखा जाता है कि मासिक स्राव के पश्चात् ही या उसके तनिक ही पूर्व किए गए सयोग का परिणाम अधिकतर गर्भ होता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि शुक्राणु और डिंभ का सयोग मासिक स्राव के तनिक पहले अथवा उसके कुछ समय पश्चात् तक होता है। इसी के आधार पर गर्भकाल मालूम करने का प्रयत्न किया जाता है। जिन दशाओं में केवल एक ही संयोग से किसी निश्चित दिन गर्भाधान हो गया है, उसकी सहायता से और ऊपर के आधार पर यह मालूम किया गया है कि साधारणतया गर्भ गर्भाशय मे २७३ दिवस रहता है। अर्थात् गर्भकाल २७३ दिन ठहराया गया है। कभी इस संख्या में बहुत ही न्यूनाधिक्य देखने में आता है। २४० दिन पर भी पूर्ण बच्चे उत्पन्न होते देखे गए है और ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ बच्चे २०० व ३१३ दिन पर

उत्पन्न हुए हैं । ३२० दिन पर प्रसव होते हुए भी देखा गया है । गर्भकाल का कम व अधिक होना मासिक ऋतु के काल पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यह साधारणतया देखा जाता है कि जिनका मासिक काल कम है, स्राव २४ व २५ वे दिन पर होता है, उनका गर्भकाल भी २८ व २९ दिन पर स्राव होनेवाली स्त्रियो से कम होता है ।

प्रसव-दिवस की गणना—यह मालूम करने के लिये कि प्रसव कौन से दिवस पर होगा, अंतिम मासिक स्राव के दिनो से हिसाब लगाया जाता है। उसके लिये यह मान लिया जाता है कि अंतिम स्राव के पश्चात् ही सभोग से गर्भाधान हो गया था। अतएव अंतिम स्राव के प्रथम दिन से गणना आरंभ करके प्रथम चार दिन स्राव के लिये छोड़ दिए जाते हैं । इसके पश्चात् तीन दिन और छोडे जाते है। यह माना जाता है कि गर्भाधान इन तीन दिनों के पश्चात् हुआ है, इस प्रकार स्राव के प्रथम दिन से आरंभ करके सात दिन छोड़ देते हैं। इन सात दिनों को २७३ दिनों में जोड देते हैं, जो कि वह समय समझा जाता है, जब कि गर्भ गर्भाशय के भीतर रहता है। इस प्रकार अंतिम मासिक स्राव के प्रथम दिन से २८० वाँ दिन प्रसव-दिवस समझा जाता है। यदि किसी स्त्री को अंतिम स्राव ३ नवबर को हुआ, तो उसका प्रसव-दिन अनुमान से १० अगस्त होगा। हिसाब लगाने में सुगमता के लिये बहुधा ऐसा करते हैं कि स्राव के प्रथम दिन में ७ दिन जोड दिए और आगे के नौ महीने गिन लिए ।

प्रसव-दिवस मालूम करने के लिये कई और प्रकार से भी हिसाब लगाया जाता है, किंतु साधारणतया जिसको सुगमता से काम में ला सकते हैं उसका ऊपर वर्णन किया गया है। कुछ लोग

गर्भाशय की वृद्धि से हिसाब लगाते है। दूसरे पूर्ण दस मासिक स्राव के दिनों को गिनते है। जिन स्त्रियों को २५ वें दिन पर स्राव होता है, उनके संबंध में हिसाब लगाते हुए वे २५० दिन गिनते हैं। किंतु इससे कुछ अधिक संतोषजनक फल नहीं निकले है।

गर्भ के कारण माता के शरीर में परिवर्तन—गर्भकाल में माता के शरीर में जो परिवर्तन होते है, उनको देखते हुए यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि प्रसव के पश्चात् स्त्री के बहुत से अंग बिलकुल बदल जाते है। यों तो अंगो में सदा ही परिवर्तन हुआ करता है, पुराने सेल टूट-फूटकर नष्ट हो जाते है और उनके स्थान पर नए सेल बन जाते है, किंतु गर्भकाल मे यह टूट-फूट और नवीन उत्पत्ति बहुतायत से होती है।

गर्भाशय—गर्भकाल में यही अंग सबसे अधिक काम करता है। उसकी रचना ही गर्भ धारण करने के लिये हुई है। अतएव सबसे अधिक परिवर्तन भी इसी में होता है। गर्भ से पूर्व यह तीन इंच ऊँचा, २ इंच चौडा और उसकी दीवारों की मोटाई एक इंच के लगभग होती है; किंतु गर्भ के अंतिम काल में इसकी ऊँचाई १२ इंच हो जाती है, ६ इंच ऊँचाई और ८ इंच चौड़ाई होती है। पहले उसके भीतर बहुत थोडा स्थान रहता है, उसकी दीवारें आपस में मिली रहती हैं; किंतु यह स्थान ५०० गुना बढ़ जाता है। इसका भार भी १½ औंस से बढ़कर ३० औंस हो जाता है। गर्भाशय की समस्त रचनाएँ कला, पेशी, ग्रंथि, रक्त-नलिकाएँ, लसीकाएँ और नाड़ियाँ; उस वृद्धि में अपना-अपना भाग लेती हैं, सबसे अधिक वृद्धि मांस-पेशियों में होती है। जो सूत्र पहले ही से उपस्थित थे, वे कम से कम

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट नं० ३५

भिन्न भिन्न मास में गर्भाशय की वृद्धि की स्थिति दिखाई गई है।
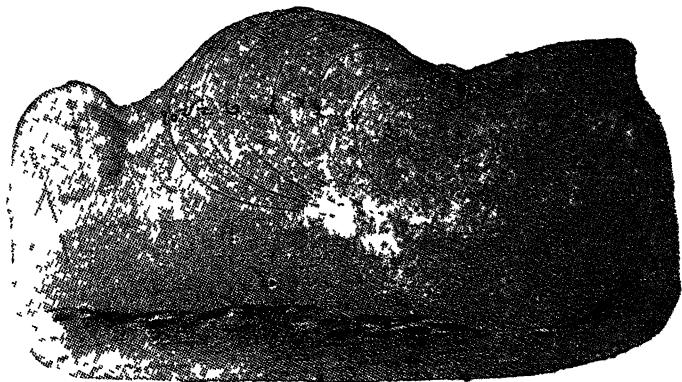
पृष्ठ-संख्या २२६

१० गुना लंबे और पाँच गुना चौडे हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी नए सूत्र बन जाते है।

रक्त-नलिकाएँ आकार में बहुत बढ़ती हैं। वे लंबी हो जाती हैं, विशेषकर अपरा के स्थान की नलिकाओ में बहुत वृद्धि होती है। इनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। धमनी और शिरा दोनों इस वृद्धि मे भाग लेती है।

गर्भ के प्रथम, तीन व चार मास में गर्भाशय के आकार मे जो वृद्धि होती है उसका मुख्य कारण उसकी दीवारो को मास की वृद्धि है। मास अधिक बढता है और उसके कारण सारा गर्भाशय अधिक बडा हुआ दिखाई देता है, किंतु उसके पश्चात् उसके आकार की वृद्धि का कारण भ्रूण की वृद्धि होती है। इस समय दीवारें पहले से पतली हो जाती हैं। भ्रूण बढने के कारण दीवारों को खिचना पडता है। उनके मास मे इतनी वृद्धि नहीं हो सकती कि वह भ्रूण के बराबर बढती भी रहे और उनकी दीवारें भी उतनी ही मोटी रहे। अतएव भ्रूण ज्यो-ज्यो अधिक बढता है त्यों-त्यों ये दीवारे पतली होती जाती हैं। पाँचवें मास मे वे इतनी पतली हो जाती है कि उनके द्वारा हाथ से भ्रूण को प्रतीत किया जा सकता है। गर्भाशय की आकृति मे भी अतर आ जाता है। गर्भ से पूर्व उसकी आकृति जैसी कि चित्र में दिखाई देती है वैसी होती है। गर्भ के प्रथम तीन व चार मास तक गोल रहती है, चार मास के पश्चात् फिर वह कुछ अडे के समान हो जाती है। गर्भाशय उदर में ऊपर की ओर बढता जाता है। इसका ऊपर का भाग अधिक गोल होता है।

गर्भाशय की वृद्धि बराबर एक समान हुआ करती है। उसकी वृद्धि भ्रूण पर निर्भर करती है। भ्रूण मे ऐसा नही होता कि कभी

चित्र नं० १२४—
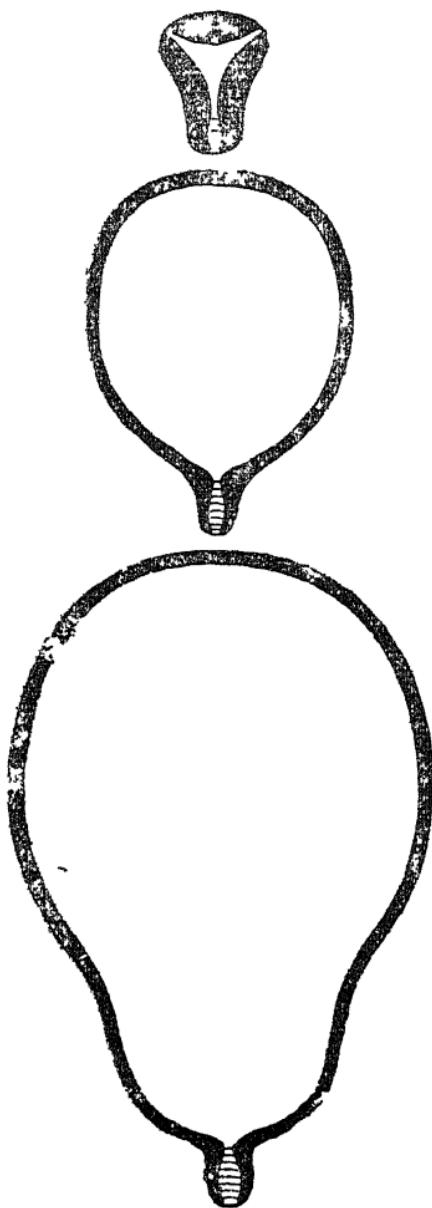
तो वह तेज़ी से बढने लगे और फिर कभी बंद हो जाय। इसकी वृद्धि बराबर एक समान जारी रहती है। इसी कारण गर्भाशय के आकार की वृद्धि भी एक समान होती रहती है।

गर्भाशय का स्वाभाविक आकार पहले बताया जा चुका है। गर्भ के दूसरे मास मे यह बढकर एक हंस के अंडे के बराबर हो जाता है। तीसरे मास में इसका आकार एक बड़े संतरे के बराबर होता है। इस समय पर गर्भाशय को उदर में भगास्थियों के जोड़ के ऊपर प्रतीत किया जा सकता है। चौथे मास मे गर्भाशय पूर्णतया उदर के भीतर आ जाता है। वह उदर की आगे की दीवार से आकर लग जाता है। इसका सबसे ऊपर का भाग

भगास्थियों की संधि से ४ इंच ऊपर रहता है। पाँचवें मास के अंत पर गर्भाशय नाभि से एक अंगुल नीचे रह जाता है और छठे मास पर वह नाभि के ऊपर पहुँच जाता है। सातवें, आठवें और नवें मास में वह दो अंगुल प्रति मास बढ़ता है। नवें मास के अंत में वह पर्शुकाओं के बीच की वक्षास्थि के निचले भाग पर पहुँच जाता है। दसवें मास में वह फिर नीचे को खिसकता है और पूर्व स्थान से कोई दो अंगुल नीचा हो जाता है।

गर्भाशय का सबसे नीचे का भाग अर्थात् उसकी ग्रीवा वृद्धि में अधिक भाग नहीं लेती। वहाँ पर रक्त का संचालन बढ़ जाता है, जिसके कारण उसकी ग्रंथियाँ अधिक काम करने लगती हैं। उनसे एक प्रकार का श्लेष्मा निकलता है और वह गर्भाशय के मुख को बंद कर देता है। गर्भावस्था में यह भाग पहले के समान कड़ा नहीं रहता, कुछ ढीला हो जाता है।

गर्भकाल में भग में रक्त का संचालन अधिक हो जाता है। इस कारण वहाँ की कला का रंग भी गाढ़ा लाल दिखाई देता है और वहाँ की ग्रंथियाँ अधिक तरल बनाने लगती हैं। इस स्थान की सब शिराएँ फूल जाती हैं। साथ में दीवारों में कुछ तंतु भी बढ़ जाते हैं।

डिंभ-ग्रंथि और डिंभ-प्रनाली में भी रक्त का अधिक संचार होता है।

चर्म—कुछ स्त्रियों के चर्म में रंग के कण एकत्रित हो जाते हैं। उदर के नीचे के भाग में कुछ लंबी-लंबी दरारें सी दीखने लगती हैं। इसका कारण यह होता है कि उदर की दीवार को गर्भाशय के साथ-साथ बढ़ना पड़ता है। वह बहुत खिंचती है। इस खिंचने से चर्म के गहरे भाग फट जाते हैं। यही स्थान हलकी

रेखाएँ सरीखी प्रतीत होते है। स्तनों के नीचे भी ऐसी ही रेखाएँ दिखाई देती हैं गर्भ के अतिरिक्त जिन दशाओं में भी उदर की वृद्धि होती है इन सबों मे ये रेखाएँ दीखने लगती है।

स्तन—स्तनो को आगे चलकर बहुत काम करना होता है। इस कारण वह इसी समय से तैयारी करने लगते है। इनके भीतर ग्रंथियो की संख्या बहुत बढ़ जाती है और वे कडे हो जाते है। उनके अग्रभाग, जिनके द्वारा बच्चा दूध पीता है, कडे हो जाते हैं। दूसरे मास से उनमें भारीपना मालूम होने लगता है। तीसरे या चौथे मास में इनसे कुछ पतला द्रव्य निकलने लगता है। तीसरे मास मे स्तन के मुख के चारो ओर का रग गहरा हो जाता है। साथ में कुछ छोटे-छोटे उभरे हुए दाने भी दिखाई देने लगते हैं। स्तनो की सब ग्रंथियाँ तेजी से बढती है।

हृदय और रक्त-संचालन—गर्भकाल में हृदय को अधिक काम करना पड़ता है। उसको न केवल माता ही का पोषण करना है, वरन् बच्चे का पोषण भी करना पडता है। किंतु हृदय मे इतनी शक्ति होती है कि इससे भी अधिक काम कर सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि हृदय का दाहना भाग बढ़ जाता है और इससे कभी-कभी चलने के समय श्वास लेने मे कष्ट होता है। हृदय पर, विशेषकर अंतिम दिनों मे, गर्भाशय का अवश्य ही कुछ भार पड़ता है, क्योकि वह उपर की ओर बढता है और सब अगो को उनके स्थान से हटा देता है। धमनियो मे कोई परिवर्तन नही होता, किंतु उदर की शिराएँ मोटी और फैली हुई दिखाई देती है।

रक्त में रक्त-कणों की मात्रा बढ जाती है। गर्भ के अंतिम दिनो मे लाल कण और हीमोग्लोबिन बढ़ जाते हैं। प्रसव के समीप

श्वेत कणों की संख्या में वृद्धि होती है। किन्तु प्रसव के तीन या चार दिन के परचात् उनकी संख्या फिर पूर्ववत् हो जाती है।

वृक्क और मूत्र—गर्भकाल में मूत्रत्याग अधिक होता है। विशेषकर गर्भ के प्रारम्भिक और अन्तिम दिनो में मूत्राशय पर दबाव पडने के कारण वह उत्तेजित रहता है। इस कारण मूत्र अधिक होता है। किन्तु मूत्र में विशेष बात देखने की यह है कि उसमें अलबूमन (Albumin) है या नहीं। अलबूमन का तनिक सा भी होना बहुत बुरा है और उसकी चिकित्सा शीघ्र ही करनी उचित है। कभी-कभी भग के स्राव के कारण भी मूत्र में अलबूमन मिलता है। किन्तु सदा यही समझकर चुप न हो जाना चाहिए। यह निश्चय प्रकार से जान लेना कि अलबूमन मूत्र के साथ वृक्क ही से आ रहा है या नहीं, बहुत आवश्यक है। उसके परचात् उसकी तुरन्त ही चिकित्सा होनी चाहिए। अलबूमन अत्यन्त भयानक रोगो का सूचक है।

फुस्फुस—इसको गर्भ के अन्तिम दिनों में अवश्य ही अधिक काम करना पड़ता है। इसका विशेष कारण यह होता है कि महा प्राचीरा पेशी पर गर्भाशय का बहुत भार पडता है। इस कारण बहुधा श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगता है। कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक निकलती है, क्योंकि भ्रूण में बनी हुई गैस भी माता ही के फुस्फुस द्वारा निकलती है।

शरीर का भार—स्वस्थ स्त्रियो का स्वास्थ्य गर्भकाल में उन्नत हो जाता है। उनको क्षुधा अधिक लगती है; पाचन भी अच्छा होता है, इससे उनका स्वास्थ्य भी पहले से उत्तम हो जाता है। किन्तु जो स्त्रियाँ स्वाभाविकतया ही रोगिणी होती हैं, उनका स्वास्थ्य बिगड जाता है। गर्भकाल में गर्भाशय में भ्रूण के कारण

भी शरीर का भार बढ़ता है। कहा जाता है कि शरीर में वसा और द्रव्यो मे भी अधिकता हो जाती है।

नाडी-मंडल—गर्भ को कम से कम प्रारम्भिक दिनों मे नाड़ी-मंडल अधिक उत्तेजित रहता है। कै करना, किसी वस्तु के खाने की इच्छा न करना, आलस्य रहना इत्यादि सब इसी के लक्षण है। जो स्त्रियाँ व्यायाम इत्यादि बिलकुल नही करतीं, पलॅग पर पडे-पडे आमोद-प्रमोद में ही जिनका समय जाता है उनको ये कष्ट अधिक होते है। स्वभाव चिडचिडा हो जाता है, शरीर में दरद रहने लगता है; हाथ-पाँव टूटते है, असाधारण वस्तुओं के खाने की इच्छा होती है, मुँह से राल टपका करती है। गर्भ के प्रारम्भिक काल मे यह दशा अधिकतर देखी जाती है। उस समय सारे शरीर को अपने को नई दशाओ के अनुकूल करना होता है, गर्भ के कारण जो-जो रक्त-संचालन इत्यादि में परिवर्तन हुए है उनको सहन करने के योग्य बनाना होता है। जब शरीर अपने को इन नवीन दशाओ के अनुकूल कर लेता है तो फिर उसको कुछ कष्ट नही होता। इसी कारण यह वमन इत्यादि गर्भकाल के आरम्भ मे देखे जाते है। तीसरे या चौथे मास के पश्चात् वे जाते रहते है।

प्रसव—गर्भकाल के २७३ दिन समाप्त होने पर बच्चा अपने वासस्थान को छोडकर ससार में आता है। गर्भाशय से गर्भ के बाहर आने को प्रसव कहते है।

प्रसव के दो या तीन सप्ताह पूर्व ही से स्त्री को कुछ हलकापन मालूम होने लगता है। इसका कारण, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गर्भाशय का नीचे को खिसक जाना है जिससे हृदय और महाप्राचीरा पर का भार हलका हो जाता है। किन्तु इस

समय मल और मूत्रत्याग अधिक होने लगता है, क्योंकि बस्ति में मूत्राशय और मलाशय दोनो ही गर्भाशय से दबते हैं। गर्भ-काल के अंतिम सप्ताह में बच्चे का सिर नीचे की ओर खिसकने लगता है।

प्रथम अवस्था—प्रसव का कारण गर्भाशय के मास-पेशियों का संकोच करना है। जब ये पेशियाँ संकोच करना आरभ करती हैं तो प्रसव की पीड़ा होने लगती है। ये दरद विशेष प्रकार के होते हैं। वे थोडे-थोडे समय के अतर पर प्रतीत होते हैं। पहले दरदों के बीच में अधिक अतर रहता है। धीरे-धीरे यह अंतर कम होता जाता है। दरद अधिक होते जाते हैं, उनकी तीव्रता भी बढ़ जाती है। ये दरद पीठ मे नीचे की ओर दोनों नितंबों के बीच में आरभ होते हैं और आगे की ओर उदर और जंघा की ओर आते प्रतीत होते हैं। गर्भाशय मास-पेशियो के संकोचन द्वारा गर्भ को नीचे की ओर ढकेलता है। गर्भ में बच्चे का सिर नीचे रहता है; इस कारण वही भाग आगे बढ़ता है। बच्चे के बाहर आने के लिये आवश्यक है कि गर्भाशय का मुख पूर्णतया चौडा हो जाय जिससे बच्चे का बाहर आना संभव हो। विना उसके मुख के पूर्णतया चौडे हुए बच्चा बाहर नहीं आ सकता। गर्भाशय के सकोचन से उसका मुख चौडता है। दरदों के प्रारंभ होने से मुख के पूर्णतया चौडने तक प्रसव की प्रथमावस्था कहलाती है। यह अवस्था १२ से १८ घटे तक रह सकती है।

ज्यों-ज्यो दरद तीव्र होता है त्यों-त्यों गर्भाशय का मुख भी अधिक खुलता है। इस समय स्त्री का कष्ट बढ जाता है। पीठ को दाबने से उसे आराम मालूम होता है। इस अवस्था के आरभ में गर्भाशय के मुख से कुछ रक्त मिला हुआ श्लेष्मा निकलता है।

प्रथमावस्था के अंत में बहुत सा पानी एकदम निकलता है। इसका कारण उन झिल्लियो का फटना होता है जिनके भीतर बच्चा रहता है। जब वे झिल्लियाँ फटती हैं तो उनके भीतर का द्रव्य भी एकदम बाहर निकलता है। कभी-कभी ये झिल्लियाँ दूसरी अवस्था तक नही फटतीं और उनको हाथ से फाड़ना पड़ता है।

दूसरी अवस्था—झिल्लियों के फटने के पश्चात् दूसरी अवस्था आरंभ होती है। कुछ समय तक ठहर कर दरद फिर तेज़ी से आरंभ होते है। इनकी तीव्रता पहले की अपेक्षा और भी बढ़ जाती है। स्त्री को मालूम होता है कि जैसे कोई वस्तु नीचे को खिसक रही है। दरद की तीव्रता के कारण स्त्री अपने पास की किसी भी वस्तु को पकड़ लेती है। एक गहरा श्वास भीतर लेती है। और जब तक दरद का अंत नही हो जाता तब तक वायु को भीतर ही रखती है। उसका मुख लाल हो जाता है और शरीर से स्वेद निकलने लगता है। श्वास को भीतर रखने से उदर और महाप्राचीरा पेशी का गर्भाशय पर भार बढ़ जाता है, जिससे भ्रूण के नीचे खिसकने और आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।

इन दरदो के कारण सिर आगे को बढ़ता है। वस्ति में मलाशय के ऊपर होता हुआ वह नीचे की ओर को जाता है। इससे यदि मलाशय मे कुछ मल होता है तो वह मलद्वार में होता हुआ बाहर निकल जाता है। अंत को बच्चे का सिर भग-स्थान पर पहुँचता है। जिस समय दरद में बच्चे का सिर आगे को बढ़ता है उस समय भग और मलद्वार के बीच का स्थान ऊपर को उभर जाता है, किंतु दरद के बंद होने पर ज्यो ही बच्चे का सिर पीछे को हटता है त्यों ही यह स्थान भी समान हो जाता है।

इस प्रकार दरदों में सिर आगे को बढ़ना है और दरदों के बीच के समय में पीछे को हट जाता है। अंत में सिर का पिछला भाग, जो सबसे आगे रहता है, भगास्थि की संधि के नीचे पहुँच जाता है। अंत मे एक बड़ा तीव्र दरद होता है और उसके साथ बच्चे का सिर भग के बाहर आ जाता है। इसके पश्चात् दरद में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। सिर, जो बच्चे की स्वाभाविक अवस्था में उसके वक्ष की ओर मुड़ा हुआ था और जिस कारण से सिर का पिछला भाग सबके आगे स्थित था, सीधा हो जाता है। इससे उसकी ललाटास्थि सबसे ऊपर आ जाती है। इससे बच्चे का ललाट और मुख भी जल्दी से भग से बाहर आ जाते हैं। स्त्री के लिये यह महान् कष्ट का समय होता है।

सिर के भग से बाहर निकलने के पश्चात् कुछ समय के लिये दरद कम होता है, किन्तु फिर आरंभ हो जाता है और बच्चे का सिर घूमकर माता के दाहनी ओर आ जाता है। इसके पश्चात् बच्चे के कंधे बाहर आते हैं। पहले दाहना कंधा बाहर आता है, उसके पश्चात् बायाँ कंधा उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् वक्ष, उदर और निम्न-शाखाओं के उत्पन्न होने मे किसी प्रकार का कष्ट नही होता।

बच्चे के जन्म लेने पर दूसरी अवस्था अंत हो जाती है। यह अवस्था दो वा तीन घंटे ले लेती है; किंतु जिन स्त्रियों को कई बार बालक हो चुके हैं उनमें कम समय लगता है।

तीसरी अवस्था—तीसरी अवस्था मे बच्चे के अपरा इत्यादि बाहर आते हैं। बच्चे के उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ समय के लिये दरद बंद हो जात हैं और गर्भाशय संकुचित हो जाता है। वह उदर में एक कड़ी गेंद सरीखा प्रतीत होता है। दरद फिर होता

है और अपरा गर्भाशय से पृथक् होकर भग द्वारा बाहर आ जाता है। इस अवस्था में कुछ मिनट से लेकर एक घंटा तक लग सकता है।

प्रसूतिकाल—बच्चे के जन्म हो जाने के पश्चात् गर्भाशय फिर अपनी पूर्ववत् दशा में लौटने का प्रयत्न करता है। इसमें उसको छः से आठ सप्ताह लग जाते है। इस समय में स्त्री की दशा बहुत नाजुक होती है।

इन छः या आठ सप्ताह में गर्भाशय के आकार में जितनी वृद्धि हुई थी वह सब जाती रहती है। उसकी दीवारें अपनी साधारण दशा में आ जाती हैं। मांस के नए सूत्र लुप्त हो जाते हैं। ग्यारह-बारह दिन के पश्चात् उदर में गर्भाशय नहीं प्रतीत किया जा सकता। धीरे-धीरे वह अपनी पूर्व दशा को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है।

प्रसव के कई दिन पश्चात् तक स्त्री के भग से एक प्रकार का द्रव्य बहा करता है। इसको लोकिया (Lochia) कहते है। प्रथम दो तीन दिन तक तो केवल रक्त ही निकलता है। फिर उसमें सीरम का भाग अधिक हो जाता है। साथ में रक्त कण, गर्भाशय की कला इत्यादि भी होते है। इनकी गंध सुहावनी नहीं होती, किंतु वह दुर्गंधि भी नहीं कही जा सकती। यदि इस द्रव्य में दुर्गंधि हो तो चिंता का कारण है, क्योंकि इसका यह अर्थ है कि वहाँ रोग के जीवाणु पहुँच गए है।

प्रसव के पश्चात् का काल स्त्री के लिए एक बहुत ही विशेष समय होता है। इस समय भग और गर्भाशय दोनों व्रणों से परिपूर्ण कहे जा सकते हैं। यदि ऐसी अवस्था में वहाँ तनिक सी भी अशुद्धि पहुँच जाती है तो उससे भयंकर परिणाम होते हैं। जितनी

स्वच्छता की इस समय आवश्यकता है उतनी किसी भी समय पर नहीं है। इस समय पर असावधानी के ही कारण हमारे देश में सहस्रों स्त्रियों के प्रत्येक वर्ष प्राण जाते हैं।

स्त्री के लिये उत्तम भोजन, उत्तम स्वच्छ स्थान जहाँ शुद्ध वायु का ख़ूब प्रवेश हो, स्वच्छ वस्त्र, चिन्ता से मुक्ति और पूर्ण विश्राम की अत्यंत आवश्यकता है। प्रसव के पश्चात् स्त्री का दूसरा जन्म समझना चाहिए।

जाति की उत्पत्ति

वैज्ञानिकों के लिये अभी तक जाति का प्रश्न एक गूढ़ समस्या है। इसका क्या कारण है कि किसी बार लड़की होती है और कभी लड़का उत्पन्न होता है? वे कौन सी वस्तुएँ है जो जाति की भिन्नता उत्पन्न करती है? शुक्राणु और डिंभ के भीतर कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनके कारण यह जाति बनती है। अथवा कोई बाह्य प्रभाव ऐसे होते है जिनके कारण जातिभेद उत्पन्न होता है? यह अभी तक एक समस्या है, जिस पर वैज्ञानिक लोग सहमत नही हैं।

इस प्रश्न ने सदा से लोगो को चक्कर मे डाला है। गर्भवती भावी माताएँ इस बात की बहुत इच्छुक रहती है कि उनको उनके आगामी संतान की जाति मालूम हो जाय। कभी-कभी भावी पिता तो डॉक्टरों से यह प्रश्न कर भी बैठते है। पश्चिमी देशो में स्त्रियाँ इस प्रश्न के संबंध में साधारणतया डॉक्टरो की सलाह लेती हैं। किंतु हमारे देश की स्त्रियाँ लज्जा के मारे इतना साहस नहीं करतीं। तो भी उनको इस बात के जानने की उतनी ही अधिक इच्छा रहती है।

इसके संबंध में अनेक सिद्धान्त अनेक व्यक्तियो द्वारा बने हैं। इतने अधिक सिद्धांतों का बनना ही यह बता रहा है कि कोई भी सिद्धांत संतोषजनक उत्तर देने के योग्य नही है। कुछ सिद्धातों का नीचे उल्लेख किया जाता है:—

१. जाति को उत्पन्न करना शुक्राणु का काम है। वह डिंभ का न केवल गर्भाधान ही करता है, किंतु जाति भी वही उत्पन्न करता है।

२. जाति को उत्पन्न करने का काम केवल डिंभ का है। इसमें शुक्राणु कुछ भी भाग नहीं लेता।

३. हिप्पोक्रटीज़ (Hippocrates) का कहना है कि आगामी संतान की जाति माता-पिता के रज और शुक्र की अधिकता व उनकी शक्ति पर निर्भर करती है। यदि पिता का शुक्र अधिक है और अधिक शक्तिवान् है तो पुत्र होगा। किंतु यदि माता का रज अधिक है व शक्ति मे अधिक है तो पुत्री होगी।

४. यदि पिता अधिक बलवान् है तो पुत्री होगी, किंतु यदि माता का बल अधिक है तो पुत्र होगा।

५. ल्यूविनहोक (Leeuwenhock) यहाँ तक कहता है कि उसको शुक्राणु में भावी संतान की जाति दिखाई देती है।

६. यदि दाहनी ओर के अंड से उत्पन्न हुए शुक्र का दाहनी ओर का डिंभ-ग्रंथि से आए हुए डिंभ के साथ संयोग होता है तो उससे पुत्र होता है। यदि बाईं ओर की ग्रंथि के डिंभ का बाएँ अड के शुक्र से संयोग होता है तो पुत्री होती है।

इस सिद्धांतवाले यहाँ तक कहते है कि दाहने ओर का शुक्र बाईं ओर के डिंभ से व बाईं ओर का शुक्र दाहनी ओर के डिंभ से नही मिल सकते। उनके मिलने से गर्भाधान नहीं होगा।

७. केनेस्ट्रिनी (Canesstrini) का कहना है कि यदि कई शुक्राणु एक डिंभ के भीतर प्रवेश करेंगे तो पुत्र होगा। यदि एक ही शुक्राणु प्रवेश करेगा तो उससे पुत्री होगी।

८. डाक्टर रोस का कथन इससे बिलकुल उलटा है। उनके अनुसार थोडे शुक्राणुओं से पुत्र और बहुत से शुक्राणुओं से पुत्री होगी।

९. होफ़कर और सेडलर (Hofacker & Sadler) कहते है कि माता और पिता में जिसकी आयु अधिक होगी बच्चा उसी की जाति का होगा।

१०. बर्नर और स्टोयडा (Berner & Stoida) की सम्मति बिलकुल ही इसके विरुद्ध है। उनकी राय में बच्चे की वही जाति होगी जो माता और पिता में छोटी आयुवाले की है। यदि माता की आयु छोटी है तो पुत्री होगी। यदि पिता छोटा है तो पुत्र होगा।

११. यदि पिता बलवान् है तो पुत्र होगा। किंतु यदि माता का बल अधिक है तो पुत्री होगी।

१२. दूसरे महाशय बिलकुल इसके विरुद्ध ही कहते हैं। उनके अनुसार पिता के बलवान् होने से पुत्री और माता के बलवती होने से पुत्र होगा।

इस प्रकार के और भी कई सिद्धांत हैं। उनमें से बहुत से ऐसे है, जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इनमें कोई भी ऐसा सिद्धात नही है, जो विषय पर किसी प्रकार का भी प्रकाश डालता हो। सबसे पहले इस प्रश्न का वैज्ञानिक अध्ययन योरप मे पिछली शताब्दी के अंतिम दिनों में आरंभ किया गया था। ४१३,४०,०० बच्चों के जन्म का पूरा हाल मालूम किया गया। इससे यह मालूम

हुआ कि संसार में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक १०० पुत्रियों के लिये १०६ पुत्र जन्म लेते हैं। दूसरे देशों की गणना से भी यही पाया गया है। किंतु लड़कों की लड़कियों की अपेक्षा मृत्यु भी अधिक होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि स्त्रियों की संख्या मरदों की अपेक्षा अधिक हो जाती है। सन् १६०१ में इँगलैंड और वेल्स में १८,००० लड़के लड़कियों से अधिक जन्मे थे, किंतु उसी वर्ष में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की २०,००० अधिक मृत्यु हुई। इस प्रकार सन् १६०१ में, इन देशों में, १०० पुरुष और १०७ स्त्रियों की निष्पत्ति थी।

पुरुषों और लड़कों की अधिक मृत्यु होने के कई कारण हैं। अन्वेषण से यह मालूम हुआ है कि गर्भकाल में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का अधिक नाश नहीं होता। किन्तु जन्म के समय अर्थात् प्रसव में और उसके पश्चात् लड़कों की अधिक मृत्यु होती है। प्रसव के समय अधिक मृत्यु का कारण लड़कों के शरीर का बड़ा आकार है। प्रसव के पश्चात् जो अधिक मृत्यु होती है, इसका कारण डाक्टर हेरी केम्पबेल के अनुसार, लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में सहनशक्ति की कमी है। इनका कहना है कि लड़कियों का जीवन लड़कों की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सहनशक्ति अधिक होती है। प्रकृति ने यह सहनशक्ति उनको गर्भ और प्रसव के कष्ट को सहन करने के लिये दी है। इसके अतिरिक्त पुरुषों का जीवन ही ऐसा होता है कि उनको बहुत विपरीत व भयानक अवसरों का सामना करना पड़ता है। स्त्रियाँ अधिकतर घर ही पर रहती हैं। उनको जीवनोपार्जन के लिये वह सब दुस्तर और दुस्साहसपूर्ण कार्य नहीं

करने होते, जो पुरुषों को करने होते है। ऐसे कार्यो मे बहुतो की मृत्यु होती है, भयानक घटनाओ में पुरुष ही अधिक मरते हैं।

इसी कारण प्रकृति ने पुरुषों को अधिक उत्पन्न करने का प्रबध किया है। किंतु अधिक पुरुष क्योंकर उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ने इसका प्रबध किस भाँति और कहाँ किया है कि स्त्रियो की अपेक्षा पुरुष अधिक उत्पन्न हों। इस संबंध मे मिस्टर डौसन के सिद्धांत की कुछ व्याख्या करनी आवश्यक मालूम होती है।

मिस्टर डौसन (E. R. Dawson) का कहना है कि पिता सतान की जाति पर किसी प्रकार का भी प्रभाव नहीं डालता। जाति को उत्पन्न करनेवाली माता है। यह महाशय यह मानते है कि दाहिनी डिंभ-ग्रंथि के जितने डिंभ हैं, वे सब पुरुष उत्पन्न करते है और बाईं ग्रंथि के डिंभ स्त्री उत्पन्न करते हैं। यह दोनो ओर की ग्रंथियों का कर्म भिन्न मानते हैं। एक ग्रंथि का काम लडके उत्पन्न करना है और दूसरी ग्रथि का काम लड़कियाँ उत्पन्न करना है। पिता का काम केवल डिभ को गर्भित कर देना है। इस प्रकार शुक्राणु का काम केवल यह है कि वह डिभ को इस प्रकार उत्तेजित कर दे कि वह वृद्धि करने लगे।

पहले कहा जा चुका है कि जिस समय कन्या उत्पन्न होती है तो उसके डिभ-ग्रथियों में डिभ उपस्थित होते हैं। जन्म के पूर्व ही ग्रथि में सब डिंभ रहते हैं। जन्म के पश्चात् जीवन मे कोई नया डिभ नहीं बनता। केवल वही डिंभ, जो पहले से वहाँ पर हैं, परिपक्व होते रहते हैं। जन्म के समय प्रत्येक ग्रन्थि में कोई ७०,००० डिंभ होते है। समय-समय पर डिंभ परिपक्व होकर मासिक स्राव के समय पर ग्रन्थि से प्रनाली में आते हैं। बहुत से डिंभ आयु-पर्यंत परिपक्व नहीं होते।

एक और बात जो ध्यान देने योग्य है और जिसको बहुत से लेखकों ने लिखा है वह यह है कि दाहने ओर की ग्रन्थि बाईं ग्रन्थि से कुछ बडी होती है। मिस्टर डौसन के अनुसार दाहनी ग्रन्थि के डिम्भ से पुत्र और बाईं ग्रन्थि के डिम्भ से पुत्री होती है। इस प्रकार लडकियों की अपेक्षा अधिक लडकों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है, क्योकि दाहनी ग्रन्थि ही बाईं से बड़ी है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसमे डिम्भ भी अवश्य ही अधिक होते हैं। मिस्टर डौसन अधिक लड़कों के उत्पन्न होने का यही कारण बताते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि एक मासिक स्राव में एक ग्रन्थि से डिम्भ आता है तो दूसरे स्राव मे दूसरी ग्रन्थि डिम्भ भेजती है, दोनो ग्रन्थियाँ बारी-बारी से काम करती हैं। बहुत से अन्वेषण और प्रयोगो द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है। इस प्रकार इस मत के अनुसार एक मास के गर्भ से लडका होगा और दूसरे मास के गर्भ से लडकी। सिद्धान्तकर्त्ता इस बात को बडे जोर के साथ कहता है कि सारे जीवन भर यही चक्र चलता है। पहले मासिक स्राव में यदि दाहनी ग्रन्थि से डिम्भ आया है, तो उसके गर्भ से लड़का होगा। और दूसरे मास मे दूसरी ओर की ग्रन्थि से जो डिम्भ आएगा उससे कन्या उत्पन्न होगी।

इसी सिद्धान्त का आधार रखते हुए मिस्टर डौसन का कहना है कि हमको यदि प्रथम सतान की जाति मालूम हो और उसका जन्मदिवस और तिथि का पता हो, तो भावी सतान की जाति सहज में बताई जा सकती है। स्त्रियो को अधिकतर मासिक स्राव प्रत्येक २८ दिन पर होता है। इस प्रकार वर्ष भर के ५२ सप्ताहों में १३ मासिक स्राव होते हैं। जिनका मासिक स्राव कम होता है,

उनको अधिक बार मासिक स्राव होता है। ऐसी दशा में मासिक काल मालूम होने से मासिक स्राव की संख्या सहज में निकाली जा सकती है।

यदि हमको उत्पन्न होनेवाले बच्चे की जाति मालूम करनी है तो पहले अन्तिम बार जन्मे हुए बच्चे का जन्मदिवस जानना आवश्यक है। साधारणतया स्त्रियों का गर्भकाल २८० दिन अथवा ४० सप्ताह होता है। यदि हम इस बच्चे के जन्मदिवस से गिनकर ४० सप्ताह पूर्व का दिन मालूम कर लें तो हमें वह दिन मालूम हो जायगा जब उस बच्चे को उत्पन्न करनेवाले डिम्भ का गर्भाधान हुआ था। यदि यह बच्चा लड़का है तो ४० सप्ताह पूर्व ग्रन्थि से आनेवाला डिम्भ दाहनी ग्रन्थि से आया था और वह पुरुष-डिम्भ था। अतएव इस स्राव से अब आगे की ओर गिनना चाहिए और इसी आधार पर कि एक मास में एक ग्रन्थि से और दूसरे मास में दूसरी ग्रंथि से डिम्भ आता है; और दाहनी ग्रंथि का पुरुष और बाईं का स्त्री डिम्भ होता है, उस समय तक गिनते हुए चले जाना चाहिए जब तक कि हम उत्पन्न होनेवाले बच्चे के संभव जन्मदिवस से ४० सप्ताह पूर्व के मासिक स्राव पर पहुँच जावें; अर्थात् यदि हमारे हिसाब के अनुसार २० दिसम्बर को बच्चे का जन्म होना है तो हमको २० दिसम्बर से ४० सप्ताह पूर्ववाले मासिक स्राव का पता लगाना चाहिए और देखना चाहिए कि इस स्राव में कौन सा डिम्भ आया है। बस, भावी सन्तान की वही जाति होगी। इस गणना में प्रत्येक दिसम्बर और जनवरी के बीच में एक स्राव का अधिक हिसाब लगा देना चाहिए।

इस प्रकार यह विदित होगा कि यदि एक वर्ष के अक्टूबर या दिसम्बर मास का गर्भ लड़का है तो दूसरे वर्ष के उसी मास का

गर्भ लड़की होगा, क्योंकि हमको तेरह मासिक स्राव का हिसाब लगाना पड़ता है। इस कारण जिस मास में किसी स्त्री के एक बच्चा हुआ है उसी मास में दूसरे वर्ष में दूसरी जाति का बच्चा उत्पन्न होगा। मिस्टर डौसन इस गणना को बिलकुल सत्य मानते हैं। उनके अनुसार इसमें त्रुटि होने की कोई संभावना नहीं है, किंतु दूसरे वैज्ञानिक लोग इसको संदेह की दृष्टि से देखते हैं। अभी तक यह सिद्धांत भी उसी अवस्था में है जिसमें कई दूसरे हैं।

इस सिद्धांत के समर्थन में डोसन महाशय ने अनेक उदाहरण लिखे हैं, जहाँ उनकी गणना के अनुसार परिणाम ठीक निकले हैं। क्वीन विक्टोरिया (Queen Victoria) के परिवार का उन्होंने उदाहरण दिया है। प्रथम सतान—प्रिंसेस विक्टोरिया—जन्म-दिवस—२१ नवम्बर, १८४० । दूसरी संतान—किंग ऐडवर्ड—जन्मदिवस—९ नवंबर, १८४१ ।

ड्यूक आफ़ एडिनबरा का परिवारः—

प्रथम सतान — पुत्र — जन्मदिन — अक्टूबर १८७४.

दूसरी ,, पुत्री ,, अक्टूबर १८७५.

ड्यूक आफ केनाट का परिवारः —

प्रथम संतान — पुत्री — जन्मदिन — जनवरी १८८२.

दूसरी ,, पुत्र ,, जनवरी १८८३.

किन्तु यदि बच्चा तीसरे वर्ष उसी मास होगा तो उसकी जाति भी वही होगी, जो प्रथम वर्ष में उत्पन्न हुए बच्चे की जाति थी। साधारण तौर से इस प्रकार भी हिसाब लगाते हैं कि अन्तिम बच्चे के जन्ममास से गिनना आरम्भ करके उत्पन्न होनेवाले बच्चे के जन्म लेने के मास तक गिनते हैं। इससे बच्चे की जाति का

पता लग जाता है; किन्तु मिस्टर डौसन के अनुसार यह गणना उतनी ठीक नहीं होती जितनी कि मासिक स्राव के अनुसार की गई गणना होती है। इन महाशय ने अपने पत्र में बहुत से उदाहरण दिए हैं जिनमे से निम्न-लिखित उदाहरण विशेष है।

रूस के अन्तिम ज़ार के परिवार में जारीना से निम्न-लिखित बच्चे उत्पन्न हुए—

Princess Olga (प्रिंसेज ओलगा)—जन्मदिवस १५ नवं० १८९५.
Princess Tatiana (,, टोटियाना)—,,—१० जून १८९७.
Princess Marie (,, मेरी)—,,—२६ जून १८९९.
Princess Anastasia (, ऐनेस्टेजिया)—,,—१८ जून १९०१.
Prince Alexis (प्रिंस ऐलेक्सिस)—,,—१२ अगस्त १९०४.

इसी प्रकार स्पेन के राजघराने का भी उदाहरण दिया गया है:—

1. Prince of Asturias—पुत्र—जन्म-दिन १० मई १९०७.
2. Prince of Jaime —पुत्र— ,, — २३ जून १९०८.
3. Princess Beatrice —पुत्री— ,, — २२ जून १९०९.
4. मृत बच्चा— —पुत्र— ,, — २१ मई १९१०.

(इस बच्चे के उत्पन्न होने की जून १९१० में आशा थी)

5. Princess Maria —पुत्री— ,, —१२ दिसम्बर १९११.
6. Prince Juan —पुत्र— ,, —२० जून १९१३.
7. Prince Gouzale —पुत्र— ,, —२४ अक्टूबर १९.४.

मिस्टर डौसन के अनुसार यह गणना उन बच्चों के सम्बन्ध में जो समय से पूर्व ही जन्म लेते है, प्रायः ठीक नही होती। किन्तु यदि बच्चा दो मास पूर्व जन्म लेगा तो गणना के अनुसार निकाली हुई जाति ठीक होगी। यदि बच्चा केवल एक मास पूर्व जन्म लेगा

तो वह ठीक नहीं होगी। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जिसका सतान की जाति मालूम करने पर प्रभाव पड़ता है, वह माता का मासिक स्राव है। किन्हीं स्त्रियों को स्राव २४ या २५ वे दिन हो जाता है। किन्हीं को २८ वें दिन होता है; किसी-किसी को ३० वें दिन तक होते देखा जाता है। इस प्रकार वर्ष भर के मासिक स्रावों की संख्या मे बहुत अतर पड़ सकता है। गणना करते समय इन सब बातो का ध्यान रखना आवश्यक है।

किसी स्त्री व पुरुष को आगामी सतान की जाति बताने से पूर्व निम्न-लिखित प्रश्नों का उत्तर जान लेना चाहिए—

१. मासिक धर्म कितने दिवस पर होता है ?
२ प्रत्येक बार स्राव कितने दिन तक रहता है ?
३. क्या उनमें कभी गडबडी भी हो जाती है ?
४. पिछला बच्चा कौन-सी तारीख को जन्मा था ? वर्ष, महीना और तारीख़ सब मालूम होना चाहिए।
५. बच्चा लडका था या लडकी ?
६. वह उचित समय के पूर्व अथवा उसके पश्चात् जन्मा था अथवा उसका जन्म ठीक समय पर हुआ था ? यदि उसने कुछ दिन छोड़े थे व अधिक लिये तो वह कितने दिन थे ?
७ कितने दिन तक बच्चे को दूध पिलाया गया था ?
८. अंतिम प्रसव के कितने दिन पश्चात् मासिक धर्म आरंभ हुआ था ?
९. यदि हो सके तो अंतिम बच्चे के जन्म के पश्चात् सब मासिक स्रावो की तारीख़ मालूम कर लेनी चाहिए।
१०. अगले स्राव की तारीख़।
११. अंतिम बच्चे के जन्म के पश्चात् क्या कोई गर्भ गिरा ?

१२. दूसरे बच्चों के जन्म की तारीख़ और उनकी जाति।

मिस्टर डौसन का कथन है कि इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त करके भावी बच्चे की ठीक जाति बताने में उनको कभी असफलता नहीं हुई है। वह कहते हैं कि उनका कथन ९७% सदा ठीक निकला है। ३% की त्रुटि इस कारण होती है कि उनको सारी आवश्यक सूचना ठीक-ठीक नही मिलती। बहुधा माताएँ व पिता उपर्युक्त प्रश्नों का उचित उत्तर नही दे पाते। और कभी-कभी उनको ग़लत सूचना मिल जाती है।

अभी तक किसी वैज्ञानिक ने डिंभ-ग्रंथि से डिंभ को निकलते हुए नहीं देखा है और न शुक्राणु द्वारा उसका गर्भाधान होते ही देखा है। इसी कारण इतने प्रकार के अनुमान किए जाते हैं। छोटे जतुओं में यह सारी घटना देखी जा चुकी है और इसी के ऊपर मनुष्य में भी होनेवाली घटनाओं का अनुमान किया जाता है। यह समझा जाता है कि जैसा वहाँ होता है वैसा ही मनुष्य में होता होगा। किंतु कौन कह सकता है कि मनुष्य के डिंभ और शुक्राणुओं मे दूसरे पशुओं के डिंभ और शुक्राणुओं से कुछ भिन्नता नहीं है। भिन्नता कुछ न कुछ अवश्य है। मनुष्य के डिंभ और शुक्राणुओ के मेल से मनुष्य ही उत्पन्न होता है और पशुओं के डिंभ और शुक्राणुओं के मेल से वही पशु उत्पन्न होते है जिनके वह डिंभ और शुक्राणु है। उनसे दूसरे पशु नही उत्पन्न होते। मनुष्य में किसी डिंभ और शुक्राणु से लडका उत्पन्न होता है किंतु दूसरे से लडकी होती है। इससे मालूम होता है कि किसी प्रकार का अंतर अवश्य है, किंतु अभी तक हम उस अंतर को नही जान सके हैं। संभव है, वह दिन शीघ्र ही आ जावे जब हमें वह अंतर दीखने लगे और डिंभ के परिपक्व होने को भी हम देख सकें।

ऐसा होने पर इच्छित जाति का बच्चा उत्पन्न करना कुछ कठिन न होगा।

छोटे पशुओं पर वैज्ञानिकों ने जो अन्वेषण किए हैं उनके परिणाम इन सिद्धांतों से भिन्न हैं। उनके अनुसार जाति का निश्चय करना किसी प्रकार की बाह्य दशा पर निर्भर नहीं करता। भोजन इत्यादि के घटाने-बढ़ाने व माता-पिता की आयु इत्यादि का प्रभाव चाहे कुछ लड़के और लड़कियों की संख्या की निष्पत्ति पर पड़े, किंतु स्वयं बच्चे की जाति को बनाने में इन दशाओं का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। आजकल वैज्ञानिक लोग उत्पादक सेलों में क्रोमोसोमों (Chromosome) को मानते हैं। यह क्रोमोसोम सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा डंडे की भाँति दिखाई देते हैं। प्रत्येक जाति में इनकी एक विशेष संख्या होती है। पुरुष के उत्पादक सेलों में इनकी संख्या ४७ होती है। जिस समय शुक्राणु अपने पूर्वज सेलों से, जिनको Spermatocyte कहते हैं, बनते हैं उस समय पूर्वज सेलों के पक्वीकरण में इन क्रोमोसोम के प्रबंध में कुछ परिवर्तन होता है। सैंतालिस क्रोमोसोम २३ जोड़ों में एकत्रित हो जाते हैं, और एक क्रोमोसोम अलग रह जाता है जिसको x--क्रोमोसोम कहते हैं। जिस समय इन सेलों से शुक्राणु बनते हैं तो यह जोड़ भिन्न-भिन्न होकर दोनों शुक्राणुओं में चले जाते हैं, क्योंकि एक पूर्वज सेल से केवल दो ही शुक्राणु बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शुक्राणु में २३ क्रोमोसोम हो जाते हैं। किंतु वह x-क्रोमोसोम केवल एक ही शुक्राणु में जाता है।

उधर डिंभ में इस प्रकार का कोई x-क्रोमोसोम नहीं होता। इसके क्रोमोसोम विभाजित होकर पूर्वज सेलों से दोनो डिंभों में समान संख्या में चले जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक डिंभ में समान

क्रोमोमोम रहते हैं। वैज्ञानिकों को प्रयोगों द्वारा यह मालूम हुआ है कि जब + क्रोमोसोमवाला शुक्राणु डिंभ से मिलता है तो स्त्रीजाति का बच्चा उत्पन्न होता है। किंतु यदि दूसरे शुक्राणु का डिंभ से संयोग होता है तो उससे पुरुष बालक उत्पन्न होता है।

यह प्रयोग छोटे श्रेणी के उन जंतुओं पर किए गए हैं जिनके जनक सेल पारदर्शी होते हैं। उनमें देखी हुई घटनाओं ही पर मनुष्य के संबंध में भी सिद्धांत निर्द्धारित किए गए है। साधारण-तया विद्वान् यही मानते है कि एक डिंभ के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। एक शुक्राणु से सयोग होते ही उसका गर्भाधान हो जाता है। किंतु यह एक गूढ़ समस्या है कि जहाँ एक ही शुक्राणु से काम चल सकता था वहाँ प्रकृति ने इतनी फ़िज़ूलखर्ची क्यों दिखाई है? सारे स्थानों में तो प्रकृत अत्यंत कजूसी के साथ काम लेती है, किंतु यहाँ इतनी दानी क्यों बन गई है? जहाँ केवल एक का काम है वहाँ लाखों का खर्च करना तो बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। किंतु वास्तव में शुक्राणु और डिंभ का गर्भाधान तो किसी ने देखा नहीं है। संभव है कि एक डिंभ का गर्भाधान करने के लिये केवल एक ही शुक्राणु काफ़ी हो, किंतु इससे विरुद्ध होने की भी संभावना हो सकती है। वास्तव में इस बात का पूर्णतया निपटारा तभी हो सकता है जब शुक्राणु और डिंभ के संयोग को देखा जाय।

मिस्टर डौसन अपने सिद्धांत में यहाँ तक विश्वास रखते हैं कि उनका कथन है कि मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार संतान उत्पन्न कर सकता है। वह चाहे तो पुत्र हो, चाहे पुत्री हो। वह कहते हैं कि बहुत से लोगों ने उनकी सलाह से काम किया है और संतोषजनक परिणाम हुए हैं। नहीं कहा जा सकता कि इन

महाशय का दावा कहाँ तक ठीक है। यद्यपि इनको अपने सिद्धांत में दृढ़ विश्वास है, किंतु वैज्ञानिक संसार उसको अभी तक मानने के लिए पूर्णतया प्रस्तुत नहीं है।

जाति का प्रश्न एक महान् गूढ़ समस्या है। जिस दिन यह प्रश्न हल हो जायगा और यह मालूम हो जायगा कि अमुक कारणों से पुत्र व पुत्री उत्पन्न होते हैं और उन कारणों को वश में करने का साधन भी मनुष्य के हाथ में आ जायगा, उस समय कदाचित् बड़ी ही हलचल मच जावेगी। प्रत्येक मनुष्य पुत्र ही उत्पन्न करना चाहेगा, पुत्री कोई भी उत्पन्न न करेगा। ऐसा होना असंभव प्रतीत होता है; क्योंकि प्रकृति के नियम अटल हैं और उसका चक्र अटूट है।

आनुवंशिक परंपरा

हम देख चुके है कि जब शुक्राणु और डिंभ मिलते है तो उनसे एक अणूसेल बनता है। इस अणूसेल मे दो बातो की अद्भुत शक्ति होती है। एक तो उसमें भाग होता है और भाग होकर उससे अनेक सेल तैयार हो जाते है। दूसरे इन सेलों से शरीर के भिन्न-भिन्न अग बनते है। यह सेल आरंभ ही से इस प्रकार कार्य करता है कि मानों वह अपने भविष्य के मार्ग से पूर्णतया परिचित है और उसको उस पर ठीक-ठीक चलने का पूरा ज्ञान है, जिससे वह किसो स्थान पर भी त्रुटि नही करता , सीधा अपने मार्ग पर चलता हुआ अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। इस सेल के भाग से जो सेल बनते हैं वे ठीक एक निश्चित विधि का अवलंबन करते है। जिन परिवर्त्तनों के पश्चात् शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बनते है वे भी अत्यत क्रमबद्ध होते है ; मानों उनको एक अत्यत चतुर अनुभवी मनुष्य कर रहा हो। बल्कि यों कहना चाहिए कि कुछ परिवर्त्तन तो ऐसे अद्भुत् होते है, जो मनुष्य के कौशल और चातुर्य के बाहर हैं।

आनुवंशिक परंपरा—इससे प्रतीत होता है कि यह गुण किसी संतति मे दबे रह जाते हैं और फिर भी प्रकट हो जाते हैं। इन सब विचित्र घटनाओं को वैज्ञानिक आनुवंशिक परंपरा के नाम द्वारा प्रकट करते है। इससे उनका यह अभिप्राय है कि माता-पिता के गुण-दोष न केवल उनकी ही संतान में किंतु आगामी संततियों मे भी पहुँच सकते हैं। अतएव आनुवंशिक परंपरा के सिद्धांत द्वारा इन सब बातों का पूर्णतया समाधान करना आवश्यक है। माता-पिता के गुण तो संतान में अवश्य ही आने चाहिए, क्योंकि जैसा हम पहले देख चुके हैं। संतान माता-पिता दोनों के शरीर के अवयवों के मेल से बनती है। अतएव उनमें वह गुण आना तो स्वाभाविक ही है। किंतु वे गुण, जो पूर्वजों में उपस्थित थे, पौत्रों और प्रपौत्रों में क्योंकर आते हैं। ऐसी कौनसी वस्तु है जो इन गुणों को माता-पिता से बच्चों में ले जाती हैं? क्या शुक्राणु और डिंभ में कोई ऐसी वस्तु होती है जो उन गुणों को संतान के शरीरों मे ले जाती है? और फिर वे गुण भावी सतति में क्योंकर पहुँचते हैं?

पिछले समय के भ्रूणशास्त्रवेत्ताओं का विचार था कि उत्पादक बीजों (शुक्राणु और डिंभ) में पूर्ण व्यक्ति के अंगों की रचना अत्यंत सूक्ष्म स्वरूप में वर्तमान रहती है; शरीर का प्रत्येक अंग अत्यंत सूक्ष्म कणों के स्वरूप में उपस्थित रहता है। इन बीजों के गर्भाधान के पश्चात् वही पूर्ण सूक्ष्म अंग विकसित हो जाते हैं; उनकी वृद्धि हो जाती है अर्थात् सेल के स्वरूप से पूर्ण व्यक्ति के स्वरूप में आने में उन पूर्व सूक्ष्म अंगों का केवल विकास होता है। कुछ लोगों का यहाँ तक विचार था कि भावी अनेक सतति उत्पादक सेलों में सूक्ष्म बीजरूप में रहती हैं। कुछ समझते थे

कि यह सूक्ष्म रूप डिंभ मे रहते हैं, कुछ का विचार था कि शुक्राणु उनका वासस्थान है।

किंतु वैज्ञानिकों का दूसरा दल इसको नही मानता था। इस संप्रदाय के लोग कहते थे कि गर्भित डिंभ में किसी प्रकार की रचना नहीं होती। वह एक रचना-विहीन सेल है। उसमें उन लोगों को भावी शरीर के अंगों के कोई भी चिह्न नहीं दीखते थे।

इस कारण वह ऊपर के मत से सहमत नहीं थे और भ्रूण को एक रचना-रहित सेल मानते थे।

सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र द्वारा जहाँ तक पता लगता है कि डिंभ के सेल में किसी प्रकार की विशेष रचना नहीं पाई जाती, जिससे कहा जा सके कि अमुक रचना से सिर बनेगा और दूसरी रचना से टाँगें बनेंगी। वह केवल एक प्रोटोप्लाज्म का टुकडा दिखाई देता है, जिसके सब भाग समान हैं और जिनमें अन्य सेलों की भाँति एक केंद्र रहता है। इससे पहले मत के अनुयायियों के कथन को किसी प्रकार भी ठीक नही माना जा सकता। यह मत विकास मत कहलाता है और दूसरे को Epigenisis कहते हैं। यद्यपि विकास मत पूर्णतया अप्रमाणित सिद्ध हो चुका है, किंतु दोनों मत के अनुयायियों मे अब भी विवाद चलता रहता है। विकास मतानुयायी अपने मत मे कुछ परिवर्तन कर चुके हैं। उनका कहना है कि भ्रूण-सेल में यद्यपि कोई ऐसी विशिष्ट भिन्न रचनाएँ नहीं होतीं जो भिन्न-भिन्न अंगों को बनाएँ, किंतु उनमें अणुओं के भिन्न-भिन्न समूह रहते हैं जिनसे भिन्न-भिन्न अगों की रचना होती है। संभव है कि भिन्न-भिन्न अणुओं से ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो की रचना होती हो और भविष्य का वृद्धि-क्रम और संतान में गुण और दोष उत्पन्न करनेवाले ऐसे ही परिमाणुओं के समूह हों, जिन पर आगे बनानेवाले प्रासाद के

आकार इत्यादि निर्भर करते हों। इस सिद्धांत का समर्थन किन्हीं प्रयोगों द्वारा नहीं हुआ है, किंतु इस सिद्धांत के मान लेने से बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। इसी कारण बहुत से वैज्ञानिक इस मत को किसी न किसी रूप में मानते है। यह मान लेना कि इन सेलों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती, उचित नहीं मालूम होता। बहुत से जतुओं के उत्पादक सेल समान है, क्योंकि यंत्रों से देखने से उनमें कोई भिन्नता नहीं दीखती। तब फिर यह कैसे होता है कि एक उत्पादक सेल से मनुष्य बनता है तो दूसरे से बंदर या घोडा बनता है। इस कारण कुछ न कुछ भिन्नता तो अवश्य है। केवल हम अभी तक उसे मालूम नहीं कर सके हैं। इस कारण इस सिद्धात को मान लेने से कि उत्पादक सेलों में परमाणुओ के भिन्न-भिन्न समूह होते है, जिनसे भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं व गुण उत्पन्न होते है, यह कठिनता मिट जाती है।

वीज़मेन का सिद्धांत—माता-पिता के गुणों का सतान में आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस विषय पर जर्मनी के प्रोफेसर वीज़मेन (Wiesmain) ने बहुत कार्य किया है। और उनका सिद्धांत 'उत्पादक बीज की निरंतरता' (Continuity of Germplasm) नाम से प्रसिद्ध है। इनका मत है कि माता और पिता के गुण उत्पादक सेल में क्रोमोसोम के भीतर रहते है। यह क्रोमोसोम जाति के गुणों के वाहक हैं, जो उनको एक संतति से दूसरी और दूसरी संतति से तीसरी संतति में पहुँचाते है। हम पहले ही देख चुके हैं कि अणुसेल में माता और पिता दोनों के क्रोमोसोम उत्पादक सेलो से आते हैं। आधे क्रोमोसोम माता के और आधे पिता के होते है। यही क्रोमोसोम गुणों को माता-पिता से बच्चो मे ले जाते है। वीज़मेन मानता है कि इन क्रोमोसोमों मे

अत्यत सूक्ष्म कण होते हैं, जिन पर मनुष्य के शरीर का आकार, उसके अगो की रचना, उसके गुण इत्यादि निर्भर करते है। इन सारे कणों के समूह को उसने उत्पादक बीज (Germplasm) का नाम दिया है और प्रत्येक कण को वह निर्द्धारक (Detormmants) कहता है; क्योकि यह निश्चय करते है कि किस प्रकार उत्पत्ति होगी और कौन सी रचना कैसी होगी। यह महाशय यह मानते है कि उत्पादक बीज को बनानेवाले माता-पिता नही होते है, किंतु वह पूर्वजो से बराबर चला आता है। अर्थात् जिस उत्पादक सेल से बच्चा बना है वह उत्पादक सेल माता या पिता ने नहीं बनाया है किंतु वह उस उत्पादक सेल का एक भाग है, जिससे स्वयं माता या पिता बने थे। और उनको उत्पन्न करनेवाले उनके पूर्वजो के उत्पादक सेलो के कुछ भाग थे। वीजमेन का कहना है कि इसी कारण पूर्वजों के गुण बच्चो में आते हैं, क्योकि उनको उत्पन्न करनेवाला बीज अत्यंत प्राचीन पूर्वजों से चला आ रहा है।

जिस समय किसी डिंभ व शुक्राणु के उत्पादक बीज से कोई बच्चा बनना है तो उसके भिन्न-भिन्न भागों से भिन्न-भिन्न अंग बनते है। किंतु कुछ भाग ऐसा होता है जिससे भविष्य का उत्पादक बीज बनता है। अर्थात् बच्चे का उत्पादक बीज माता-पिता के उत्पादक बीज का एक भाग है। इस प्रकार यह बीज एक वंश से दूसरे वंश मे चला जाता है। इसका कही नाश नहीं होता। कहीं भी इसकी निरंतरता नहीं टूटती। जिस उत्पादक बीज ने पितामह व मातामह को बनाया है वही माता और पिता को भी बनाएगा। और उन्हीं से पुत्र या पुत्री भी उत्पन्न होंगे। यही बीज आगे की संततियों को भी उत्पन्न करने का काम करेगा।

वीज़मेन का कथन है कि "प्रत्येक उत्पत्ति में सारा उत्पादक

बीज शरीर बनाने के काम में नही आता ; माता-पिता का सारा बीज बच्चे के शरीर बनाने में खर्च नही होता। उसका एक भाग बिना किसी प्रकार परिवर्तित हुए उत्पादक बीज के रूप मे संतान में चला जाता है।"

प्रोफ़ेसर आर्थर टामसन इस सारे मत को उत्तम प्रकार से वर्णन करते है। वह कहते हैं कि "यदि किसी गर्भित डिंभ से जिसमे अ. क. ख. च. प. म. गुण वर्तमान है, किसी व्यक्ति की उत्पत्ति होती है तो उसमें यह अ. क. ख. च. प. म. सब गुण उत्पन्न होंगे। किंतु वह उत्पादक सेल जो आगे चलकर नई संतान उत्पन्न करेंगे पहले ही से अलग हो चुके है और उनमें अ. क. ख. च. प. म. सब गुण वर्तमान है। इस प्रकार नए व्यक्ति का जीवन भी उतनी ही 'पूँजी' से आरभ होता है।" प्रोफ़ेसर टामसन का कथन कुछ सीमा तक ठीक नही मालूम होता। उनका कहना कि बीज से उत्पन्न हुए व्यक्ति में अ. क. ख. च. प. म. सब गुण उपस्थित होंगे, सारी बात को स्पष्ट नही करता। चाहे सारे गुण उपस्थित हों, किंतु यह आवश्यक नही है कि सारे गुण उदय भी हों; अथवा सब गुणो का उस व्यक्ति में विकास हो। कुछ गुण उदय होंगे, कुछ दबे रहेंगे। यही कारण है कि यह देखने मे आता है कि कभी-कभी कई पीढ़ियों के पश्चात कुछ गुण उदय होते है। पितामह या उनसे भी पूर्व पुरुषों मे जो गुण थे वह बीच की दो या तीन पीढ़ियों में नही दिखाई देते। उसके पश्चात् वह फिर उदय होते हैं। इस कारण यह मानना पड़ता है कि यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादक बीज मे सम्मिलित सब गुण एक ही साथ उदय हो जायँ। कुछ गुण उदय हों और कुछ दबे रहें, यह असंभव नही है।

इस प्रकार उत्पादक बीज की परंपरा सदा बनी रहती है। कोई

व्यक्ति इस बीज को नहीं उत्पन्न करता। यह किसी व्यक्ति का बीज नहीं है, किंतु एक सम्पूर्ण वंश का बीज है, जो अत्यन्त प्राचीन समय से चला आ रहा है। इस सिद्धांत के अनुसार बच्चा माता या पिता से किसी प्रकार के गुण नहीं ग्रहण करता। उसके सारे गुण वंश के गुण हैं। उसमें पिता व माता की समानता का यह कारण है कि वह भी उसी बीज से बना है, जिससे उसके माता-पिता बने हैं।

किंतु प्रत्येक व्यक्ति मे दो स्थानों से बीज आता है। माता का बीज दूसरे वंश का और पिता का बीज दूसरे वंश का होता है। माता के डिंभ के बीज में माता के वंश के गुण उपस्थित होते हैं और पिता के बीज में पिता के वंश के गुण रहते हैं। जब यह दोनों बीज आपस में मिलते हैं तो उनसे उत्पन्न हुए व्यक्ति में दो प्रकार के गुण आते हैं। बच्चे के गुण दो भिन्न-भिन्न वंशों के गुणों का मिश्रण है। यही कारण है कि बच्चा न केवल माता ही का आकार व गुणों का अनुसरण करता है और न केवल पिता ही का। उसमें दोनों ही की समानता रहती है। यदि उसमें एक ही प्रकार का बीज होता तो उसके समस्त गुण भी केवल एक ही वंश के गुण होते। आधुनिक प्राणिविज्ञानवेत्ता मानते हैं कि डिंभ के प्रोटोप्लाज्म में कुछ आनुवंशिक मूल गुण अवश्य होते हैं, जैसे आकार की गोलाई, अंगों की रचना या उनका स्थान या शरीर की आकृति। ऐसा मानना विकासमत का एक परिवर्तित स्वरूप है। इस विचार के अनुसार डिंभ के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न अंगों की रचना के लिये उत्तरदायी हैं। इस संबंध में प्रोफ़ेसर विल्सन के किए हुए प्रयोगों से बहुत कुछ प्रकाश मिलता है।

प्रोफेसर विल्सन ने मोलस्क (Mollusc) जाति के जीवों पर कुछ प्रयोग किए हैं। इस जाति में तालाब में उत्पन्न होनेवाले

घोंघे इत्यादि है। इन्होंने देखा है कि यदि इन जंतुओं के अंडो का कुछ भाग काट दिया जाय तो शेष अंडे से जंतु की उत्पत्ति तो अवश्य होती है, किंतु उसके शरीर के अंग अपूर्ण रह जाते है। यदि गर्भित डिंभ के दोनों भागों को, जब उसमें भाग होना आरंभ होता है, किसी प्रकार पृथक् कर दिया जाय तो प्रत्येक भाग से जंतु के शरीर की उत्पत्ति होगी, किंतु वह दोनों अपूर्ण शरीर बनेंगे। दोनों में किसी न किसी अंग की कमी रहेगी। जब तक समस्त अंडा वृद्धि न करेगा तब तक पूर्ण जंतु नहीं बनेगा। इससे मालूम होता है कि सेल के भिन्न भिन्न भागों में कुछ ऐसी वस्तुएँ उपस्थित है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भाग बनाती हैं। जब किसी विशेष अंग की रचना करनेवाला भाग कट जाता है तो वह अंग नहीं बनता।

इस प्रकार वीजमैन के अनुसार वंश के उत्पादक बीजो से बच्चे का शरीर बनता है। इस बीज के द्वारा बच्चे में दोनो ओर के गुणों के निर्द्धारक पहुँचते है। इनमें सब प्रकार के निर्द्धारक होते है। हाथ, नेत्र, नख, दाँत, बाल, चर्म का वर्ण, अस्थि इत्यादि सबों को उत्पन्न करनेवाले निर्द्धारक दोनों ओर से बच्चे को बनानेवाले बीज में आते है। अतएव इन दोनों बीजों के समान निर्द्धारकों में अवश्य ही स्पर्द्धा होती होगी, जिससे या तो दोनों में जो बलवान् है वह अपना प्रभाव डालता होगा, अथवा दोनों मिल जाते होंगे, दोनों एक दूसरे का नाश करते होंगे, अथवा दोनो के संयोग से नए गुण उत्पन्न होंगे। हम साधारणतया यह देखते हैं कि बच्चों में कुछ माता और पिता के गुण होते हैं; उसके गुण माता-पिता के गुणों का मिश्रित फल होते है। ऐसा कभी देखने में नहीं आता कि बच्चे में केवल माता ही के गुण हों अथवा सब गुण पिता ही के हों या सारे गुण दोनों के गुणों का मिश्रण हों।

हम पहले मान चुके हैं कि जो बीज बच्चों को उत्पन्न करता है वह सारे वंश का होता है, किसी एक व्यक्ति का नहीं होता। अतएव किसी एक व्यक्ति में सारे गुण वंश ही के होने चाहिए। अर्थात् एक बच्चे में जो गुण देखे जाते हैं वह न केवल उसके माता व पिता ही के हैं, किंतु उसके अनंत पूर्वजों के गुण भी इसमें उपस्थित हैं। इस बात को मालूम करने के लिये कि कौन से पूर्वज के कितने गुण बच्चे में आते हैं, प्रोफ़ेसर गैल्टन ने कुत्तों पर अनेक प्रयोग किए और उनके परिणाम के अनुसार सन् १८९७ में एक सिद्धांत बनाया जिसको Law of Ancestral Heredity का नाम दिया गया। वह यह है—

"माता-पिता दोनों मिलकर बच्चे को आधे गुण देते हैं, अर्थात् उनमें से प्रत्येक १/४ गुण प्रदान करता है। बच्चे के १/४ गुण बाबा, दादी और नाना, नानी मिलकर उत्पन्न करते हैं। उनमें प्रत्येक जन १/१६ गुण प्रदान करता है। इसी प्रकार इनसे ऊपर की पीढ़ी के पूर्वजों से १/८ गुण आते हैं। उनसे ऊपर की पीढ़ीवालों से १/१६ गुण आते हैं। इसी प्रकार क्रम चलता है। सब गुण मिलकर १/२ + १/४ + १/८ + १/१६ . . १ के बराबर हो जाते हैं। गैल्टन का कथन है कि जिस प्रकार उत्पादक सेलों में भाग होता है और जिस प्रकार उनसे कुछ भाग निकल जाते हैं और बच्चों को उत्पन्न करनेवाले सेल बनते हैं या बच्चे की उत्पत्ति आरंभ होती है उसको देखते हुए यह नियम बिलकुल ठीक है। कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने भी इसी विषय पर दूसरी प्रकार से अनुसंधान किया है। उसके परिणाम गैल्टन के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलते हैं। यह अवश्य है कि माता-पिता या पूर्वजों के गुण किसी विशेष नियम के अनुसार बच्चे में आते हैं; किंतु ठीक प्रकार से कह देना

कि उनको अमुक संख्या एक स्थान से आती है और दूसरी संख्या दूसरे स्थान से आती है, असंभव है।

प्राणियों में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं; एक तो वंशानुगत (Inherited) और दूसरे लब्ध (Acquired) गुण होते हैं, जो कार्य की विशेषता या कार्याभाव के कारण विशेष व्यक्ति में उद्भूत होते हैं। यह वंशानुगत गुणों से भिन्न होते हैं, क्योंकि वह स्वयं व्यक्ति ही के जीवन मे उत्पन्न होते हैं। प्रश्न यह है कि जो ऐसे गुण होते हैं, वह पिता से पुत्र को प्राप्त होते हैं या नहीं। वंशानुगत परंपरा के जितने भी सिद्धांत हैं, वह इन दोनों प्रकार के गुणों में भिन्नता करते हैं। कुछ मतों के अनुसार लब्ध गुण संतति में उद्भूत होते हैं, किंतु अधिक विद्वानों का मत है कि गुण संतत में नहीं उत्पन्न हो

लेमार्क का मत—कुछ समय हुआ जब सब वैज्ञानिकों का मत इसके पक्ष में था। वह मानते थे कि लब्ध गुण संतति को प्राप्त होते है। लेमार्क (Lmark) इस पक्ष का निर्माता था। लेमार्क का कहना है कि "व्यक्ति की रचना में जो भी परिवर्तन हुए है अथवा जो गुण उसने स्वय प्राप्त किए है, वह संतति द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। परिवर्तन-युक्त व्यक्ति से जो संतान उत्पन्न होती है, उसमें वह सब परिवर्तन उपस्थित होते हैं, जो माता व पिता ने किसी प्रकार अपने शरीर में उत्पन्न किए हैं।" इस प्रकार बहुत सी विचित्रताओं की व्याख्या हो सकती है। ज़िराफ़ (Gariffe) की लंबी गर्दन इस प्रकार सहज में समझी जा सकती है। वृक्ष की पत्तियों को खाने के लिये यह जंतु गर्दन ऊपर को बढ़ाते रहे। धीरे-धीरे इनकी गर्दन लंबी होने लगी। जिन पशुओं की दो-एक इंच लंबी गर्दन हो गई, उनसे जो संतान

उत्पन्न हुई, उसको वह गर्दन की लंबाई पूर्व ही प्राप्त हो गई। इस नवीन संतति ने यह गर्दन को लबी करने का उद्योग जारी रखा, जिससे उनकी गर्दन कुछ और लबी हुई। इनसे जो संतान हुई उसकी गर्दन पहली संतति की गर्दन से अधिक लबी थी। इसी प्रकार कुछ संततियों के पश्चात् जिराफ की गर्दन वर्त्तमान दशा में आ गई। हरिन की तेज़ी से भागने की शक्ति का आविर्भाव भी इसी पकार हुआ। अपने वैरियो से अपनी रक्षा करने के लिये यह पशु तेज़ी से दौड़ने का उद्योग करते रहे और जो शक्ति इससे उनको प्राप्त होती रही, उसको बराबर उनकी संतान ग्रहण करती रही। इस प्रकार कुछ समय के पश्चात् इन पशुओं में इतना तेज़ दौड़ने की शक्ति आ गई। साँपों के शरीर के लंबा होने के विषय में लेमार्क का कहना है कि 'सर्प उन सरकने-वाले जतुओ (Reptiles) से, जैसे छिपकली, गिरगिट इत्यादि, जिनके चार टाँगे थीं, उत्पन्न हुए ह। किंतु यह पशु सदा पृथ्वी पर रेंगने का उद्योग करते रहे। उनको छोटे-छोटे तग स्थानों में होकर निकलने, झाडियों के नीचे छिपने इत्यादि की आदत पड गई। इस प्रकार यह पशु सदा अपने शरीर को लबा करने का उद्योग करते रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके शरीर अत्यत लबे हो गए। यदि इनकी टाँगे बहुत लबी होतीं तो वे उनका अभि-प्राय पूरा नहीं कर सकती थीं। और छोटी टाँगों से उनके चलने में बाधा पड़ती। इससे इन जंतुओं में पाँवों और टाँगो का कार्य ही जाता रहा। इस कारण इन जतुओं में यह अंग भी बिलकुल जाते रहे, यद्यपि प्रथम वे इनके शारीरिक रचना के भाग थे।"

उस समय के वैज्ञानिक लोग इस मत से सहमत थे। डारविन और स्पेंसर ने लेमार्क के इस मत को मान लिया था। लब्ध गुणों

के संतति में उद्भूत होने को वह लोग मानते थे और विकास की व्याख्या करने में उसकी सहायता लेते थे। किंतु आजकल के विद्वानों की सम्मति इस मत के बिलकुल विरुद्ध है, वह इसकी सत्यता में तनिक भी विश्वास नहीं करते। लेमार्क के मत की परीक्षा करने के लिये अनेक प्रयोग किए गए हैं। उनके परिणामों से इस मत का तनिक भी समर्थन नहीं होता। बहुत से चूहों की पूँछों को कई सौ पीढ़ी तक काटा गया। किंतु फिर भी जो नए चूहे उत्पन्न हुए, उनके पूँछे वर्त्तमान थीं। चीन में यह एक प्रथा है कि वहाँ की स्त्रियों को बहुत छोटे-छोटे जूते पहनाए जाते हैं। जब कन्या उत्पन्न होती है तभी उसके पाँव मे एक कड़ा जूता पहना देते है, जिससे उसका पाँव न बढ़ने पावे। वहाँ छोटे-छोटे पाँवों को सौंदर्य समझा जाता है। कई सौ शताब्दियो तक यह प्रथा निरंतर जारी रहने पर भी आज चीन में जो कन्याएँ उत्पन्न होती है, उनके पाँव जन्म के समय छोटे नहीं होते। मुसलमानों में बचपन ही में सुन्नत करा देने की प्रथा जारी है और अनेक शताब्दियों से यह किया जा रहा है, किंतु उनमें ऐसा कोई बच्चा नहीं उत्पन्न होता जिसके शिश्न पर अग्रचर्म न हो।

वीज़मेन के सिद्धांत के अनुसार लब्ध संस्कार संतति में उद्भूत नहीं हो सकते; क्योंकि उत्पादक बीज का व्यक्ति से कोई संबंध ही नहीं है। वह वंशानुवंश से चला आ रहा है। व्यक्ति किसी प्रकार भी उसको बनाने में भाग नहीं लेता। हम देखते है कि लोहार के बाहु की पेशियाँ सदा घन चलाने से दृढ़ हो जाती हैं, किंतु उसका बच्चा साधारण पेशियों के साथ जन्म लेता है। क्योंकि बाहु की पेशियों को दृढ़ करनेवाले निर्द्धारक उत्पादक बीज में सम्मिलित नहीं हैं। उत्पादक बीज शरीर को उत्पन्न करनेवाला

है, न कि शरीर बीज को। इसी प्रकार जिराफ स्वयं अपनी गर्दन चाहे जितनी लंबी कर ले, किंतु इस कारण से कि पिता की गर्दन लंबी थी, पुत्र की गर्दन लंबी नहीं हो सकती। पिता और पुत्र को बनानेवाला उत्पादक बीज इन दोनो के उत्पन्न होने के पूर्व बन चुका था और उसमें इन व्यक्तियों के संस्कारों के कोई निद्धारक नहीं थे।

इस प्रकार लब्ध संस्कार एक संतति से दूसरी संतति को नही प्राप्त होते; किंतु लब्ध संस्कार का शब्द बडी गडबडी में डालनेवाला है। एक प्रकार से मनुष्य में जितने संस्कार हैं, वे लब्ध है। खडे होना, बोलना, चलना, मांसपेशियों की वृद्धि, वृद्ध अवस्था में सिर के बालों का उड जाना, वृद्धावस्था का आना, दूध के दाँतों का गिरना, ये सब लब्ध संस्कार है। किंतु यह कभी ध्यान में भी नहीं आ सकता कि कोई ऐसा बच्चा भी होगा, जिसमें ये शक्तियाँ न हों। समय पर दूध के दाँत अवश्य ही गिरते है, वृद्धावस्था अवश्य आती है, सिर के बाल अवश्य ही पकते हैं। ये शक्तियाँ शरीर की स्वाभाविक संकलित शक्तियाँ मालूम होती है। किंतु खडे होना, चलना, दौडना इत्यादि बातें बच्चे को सीखनी पडती है। उसको जन्म से उनका कुछ ज्ञान नही होता और बिना शिक्षा दिए हुए वह सीख भी नही सकता। किंतु वास्तव में प्रश्न यह है कि वह गुण या संस्कार जो पिता या माता ने अपने जीवन में अपने उद्योग से प्राप्त किए हैं, वे बच्चों में जा सकते है या नही। वैज्ञानिक लोग इस प्रश्न का उत्तर एकदम "नही" देते हैं। माता-पिता चाहे जन्म भर जल में तैरते रहें, किंतु बच्चे को तैरना अवश्य ही सीखना पड़ेगा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चाहे हम लोग धोती पहनते रहें, किंतु बच्चे को बिना सिखाए हुए धोती पहनना नही आएगा।

इस प्रकार बच्चे के गुण और संस्कार उन उत्पादक बीज और निर्द्धारकों पर निर्भर करते है, जो उसको माता-पिता से मिलते है। बच्चे में संस्कार निर्द्धारकों के स्वरूप मे पहुँचते हैं, जिस प्रकार वे माता-पिता के शरीर मे पहुँचे थे। उनमें घटा-बढ़ी करने की माता-पिता को शक्ति नही है, क्योंकि वे उनसे कही पुराने है।

इस सिद्धांत के अनुसार संस्कारों को उत्पन्न करनेवाला उत्पादक बीज है और यह उत्पादक बीज सहस्रों पूर्व संततियों से चला आ रहा है, क्योंकि व्यक्ति इसके बनाने व परिवर्त्तन करने में किसी प्रकार का भाग ही नही लेता। तब तो यह बीज उस समय का होना चाहिए, जब मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव हुआ था। उसी आदिम पुरुष का बीज आज प्रत्येक मनुष्य के शरीर में है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य में संस्कार या गुण भी वही है, जो उस आदिम पुरुष में थे।

न केवल यही, किंतु यह आदिम मनुष्य विकास का फल था। जीवन के सूक्ष्म स्वरूपो मे परिवर्त्तन होते-होते असंख्य प्राणियों के पश्चात् मनुष्य का आविर्भाव हुआ था। इससे यह परिणाम निकलता है कि इस मनुष्य में जो बीज था, वह उस आदिम जीव का था, जिसके विकास से मनुष्य बना है। इस प्रकार मनुष्य में सिवाय पशु-सस्कारों के कोई भी उच्च संस्कार नही माने जा सकते। इस सिद्धांत के अनुसार माता-पिता से मनुष्य जो कुछ ग्रहण करता है, वह केवल शरीर की रचना और पाशविक सस्कार। हम साधारण अनुभव से यह जानते है कि बच्चे में पशुओं से अधिक कुछ उच्च संस्कार रहते हैं। किसी बच्चे मे नीच सस्कार होते हैं। बचपन ही से कोई बच्चे दुष्ट होते है और कोई सज्जन। यह संस्कार अवश्य ही उनको माता-पिता से या उनके पूर्वजों से मिलते है, जिन्होने उन गुणों को ग्राह्य किया था। इस उत्पादक बीज के अनुसार किसी बच्चे

में सिवाय पाशविक संस्कारों के और किसी प्रकार के संस्कार ही नहीं होने चाहिए। किंतु हमारा साधारण अनुभव हमको यह बताता है कि बच्चे कुछ संस्कारों को लिए हुए संसार में जन्म लेते हैं और उन्हीं संस्कारो के अनुसार वे दुष्ट या सज्जन होते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार भोजन इत्यादि का उत्पादक बीज पर प्रभाव पड़ता है। शरीर का स्वास्थ्य उत्तम रहने से वह भी उत्तम दशा में रहता है। अन्य जीवित पदार्थों की भाँति उसको भी भोजन औ वायु या जल की आवश्यकता होती है। कुछ रोग और विष उसको हानि पहुँचाते हैं। किंतु और किसी प्रकार से बीज पर प्रभाव नहीं पड़ सकता।

मेंडल का सिद्धान्त—गत शताब्दी में इस विषय पर मेंडल ने बहुत कार्य किया है। ग्रेगर जोहन मेंडल (Grugor Johaun Mendel) आस्ट्रिया का रहनेवाला था और एक गिरजे का पादरी था। वहीं पर अपने पुष्पोद्यान में उसने भाँति-भाँति के फूलोंदार वृक्षों पर प्रयोग किए हैं। उसके प्रयोग विशेषकर मटर के ऊपर हुए हैं। भाँति-भाँति के मटर के वृक्षों को, कोई छोटे कद के, कोई लंबे कद के, हरे फूलवाले, पीले फूलवाले इत्यादि से उसने नए पौदे उत्पन्न किए और उन्हीं के परिणाम से एक सिद्धांत बनाया, जिसको Mendalism कहा जाता है।

उसने ऐसे पौदों का संयोग कराया, जो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थे। यदि एक लंबा था, तो दूसरा नाटा था। एक में यदि पीला फूल आता था, तो दूसरे का फूल हरा होता था। इनके संयोग से जो पौदे उत्पन्न हुए, उनमें मेंडल ने देखा कि वह एक ही भाँति के हैं। सब लंबे ही हैं व सब नाटे ही हैं। इस प्रकार एक संस्कार तो उनमें स्पष्ट है, किंतु दूसरा बिलकुल ही नदारद है।

इससे उसने एक संस्कार को प्रधान माना और दूसरे को गौण। जो संस्कार स्पष्ट हो जाता है, वह प्रधान है और दूसरा जो स्पष्ट नही होता है, वह गौण। यहाँ उसने देखा कि जब लंबे और नाटे पौदों का उसने संयोग कराया, तो उससे केवल लबे ही पौदे उत्पन्न हुए। यहाँ पर लबा होने का प्रधान संस्कार है और नाटापन गौण संस्कार है।

लबे और नाटे पौदों के सयोग से जो लंबे पौदे उत्पन्न हुए, उसने उनका आपस में फिर संयोग कराया। इस बार जो पौदे उत्पन्न हुए, उनमें प्रत्येक चार में एक पौदे मे गौण संस्कार स्पष्ट हो गया। वह स्वयं लिखता है कि "इस प्रथम संतति के पौदों का आपस मे जब संयोग कराया गया, तो उससे दोनों प्रकार के पौदे उत्पन्न हुए। किंतु प्रत्येक चार में तीन तो लबे और एक नाटा था, जिसमें प्राचीन नाटे पौदे की सब विशेषताएँ उपस्थित थीं। इस प्रकार प्रत्येक तीन प्रधान संस्कारों के पश्चात् एक गौण सस्कार स्पष्ट हो जाता था। जितने भी पौदे उत्पन्न हुए, वे सब इसी भाँति के थे। किसी भी प्रयोग में इन दोनों के अतिरिक्त किसी प्रकार का पौदा नही उत्पन्न हुआ।"

इस बात का ठीक प्रकार से निश्चय करके मेंडल ने फिर इस संतति के पौदों का आपस में संयोग करवाया। उसने देखा कि गौण संस्कारवाले पौदों से केवल उसी प्रकार के पौदे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यदि गौण संस्कारवाले पौदों का रंग हरा है, तो उससे केवल हरे ही रंग के पौदे उत्पन्न होते हैं। शेष प्रधान संस्कार-वालों में से एक चौथाई पौदे केवल प्रधान रंग व संस्कार के पौदे उत्पन्न करते है। शेष ५०% पौदे उसी प्रकार के पौदे उत्पन्न करते हैं, जैसे कि प्रथम संतति ने उत्पन्न किए थे, अर्थात् प्रत्येक

चार मे एक गौण संस्कारवाला, और तीन प्रधान संस्कारवाले, जिनमें दो के संस्कार पूर्णतया शुद्ध नहीं थे, अर्थात् दूसरे संस्कार का उनमें कुछ छींटा था। इस प्रकार प्रथम संतति के सब पौदे प्रधान संस्कारवाले (मान लिया जाय कि वह पीला रंग है) हुए। इनसे जो पौदे उत्पन्न हुए, उनमें तीन पीले रंग के और एक हरे रंग का (जो गौण रंग है) हुआ। इनका जब संयोग कराया गया, तो हरे रंग के पौदों से केवल हरे पौदे उत्पन्न हुए। शेष तीन पीले पौदों से एक पूर्णतया पीले रंग का हुआ और दो ऐसे हुए, जिनमें प्रधान संस्कार पीला रंग था, किन्तु हरे रंग से वह अशुद्ध हो गए थे। इन अशुद्ध पौदों का जब फिर संयोग कराया गया, तो उनसे पहले ही के समान परिणाम हुआ, अर्थात् एक पूर्ण हरा, एक पूर्ण पीला और दो अशुद्ध पीले पौदे हुए। निम्न-लिखित सारिणी से यह स्पष्ट हो जायगा।
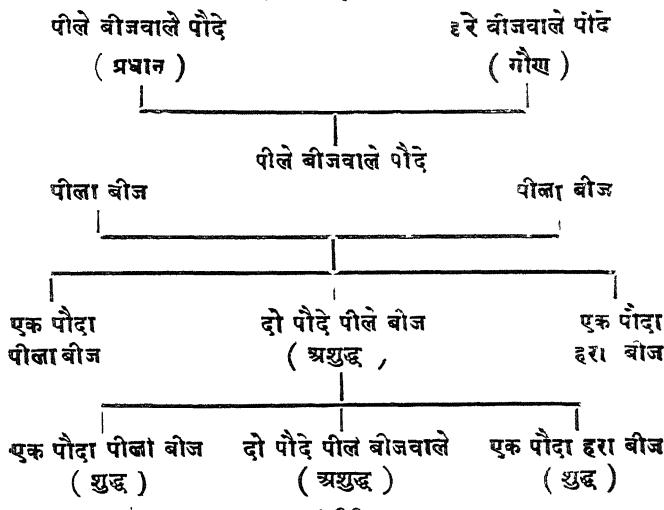
इस बात का अनुसंधान करके मेंडल ने इससे अधिक गूढ़ प्रश्नों को लिया। उसने ऐसे मटर के पौदों को लिया, जिनमें दो-दो विरुद्ध संस्कार थे। एक पौदे के बीज गोल और पीले थे, दूसरे पौदे के बीज हरे और सिलवटदार थे। इन पौदो के संयोग से जो नए पौदे बने, उनमे सब प्रकार के पौदे थे उनसे गोल और पीले रंग की मटर, गोल और हरे रंग की मटर, सिलवटदार हरे रंग की मटर और सिलवटदार पीले रंग की मटर उत्पन्न हुई। किन्तु यहाँ भी इन भिन्न-भिन्न प्रकार की मटरों की संख्या में एक विशेष निष्पत्ति थी।

इन प्रयोगो के परिणामों द्वारा मेंडल ने सिद्धान्त बनाना आरम्भ किया, जिसकी सहायता से वह इन सब घटनाओं का समाधान कर सके और बता सके कि ऐसा क्यों होता है। उसके विचार में इन भिन्न-भिन्न संस्कारों के निर्धारक उत्पादक सेलों में ही रहते है। किन्तु विरुद्ध संस्कारों के निर्धारक एक सेल में नहीं रहते। उसके विचारानुसार यह विरुद्ध संस्कारों के निर्धारक सदा जोड़ों में रहते है। अर्थात् यह जोड़े भिन्न सेलों में रहते हैं। वह यह भी मानता है कि विरुद्ध संस्कारों के निर्धारकों के जोडे सदा समान सख्या में रहते हैं। इससे वह मानता है कि पुरुष और स्त्री सेलों के मिलने से बच्चों की उत्पत्ति उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार उसने बताई है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के लिये मटर को फिर लेते हैं। मटर के बीज में अथवा उत्पादक सेल में पीला निर्धारक होगा अथवा हरा निर्धारक होगा, दोनों नहीं होंगे। पुरुष-उत्पादक सेल और स्त्री-उत्पादक सेलों में भी इसी प्रकार का प्रबन्ध होगा। यह निर्धारक दोनों में भिन्न-भिन्न होंगे और एक सेल में एक ही प्रकार के निर्धारक होंगे। अब यदि

दोनों सेलों का समागम होगा, तो दोनों भाँति के सेलों के संयोग का बराबर अवसर रहेगा; क्योकि निर्द्धारको की संख्या बराबर है। इससे पुरुष सेल का पीला निर्द्धारक एक बार स्त्री-सेल के पीले निर्द्धारक से मिलेगा और दूसरी बार हरे निर्द्धारक से मिलेगा। इस प्रकार एक पूर्ण पीला और एक पीला-हरा (अशुद्ध) मटर का बीज बनेगा। इसी प्रकार हरा निर्द्धारक एक पूर्ण और एक हरा-पीला बीज बनाएगा। यहीं मेंडल के सिद्धांत का सार है।

यहाँ पर जाति का प्रश्न उठता है। क्या जाति का निर्णय भी मेंडल के सिद्धान्त के अनुसार होता है। सम्भव है कि स्त्री के उत्पादक सेल में दोनो स्त्री और पुरुष निर्द्धारक हों और पुरुष के उत्पादक सेल में केवल पुरुष निर्द्धारक हों, जिससे स्त्री-संस्कार प्रधान हो जायगा। ऐसा होने से मेंडल के अनुसार स्त्री के आधे सेलो में पुरुष निर्द्धारक होगे और आधे सेलो मे स्त्री निर्द्धारक होगे। इससे जब पुरुष के पुरुष निर्धारक स्त्री के उन सेलों से मिलेगे, जिनमें पुरुष निर्द्धारक हैं, तो पुत्र उत्पन्न होगा। जब पुरुष के पुरुष - सेल स्त्री के स्त्री-निर्द्धारकवाले सेलों से मिलेंगे, तो कन्या होगी; क्योंकि स्त्री-संस्कार प्रधान है।

यह केवल एक कल्पना है। मेंडल का सिद्धांत वंशानुगत परंपरा के संबध मे अन्य सब सिद्धांतो की अपेक्षा उत्तम है। परीक्षाओं में वह ठीक उतरता है।

वृद्धि, वृद्धावस्था और मृत्यु

जीवन और मृत्यु दोनो शब्दो का रात-दिन की भाँति जोड़ा है। जिसका संसार में जन्म होता है, जो जन्म धारण करता है, उसका कुछ समय के पश्चात् अंत भी होता है। संसार के मंच पर कुछ समय तक अभिनव खेलकर प्रत्येक प्राणी इस मंच को त्याग देता है। उसका भौतिक शरीर जिस प्रकृति से बना था, उसी में फिर मिल जाता है। इसी का नाम मृत्यु है। मृत्यु और जीवन का अभिन्न जोड़ा है। जीवन व जन्म का नाम लेते ही मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। कोई यह नहीं सोच सकता कि वह इस संसार में सदा रहेगा और मृत्यु नामक घटना, जो प्रत्येक प्राणी के अभिनव को समाप्त कर देती है, उस पर कभी न घटेगी। प्रत्येक जन जानता है और मानता है कि उसको मरना एक दिन अवश्य ही है।

किंतु मृत्यु क्या है। विज्ञान के नेत्रों से देखने में वह एक स्वाभाविक साधारण घटना है जिस प्रकार संसार में रात-दिन और घटनाएँ घटा करती है, उसी प्रकार यह मृत्यु की घटना भी घटती है। सहस्रों यत्र अपना काम करने के पश्चात् जीर्ण-शीर्ण

हो जाते हैं। किसी यंत्र में कुछ अधिक दिन काम करने की शक्ति होती है, कोई कम समय तक ही काम कर सकता है। जितना उत्तम और सूक्ष्म काम करनेवाला यंत्र होगा और जितनी उसकी रचना अधिक गूढ़ होगी उतना ही उसका जीवन छोटा होगा। कुछ समय के पश्चात् इस यंत्र के कल-पुर्जे घिस जाते हैं और वह बेकाम हो जाता है। प्रत्येक फ़ैक्टरी के गोदाम में कितने इस प्रकार के इंजिन के यंत्र पड़े हुए दिखाई देते हैं। प्रत्येक बड़े-बड़े स्टेशन पर जहाँ इंजिनों की मरम्मत होती है, ऐसे ख़ारिज व्यर्थ हुए इंजिन पड़े दिखाई देंगे। इसी प्रकार यह शारीरिक यंत्र जब काम करते-करते घिस जाता है और उसमें अधिक काम करने की शक्ति नहीं रहती, तो वह संसार से ख़ारिज हो जाता है। जिस समय इस यंत्र के पुर्जे बिलकुल थक जाते हैं, और अपने कर्म को करने में असमर्थ होने के कारण शिथिल पड़ जाते हैं, तो इस यंत्र के कार्यमय जीवन की समाप्ति हो जाती है। हृदय में जब रक्त भेजने की शक्ति न रही, फुस्फुस में रक्त को शुद्ध करने की शक्ति न रही, मस्तिष्क में विचारने की शक्ति न रही और पाचन-प्रणाली में इस यंत्र को पोषण करने की शक्ति न रही, तो यह यंत्र अपना काम बंद करके बिलकुल शिथिल हो जाता है। इसी का नाम मृत्यु है।

किसी व्यक्ति की मृत्यु से संसार को क्या हानि होती है। जिन पदार्थों से उसका शरीर बना था, वह संसार में ही रह जाते हैं।

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पञ्चरचित यह अधम शरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा॥

शरीर के विश्लेषण से प्रत्येक रासायनिक मौलिक पदार्थ उससे पृथक् होकर अपने पूर्व रूप में आ जाता है। शरीर में जो जल का

भाग था, वह वाष्प बनकर वायु में मिल जाता है। सारा खनिज भाग पृथवी में मिल जाता है। उस मनुष्य के द्वारा जो संसार के लिये कर्म होता था वह किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा होने लगता है। सांसारिक कर्म तो सदा हुआ ही करते है। किसी व्यक्ति के आने-जाने से संसार की गति नहीं रुका करती है। सहस्त्रों लोग आते है और चले जाते है किंतु संसार का क्रम यों ही पूर्ववत् चला जा रहा है।

मृतक व्यक्ति के लिये वही लोग रोते हैं, जिनको उसकी मृत्यु से हानि होती है। और जितनी हानि अधिक होती है उतना ही उसके लिये शोक भी अधिक होता है। जिस व्यक्ति से किसी को कुछ लाभ नहीं पहुँचता, उसको रोनेवाले भी नही होते। कितने मनुष्य रात-दिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जिनके परिवार, कुटुंब, मित्र इत्यादि कोई भी नही होते। उनके लिये दो अश्रु टपकानेवाला भी कोई नही होता। जिनके बहुत बड़ा कुटुंब होता है, जो अनेक प्राणियों का पालन-पोषण करते है और दूसरों को जिनसे लाभ होता है उनके लिये अधिक लोग शोक करते है। शोक केवल उपयोगिता पर निर्भर है।

किंतु क्या मृत्यु अवश्यंभावी है? क्या प्रत्येक मनुष्य को मरना अवश्य ही है? अभी तक तो संसार में कोई ऐसा प्राणी नही देखा गया जो इस घटना से बचा हो। कोई थोड़े समय के पश्चात्, कोई अधिक काल के पश्चात् इस घटना के चंगुल में अवश्य फँसा है। हम देखते हैं कि परिश्रम के पश्चात् विश्राम का नियम न केवल जीवित संसार ही के लिये, किंतु प्राणरहित वस्तुओं के लिये भी आवश्यक है। वह भी कुछ काल के पश्चात् अपना कर्म करना छोड़ देती है, तो फिर हम सजीव वस्तुओं से किस प्रकार आशा कर सकते हैं कि वह इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन कर सकेगी।

इस शरीर को भी अपना कर्म करने के पश्चात् अवश्य ही अपनी अवस्था का परिवर्तन करना होता है। इस अवस्था के परिवर्तन का ही नाम मृत्यु है। विज्ञान इस विषय में क्या कहता है, यह आगे चलकर हम विचार करेंगे; किन्तु यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है। कार्य काल के पश्चात् जीर्ण-शीर्ण अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था में आना अनिवार्य है।

वृद्धि—मनुष्य के जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं। कवियों ने तो सात अवस्थाएँ तक मानी हैं। सम्भव है, उनमें कुछ वैज्ञानिक सत्य भी हों; किन्तु साधारणतया तीन अवस्थाएँ मानी जाती है। जन्म से लेकर युवा होने तक प्रथम अवस्था होती है। इसके पश्चात् युवावस्था आरम्भ होती है, जो वृद्धावस्था के पदार्पण के समय तक रहती है। उसके पश्चात् वृद्धावस्था इस शरीर का जीर्ण काल होता है और उसके साथ शरीर का भी अन्त हो जाता है। प्रथमावस्था में शरीर की वृद्धि होती है। दूसरी अवस्था में शरीर की सब शक्तियाँ अपने पूर्ण विकास पर होती हैं। तीसरी अवस्था में ये शक्तियाँ ढलने लगती है। यह शरीर का जीर्ण काल है।

साधारणतया यह विचार फैला हुआ है कि जन्म के पश्चात् युवाकाल के आरम्भ होने तक शरीर की तेज़ी से वृद्धि होती है। वास्तव में यह विचार बिलकुल असत्य है। इस विषय में बहुत से अन्वेषण हो चुके हैं और उनसे यह परिणाम निकला है कि जन्म के पश्चात् वृद्धि की गति वृद्धावस्था के अन्त तक बराबर कम होती जाती है। यद्यपि यह वृद्धि की कमी जीवन-पर्यन्त एक समान गति से नहीं होती; किन्तु तो भी कम अवश्य हो जाती है। जितनी अधिक वृद्धि गर्भावस्था में होती है उतनी जन्म के पश्चात् नहीं होती। जन्म लेने पर प्रथम वर्ष में जितनी वृद्धि होती है उतनी दूसरे वर्ष

में नहीं होती। दूसरे वर्ष से तीसरे वर्ष मे कम वृद्धि होती है। इसी प्रकार प्रतिवर्ष वृद्धि की कमी होती चली जाती है। वृद्धावस्था मे यह कमी बहुत अधिक हो जाती है। यहाँ तक कि वृद्धि बिलकुल ही बन्द हो जाती है और शरीर का भार घटने लगता है।

अन्वेषण से यह मालूम हुआ है कि जब बच्चा उत्पन्न होता है, तो उसका भार ३½ सेर होता है। प्रथम वर्ष के अन्त मे उसका शरीर-भार ९¼ सेर होता है, अर्थात् ५¾ सेर बढता है। दूसरे वर्ष के अन्त में उसका भार ११½ सेर हो जाता है। अर्थात् दूसरे वर्ष २¼ सेर बढ़ता है। इस प्रकार प्रथम वर्ष की अपेक्षा उसका भार ३½ सेर कम बढता है। मिस्टर जैक्सन ने गर्भावस्था में बच्चे के भार का पता लगाया है और उन्होंने अंको को प्रकाशित भी किया है। उनका कहना है कि सबसे अधिक वृद्धि गर्भ के पहले मास मे होती है। इस समय मे बच्चे में १०,००० गुणा वृद्धि होती है। इसके पश्चात् के महीनों मे वृद्धि कम हो जाती है। महाशय फ्री उन्थाल ने निम्न लिखित अंक लिखे है—

आयु दिनो मे	शरीर-भार (ग्राम मे)	प्रतिदिन की वृद्धि	प्रतिदिन की प्रतिशतवृद्धि
०	०'००००४	—	—
८	०'०३	० ००३७	९०'०००
१७	० ८९	०'००९२	३०७
२०	१'४	० १८	१६
२६	२ ०	०'१	६
३५	२ ९	०'१	४'५
४०	१९'०	३'२	२९
६०	२२०'०	१०'०	८'५
१००	८००'०	१४'५	३'०

आयु दिनो मे	शरीर-भार (ग्राम मे)	प्रतिदिन की वृद्धि	प्रतिदिन की प्रतिशतवृद्धि
१२०	१२००.०	२०.०	२.०
१६६	२८००.०	२१.०	१.१
२५०	३८००.०	१६.०	०.६
२८०	४५००.०	२३ ०	०.५

यह अंक अत्यंत सावधानी के साथ प्राप्त किए गए हैं और अन्वेषणकर्ताओं द्वारा ये अंक प्राप्त हुए है। इनसे स्पष्ट है कि वृद्धि की निष्पत्ति प्रथम मास से आगे बराबर कम होती जाती है, यद्यपि संपूर्ण वृद्धि अधिक हो जाती है।

बोडविच के अन्वेषणों से यह पता लगता है कि लड़को की अपेक्षा युवावस्था के समीप पहुँचकर लड़कियो में वृद्धि अधिक तेज़ी से होती है। इससे उनमे लडको की अपेक्षा युवावस्था शीघ्र आ जाती है। बारह और पद्रह वर्ष की आयु के बीच मे लडकियो के शरीर की भार लड़को से अधिक हो जाता है। इसके पश्चात् फिर लडको मे अधिक वृद्धि होने लगती है और उनका शरीर-भार और लबाई इत्यादि लडकियों से बढ़ जाते है। वास्तव में शरीर की वृद्धि सदा एक समान गति से नहीं होती। किसी विशेष समय में अधिक वृद्धि होती है; उसके पश्चात् यह वृद्धि कुछ समय तक के लिये रुक जाती है, फिर कुछ समय तक शीघ्रता से होती है। इस प्रकार क्रम चलता है। कुछ वज्ञानिको का विचार है कि वृद्धि के इस प्रकार के चार चक्र होते हैं, अर्थात् जीवन में चार बार ऐसा समय आता है जब वृद्धि तेज़ी से होती है। प्रथम वृद्धिकाल गर्भ की स्थिति से प्रारंभ होता है और जन्म के एक वर्ष के पश्चात समाप्त हो जाता है; दूसरी बार वृद्धि दूसरे वर्ष से आरंभ होती है और साढ़े पाँच

साल की आयु तक पूर्णतया जारी रहती है। उसके पश्चात् वृद्धि फिर कम हो जाती है। तीसरी बार वृद्धि ग्यारह व बारह साल से आरंभ होकर कोई पचीस वर्ष तक जारी रहती है। इसके पश्चात् युवावस्था में भी कुछ समय के लिए वृद्धिकाल फिर आता है, जो वृद्धावस्था के आरंभ होने तक जारी रहता है। किंतु इस समय वृद्धि बहुत ही धीमी होती है।

वृद्धावस्था के प्रारंभ होने पर शरीर की सब शक्तियों का ह्रास होने लगता है। शरीर के तंतुओं में परिवर्तन हो जाते हैं। प्रथम यह परिवर्तन स्पष्ट नहीं मालूम होते, किंतु पश्चात् को बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं। शरीर की अस्थियों की दृढता जाती रहती है। उनमें खनिज लवणों की अधिकता हो जाती है। कारटिलेज में कड़ापन आ जाता है। धमनियों की दीवारों में चूने के लवण एकत्रित होने लगते है, जिससे उनका लचकीलापन जाता रहता है और वह कठिन रज्जु के समान हो जाती हैं। नेत्र के ताल और कनीनिका मे परिवर्तन हो जाते हैं। शरीर की पेशी घुलने लगती हैं। वे दुर्बल और पतली हो जाती हैं। नाड़ियों में भी परिवर्तन हो जाता है। मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है। पाचनशक्ति भी क्षीण हो जाती है। शरीर की जितनी निःस्रोत ग्रंथि हैं, उनका उद्रेचन घट जाता है। शिर के बालों के रंजक कणों का नाश होने लगता है। इस प्रकार प्रोटोप्लाज्म की रचनाशक्ति निरंतर कम होती जाती है। किंतु शरीर की मृत्यु का तत्काल कारण किसी एक विशेष अंग का विकृत होकर अपने कर्म को छोड़ देना होता है। उस समय भी शरीर के दूसरे अंग, यदि उनको पोषण मिलता रहे, तो जीवित रह सकते हैं। किंतु तो भी वैज्ञानिक खोजों से यही मालूम होता है कि प्रत्येक जीवित पदार्थ

का स्वाभाविक अंत उसकी कर्म में अशक्ति अथवा मृत्यु है। ऐसा समय आना अनिवार्य और आवश्यक है जब उसकी शक्तियों का अंत हो जायगा और वह अपने जीवन के लिये आवश्यक क्रियाएँ करने में असमर्थ होगा।

किन्तु वृद्धावस्था में शरीर में जो परिवर्तन होते हैं, उनका क्या कारण है? कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि शरीर के बहुत से सेल, जो युवावस्था में बहुत ही लाभदायक काम किया करते हैं, दूषित हो जाते हैं। जीवन में शरीर की क्रियाओं से अनेक विष बना करते हैं। ये विष सेलो में एकत्रित होते रहते हैं। इन विषों द्वारा उन सेलों में विकार आ जाता है और वह सेल शरीर के तंतुओ का नाश करना आरंभ कर देते हैं। मेचनिकाफ़ ने ऐसे बहुत से सेलो के चित्र दिखाए हैं। उनका कहना है कि यह सेल उस विष के कारण पागल हो जाते हैं। वह अपना स्वाभाविक कर्म तो भूल जाते हैं और उसके स्थान में शरीर के तंतुओं का नाश करना आरंभ कर देते है। वृद्धावस्था मे जो बाल श्वेत हो जाते हैं, उसका यही कारण है कि कुछ विशेष प्रकार के सेल रंजक कणों का भक्षण कर लेते हैं। अस्थियों के दुर्बल होने का कारण यह होता है कि अस्थिभंजक (Osteoclasts) नामक सेल जो पहले अस्थियों को बनाने में सहायता देते थे, वे उसके खनिज लवणों को अस्थियों में से निकाल लेते हैं। इस प्रकार चूने के लवण अस्थि से निकलकर रक्त में मिलकर धमनियों और शिराओं की दीवारो में पहुँचते हैं और वहाँ एकत्रित हो जाते हैं, जिससे धमनियाँ कड़ी हो जाती हैं। और उनके लचक का गुण नष्ट हो जाने से वह अपना कर्म करने मे असमर्थ हो जाती हैं। इसी प्रकार इस विज्ञानवेत्ता की सम्मति में मांसपेशी का नाश करनेवाले भी

एक प्रकार के तंतु होते हैं। मस्तिष्क के सेलों का नाश करनेवाले सेलों को इसने Neurophag अर्थात् नाड़ीभक्षक का नाम दिया है। शरीर के दूसरे ततुओं को भी भक्षण करनेवाले सेल बन जाते हैं, जो उनका नाश कर देते हैं।

इस प्रकार सब ततुओं की वृद्धि कम होती चली जाती है; उनकी शक्तियों का नाश होता है; उनमें कर्म करने की सामर्थ्य नहीं रहती, उनकी क्षीणता अधिक हो जाती है और अंत को शक्तियो का पूर्ण ह्रास होने पर उनकी मृत्यु हो जाती है।

किन्तु जैसा कि हम रात-दिन देखते हैं अधिकतर मनुष्यों की अकाल मृत्यु होती है। सदा यही देखने में आता है कि मरनेवाले को कोई रोग होता है, जिससे उसके शरीर का अंत होता है। कभी कोई ऐसी घटना हो जाती है, जिससे उसके प्राणांत हो जाते हैं। मोटर, रेल, गाडी, युद्ध इत्यादि मनुष्य के जीवन को नाश करनेवाली सहस्रो ऐसी घटनाएँ होती हैं। स्वाभाविक अथवा काल-मृत्यु होते बहुत ही कम देखा गया है, जहाँ शरीर का अंत केवल इसी कारण हुआ हो कि अंगों में कर्म करने की शक्ति बिलकुल क्षीण हो चुकी हो। कभी कदाचित् कोई ऐसी मृत्यु सुनी जाती हो। सदा मृत्यु का कारण कुछ न कुछ रोग होता है अथवा कभी-कभी घटनाएँ हो जाती हैं।

'शरीरं व्याधिमंदिरम्' का वाक्य अत्यंत ही बुरा प्रभाव डालने-वाला है। शरीर न कभी व्याधि का मंदिर था और न कभी होगा। प्रकृति ने उसको इस प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ प्रदान की हैं कि वह संसार में जो सहस्रों रोगों के कारण वर्तमान हैं, उनसे अपनी रक्षा कर सके। और वास्तव में शरीर उन सब कारणों से अपनी रक्षा करता है। शरीर के इस कार्य का

हमको तनिक भी पता नहीं होता; किन्तु वह निश्चयरूप से अनेक रोगोत्पादक जीवाणुओं को, जो उसके भीतर प्रवेश करते हैं, नाश करके अपनी रक्षा करता है। यदि हम अपने शरीर की पूर्णतया परीक्षा करवावें, तो हमको मालूम होगा कि हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में कितने रोगों को उत्पन्न करनेवाले जीवाणु रहते हैं। हमारे मुँह ही में कम से कम छः प्रकार के जीवाणु सदा उपस्थित रहते हैं। हमारे अंत्रियों में इन जीवाणुओं का एक बहुत बड़ा उद्यान है, जहाँ यह असंख्य जीवाणु रात-दिन उत्पन्न हुआ करते हैं। हमारे चर्म पर कितने जीवाणु रहते हैं। किन्तु तो भी हम रोगों से मुक्त रहते हैं। शरीर की असाधारण शक्तियाँ उनको नाश करके हमको स्वस्थ रखती हैं। हम उसी समय रोगी होते हैं जब प्राकृतिक नियमों का पूर्ण उल्लंघन करते हैं और प्रकृति हम से जो बात चाहती है उससे विरुद्ध कर्म करते हैं। प्रकृति हमको श्वास द्वारा शुद्ध वायु भीतर लेने के लिये आदेश करती है। किन्तु यदि हम कमरों के सब किवाड़ बंद करके उसमें दीवा जलाकर बारह-बारह घंटे उसके भीतर रहेंगे, तो प्रकृति अवश्य ही हमको ताड़ना करेगी। प्रकृति ने भोजन हमारे शरीर को उचित कार्य योग्य अवस्था में रखने के लिये दिया है। और पाचन संस्थान की भी इसीलिये रचना की है कि वह भोजन के पदार्थों को पचाकर हमारे शरीर की शक्तियों को बनाए रखे। यदि हम इस नियम की अवहेलना करके केवल स्वाद के लिये उचित-अनुचित का विचार छोड़कर अपने जीवन को भोजन ही के लिये बना लें तो फिर प्रकृति हमको जो सज़ा दे उसके लिये उसको दोष देना अनुचित है। शरीर सदा सब प्रकार की व्याधियों से अपने को सुरक्षित रखता है। केवल उसी समय, जब हमारे कर्म क्षति की सीमा

से बढ़ जाते है, तब शरीर रोगों के चंगल में फँसता है। इससे रह समझाना कि शरीर तो रोग होने ही के लिये बना है, जीवन को निराशमय बनाना और प्रकृति के साथ घोर अन्याय करना है। रोगों से जो इतनी अधिक मृत्यु होती हैं, उनका कारण यह है कि जहाँ संसार में अन्य असंख्यों प्राणी हैं, वहाँ रोग उत्पन्न करने-वाले जीवाणु भी उन्हीं प्राणियों की सृष्टि में वर्तमान है। उनका काम रोग उत्पन्न करना है और शरीर का काम अपनी रक्षा करना है। जब शरीर अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है, तो रोगोत्पादक जीवाणु उसको दबा लेते हैं। जब तक उसमें रक्षा की शक्ति रहती है, तब तक वह उनके चंगुल में नहीं आता। इस कारण शरीर की शक्तियों को उचित अवस्था में रखना आवश्यक है।

रोगोत्पादक जीवाणु सहस्रो है। इनमें से बहुतो का हमको अब तक ज्ञान भी नही है। यह जोवाणु अत्यंत सूक्ष्म जीव होते हैं। केवल एक सेल का इनका शरीर होता है। वह भी इतना छोटा होता है कि उसमें किसी केंद्र इत्यादि का का पता नहीं लगता। यही सूक्ष्म जीवाणु शरीर को दुर्बल पाकर उसके भीतर प्रविष्ट होकर उसमें अनेक उपद्रव मचा देते हैं। मनुष्य जो सृष्टि का स्वामी और शिरमौर है और जिसके अद्भुत मस्तिष्क की शक्तियों का अभी तक पूर्णतया पता नहीं लगा है, उनके सामने सिर झुका देता है। उसकी विचित्र कल्पनाशक्ति वहाँ काम नहीं करती। उसका श्वास फूलने लगता है, हृदय की गति बड़ी तेजी से होने लगती है, शारीरिक साम्राज्य में अराजकता फैल जाती है, रक्त तेज़ी से दौडने लगता है, सांवेदनिक और संचालक नाडियों का काम बढ़ जाता, कभी-कभी मस्तिष्क के सेल भी भ्रम में पड़ जाते हैं,

और मृत्यु उस सृष्टि के स्वामी के आँखो के सामने नाचने लगती है। कभी-कभी किसी भी प्रकार का साहस, कोई भी विधि, बुद्धिमत्ता, इत्यादि इन अदृश्य शत्रुओं की सेना को भगाने में सफल नही होते।

ज्यों-ज्यों विज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यो हम इन शत्रुओं के स्वरूप को पहचानते जाते हैं। अब हम कृत्रिम साधनों द्वारा उनकी संख्या बढ़ा सकते हैं। हमको मालूम हो गया है कि अमुक खाद्य वस्तुओं से उनका भली प्रकार पोषण होता है और अमुक रासायनिक वस्तुओं से उनका नाश। विज्ञान उनको जीतने के लिये निरंतर उत्तम उपाय और साधनों को ढूँढ़ रहा है और उसको बहुत कुछ सफलता होती जा रही है। हमने बहुत से जीवाणुओं से अपनी रक्षा करना सीख लिया है। इनके सबन्ध में जो हमने एक बडी बात का पता लगाया है, वह यह है कि Prevention is detter than cure रोग के उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा से यह अच्छा है कि रोग को उत्पन्न ही न होने दिया जाय। चेचक रोग के जीवाणु को प्रवेश करके रोग को उत्पन्न करने के पूर्व ही हमको उसे रोक देने की या अकर्मण्य कर देने की विधि मालूम हो गई है। मैलेरिया रोग के कारण, उसको रोकने और नष्ट करने की विधि से हम पूर्णतया परिचित हो चुके हैं। स्पायरोकीट पैलिडा (Spirochete Pallida) का जो सिफिलिस रोग का कारण है, नाश करने के उपाय विज्ञान ने निकाल लिए हैं। डिफ्थीरिया (Diphtheria) के रोग का नाश करने का पूर्ण उपाय हमारे हाथ में है, और भी कई रोगों को हम पूर्णतया जान चुके हैं। किन्तु तो भी इन जीवाणु-जन्य रोगों से बहुत बड़ी मनुष्य-सख्या का प्रति वर्ष नाश होता है।

जिस जीवाणु ने आजकल संसार में सबसे अधिक उत्पात मचा रखा है और जो प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में जीवन का नाश करता है, उसका नाम Bacillus Tuberculosis है। यह राजयक्ष्मा का जीवाणु है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक नगर में सबसे अधिक संख्या इस रोग से ग्रस्त मनुष्यों की मिलती है। यद्यपि सहस्रों स्थानों में इस रोग पर प्रयोग और परीक्षाएँ हो रही हैं, सहस्रों वैज्ञानिक रात दिन अपने जीवन की परवाह न करके मनुष्य जाति को इस भयंकर रोग से मुक्त करने का उद्योग कर रहे हैं, तो भी अभी तक उनके प्रयोगों से आशातीत फल नहीं निकला है। हाँ, यह अवश्य मालूम हो चुका है कि इस रोग को रोकने के लिये कौन से उचित उपाय हो सकते हैं। शुद्ध वायु सबसे प्रथम आवश्यक वस्तु है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि इस रोग के सबसे बड़े शत्रु शुद्ध वायु और सूर्य प्रकाश हैं। इस कारण जहाँ तक संभव हो, गृह के बाहर खुले हुए स्थान में रहना चाहिए। मनुष्य को इतने वस्त्र पहन लेने चाहिये कि उसको ठंड न मालूम हो। इसके पश्चात् ठंडी हवा भी उसको कुछ नहीं बिगाड़ सकती। शुद्ध वायु के बराबर इस रोग की उत्तम औषधि दूसरी नहीं मालूम हुई है। साथ में शरीर की शक्ति को जितना बढ़ाया जा सके उतना बढ़ाना चाहिए। इसका साधन उत्तम पाचनशील भोजन है। दूध सबसे उत्तम पदार्थ माना गया है। इस रोग की चिकित्सा विशेषकर शुद्ध वायु और उत्तम भोजन ही पर निर्भर करती है। यदि सदा ही शुद्ध वायु, उत्तम भोजन और इस रोग के रोगियों से दूर ही रहने का ध्यान रक्खा जाय, तो रोग होने की कोई संभावना नहीं मालूम होती।

मैलेरिया रोग से, यद्यपि इसकी बहुत उत्तम औषधि मालूम हो

चुकी है, संसार में इस समय भी २०,००,००० मनुष्य प्रतिवर्ष अपने जीवन से हाथ धोते है। पीतज्वर और मैलेरिया के संबन्ध में विज्ञान की बहुत बड़ी विजय हुई है। जिस स्थान में कोई मनुष्य इन रोगों के भय से जाने का साहस नहीं करता था और जो स्थान White Mans' grave कहा जाता था, वह स्थान इस समय एक सेनिटोरियम की भाँति बन गया है। पनामा के प्रात में जहाँ काम करने के लिये जाकर फ्रांस के सहस्रो व्यक्तियो के जीवन का इन रोगो के कारण नाश हो गया, इस समय विज्ञान ने वहाँ से इन रोगों के नाम तक को उड़ा दिया है, इस समय वहाँ पर कोई इन रोगों का नाम भी नहीं जानता।

गत शताब्दी के अंतिम वर्षों में मैलेरिया पर कार्य करते हुए Sir Ronalb Ross ने इस रोग के कारण को मालूम किया। उन्होंने इस रोग से पीड़ित मनुष्यों के प्लीहा में कुछ जीवाणुओं को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा। इसी आधार पर अन्वेषण करते-करते उन्होने यह पता लगाया कि इस जीवाणु को एक रोगी से दूसरे मनुष्य तक पहुँचानेवाला एक विशेष जाति का मच्छर है, जिसको अनोफिलीज (Anopheles) कहते हैं। उन्होंने इस जाति के बहुत से मच्छरों के शरीर का व्यवच्छेद किया, जिससे उनको मच्छरों के अंत्रियों और मुख की लाला ग्रथियो में यह जीवाणु मिले। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रयोग किए गए और अंत को यह पूर्णतया निश्चय कर लिया गया कि मच्छर ही इस रोग का वाहक है। इस अन्वेषण से रोग का नाश करना बहुत सहज हो गया। यदि मच्छरों का नाश कर दिया जाय तो मनुष्य को रोग होना ही बद हो जायगा। इसी आधार पर काम करते हुए यह मालूम किया गया कि मच्छर की उत्पत्ति किस प्रकार होती

है। यह मालूम हुआ कि मच्छर अपने अंडे जल में रखता है। जहाँ जल भरा रहता है बहुधा उसके किनारों पर मच्छर अंडे रखता है और वहीं मच्छर उत्पन्न होते हैं। अंडों से जो बच्चे उत्पन्न होते हैं वे जल में रहते हैं, किन्तु श्वास लेने के लिये उनको जल के ऊपर आना पड़ता है। यदि किसी प्रकार उनको वायु मिलना बंद किया जा सके तो उनका नाश हो जायगा। आजकल यह किया जाता है कि जहाँ पर यह मच्छर के बच्चे, जिनको लारवा (Larva) कहते हैं, होते हैं वहाँ पर जल के ऊपर मिट्टी के तेल का हलका सा परत फैला दिया जाता है, जिससे इन लारवों को वायु नहीं मिलती। इस प्रकार इनका नाश हो जाता है।

पनामा इत्यादि स्थानों में ऐसे ही कार्यों द्वारा मच्छरों का नाश किया गया। साथ में रोगी के शरीर में उपस्थित जीवाणु क्यूनीन द्वारा नष्ट किए गए। उसका परिणाम यह है कि अब उस स्थान में रोग का नाम तक भी नहीं है। इतनी बड़ी सफलता का सेहरा विज्ञान के सिर पर बँधा है। न केवल यही, किन्तु विज्ञान ने मनुष्य-जाति का इससे भी बड़ा उपकार उस समय किया, जब लार्ड लिस्टर (Lorh Lister) ने यह पता लगया था कि आपरेशन के पश्चात् घावों में जो पूय व राध पड़ जाती है, उसका कारण पूय को उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं की उपस्थित है। इन जीवाणुओं का नाश करने के लिये उन्होंने अनेक रासायनिक पदार्थों की खोज की। जब उन्होंने इन पदार्थों द्वारा शस्त्र-कर्म के पूर्व शरीर के उस स्थान को जहाँ कर्म होनेवाला था और साथ में अपने औज़ार और शस्त्र-कर्म के समय में काम में आनेवाले वस्त्रों को भी शुद्ध करने के पश्चात् कर्म किया, तो घावों में पूय होना बंद हो गया। इस खोज ही के कारण कुछ दिनों के पश्चात् यह भी मालूम

हुआ कि प्रसव के पश्चात् जो ज्वर आने लगता है, जो प्रसूति-ज्वर कहलाता है, वह भी इन जीवाणुओं ही से उत्पन्न होता है। प्रसव के पश्चात् गर्भाशय और योनि एक खुले हुए घाव के समान होते हैं। अतः यह जीवाणु वहाँ सहज ही में पहुच जाते हैं। इससे ज्वर आने लगता है। आजकल शल्यतांत्रिक (Surgeon) यह मानते है कि प्रत्येक वस्तु में जीवाणुओ का निवास होता है। इस कारण शस्त्रकर्म से पूर्व सब वस्तुओं को पूर्णतया शुद्ध कर लिया जाता है, जिससे जीवाणुओं का नाश हो जाता है। आजकल घावों में पूय पडना एक असाधारण बात हो गई है। लार्ड लिस्टर की खोज से लाखों मनुष्यों की जान प्रतिवर्ष बचती है।

यद्यपि विज्ञान ने बहुत कुछ किया है और करता जा रहा है; किंतु तो भी इन जीवाणुओ के कारण प्रतिवर्ष मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या अपना जीवन खोती है। अब प्रश्न यह है कि यदि इन रोगों और अचानक भयानक घटनाओं से मृत्यु न हो, तो मनुष्य कितने दिन तक जीवित रह सकता है। आजकल सभ्य देशों में साधारणतया मनुष्य का जीवन-काल ४९-५० वर्ष है। हमारे देश में यह काल २५ वर्ष के लगभग है। यह काल रोग से मृत और आघात या घटनाओं से मरे हुए मनुष्यों की आयु का भी ध्यान रखते हुए निकाला गया है। इसको 'विशिष्ट जीवनकाल' कहा जाता है। यह दो बातों पर निर्भर करता है, एक शरीर की जीवित रहने की आंतरिक शक्ति, जिसे वह उत्पादक बीज से प्राप्त करता है; और दूसरी जिन दशाओं में वह रहता है, उन की शरीर को नाश करने की शक्ति। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों दशाएँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं। रोग, भयानक घटना, मोटर से कुचल के मर जाना, युद्ध में प्राण खोना, रेल के टक्कर में जान देना, इस प्रकार

की घटनाएँ दूसरी दशा में सम्मिलित हैं। इस प्रकार पहली और दूसरी दशा को आपस में स्पर्धा होती है। जौन सी दशा अधिक प्रबल होती है इसी के अनुसार मनुष्य की आयु का दीर्घत्व होता है।

यदि मनुष्य इन सब घटनाओं से बचा रहे, उस पर कोई घटना भी न बीते, किसी प्रकार का उस पर प्रभाव न पड़े, जिसके कारण उसकी मृत्यु हो जाय, तो वह कितने दिन तक जीवित रह सकता है। अर्थात् कौन सी आयु पर उसकी स्वाभाविक मृत्यु होगी। इसका निश्चय रूप से उत्तर देना बड़ा कठिन है। हम केवल उन मनुष्यों के जीवन से, जिनकी बहुत लंबी आयु हुई हैं, कुछ अनुमान लगा सकते है। प्राचीन समय मे सहस्रों वर्ष की आयु सुनी जाती है। न केवल हमारे ही देश में, किंतु पाश्चात्य देशों में, आफ्रिका के आदिम देशों में, अमरीका मे और अन्य सभ्य देशों में भी ऐसी बहुत किंवदंती प्रचलित हैं। किंतु उनसे हमको कोई सहायता नहीं मिलती। विज्ञान के लिये यह केवल कपोलकल्पित बातें है। हमको ऐसी बातों की आवश्यकता है, जिनका निश्चितरूप से किसी ने अन्वेषण किया हो और उनका लेखरूप में वर्णन हो।

विख्यात वैज्ञानिक हारवे ने टामस पार (Thomas Parr) नामक मनुष्य का वर्णन किया है। यह श्रोपशायर प्रांत का रहनेवाला एक किसान था। इसकी मृत्यु १५२ वर्ष की आयु में हुई थी। हारवे ने इसकी मृतक परीक्षा की थी। वह लिखता है कि टामस पार के शरीर में रोग का कोई लक्षण नहीं था। पशुकाओं की कार्टिलेज तक कड़े नहीं हुए थे। उसका मस्तिष्क अवश्य कड़ा पड़ गया था और उसकी धमनी और शिराएँ भी

कड़ी हो गई थीं। उसके मृत्यु का कारण उसके रहन-सहन का परिवर्तन कहा जाता है। वह अपने गाँव से लंदन में लाया गया था, जहाँ उसने बहुत खाना और खूब शराब पीना आरंभ कर दिया था।

इससे यह मालूम होता है कि कभी-कभी मनुष्य १५० वर्ष की आयु तक पहुँच सकता है। यद्यपि कोई विरला ही इतना वृद्ध होते देखा व सुना जाता है। १०० और १२८ वर्ष की आयु तक अधिक लोग पहुँचते हैं। प्रिचर्ड (Prichard) तीन हबशियों का वर्णन करता है जो ११५, १६० और १८० वर्ष तक जीवित रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में सेनिगाल नामक प्रांत में आठ हबशी १०८ से १२० वर्ष की आयुवाले देखे गए थे। शेमीन (M. Chemin) ने १८९२ में स्वयं एक हबशी देखा था, जिसकी आयु १०८ वर्ष कही जाती थी। इसी लेखक ने १८९५ के जून मास के New York Herold में एक हबशी स्त्री का वर्णन किया है, जिसकी आयु १४० वर्ष की थी। साथ ही में वह एक पुरुष का वर्णन करता है, जो १२५ वर्ष का बुड्ढा था। पुरुषों की अपेक्षा १०० वर्ष से ऊपर की आयुवाली स्त्रियाँ अधिक देखी जाती हैं।

इन अधिक आयुवालों में अधिक व्यक्तियों का स्वास्थ्य उत्तम था और उनका शरीर दृढ़ था। कभी-कभी यह भी देखा गया है कि विकृत शरीरवाले मनुष्यों की भी दीर्घायु हुई है। एक स्त्री जिसका नाम Nicoline Marck था ११० वर्ष की होकर मरी थी। उसका दाहना हाथ बिलकुल मुड़ा हुआ था, बाँह भी बीच में से टूटी हुई थी। पीठ में एक कूबर निकला हुआ था और वह आगे की ओर इतनी झुकी हुई थी कि उसकी ऊँचाई चार फुट से अधिक नहीं मालूम होती थी। स्कोटलेंड की एक स्त्री रोलस-

पेथ विल्सन कद में अत्यत नाटी थी। उसकी ऊँचाई दो फुट से कुछ ही अधिक थी।

अठारहवी शताब्दी में हेलर ने यह बात लिखी थी कि बहुधा दीर्घजीवी एक ही परिवार में पाए जाते हैं। टामसपार, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है, के एक पुत्र था जो १२७ वर्ष की आयु को प्राप्त होकर मरा था। ऐसी दशाओं में यह मालूम होता है कि दीर्घजीवी होने का गुण एक पैतृक संस्कार है जो उत्पादक बीज के द्वारा माता-पिता से संतान को पहुँचता है और आगे को इसी प्रकार चला जाता है।

इस सबंध में वीज़मेन का मत विचार करने योग्य है। वह कहता है कि व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी जातियाँ जीवित रहती हैं। इसलिये उत्पादक सेलों का प्रोटोप्लाज्म अमर है, उसकी मृत्यु नही होती। वह उत्पादक सेलों के प्रोटोप्लाज्म को उत्पादक बीज कहता है। शरीर के सामान्य प्रोटोप्लाज्म से उसको वह भिन्न मानता है। वह कहता है कि शरीर का प्रोटोप्लाज्म परिमित है, उसका जीवन अनंत नही है। किंतु उत्पादक सेलों का प्रोटोप्लाज्म अनंत है; उसकी मृत्यु नही होती, वह अमर है। उसके अनुसार यह गुण कुछ साधारण जंतुओं में भी पाया जाता है, जैसे अमीबा। वीज़मेन के इस कथन को परीक्षा करने के लिये अनेक प्रयोग हुए हैं और उनसे सब तरह के परिणाम निकले है। कुछ वीज़मेन के पक्ष का समर्थन करते हैं; कुछ उसके विरुद्ध जाते हैं। एक पेरोमिशियम नामक जंतु को, जो एक अत्यंत साधारण एक-सेलीय जीव होता है, लिया गया और उसको साढ़े तीन वर्ष तक कई प्रकार के पोषक पदार्थों में रखा गया। इस समय में प्रत्येक ४८ घंटे में उसके तीन भाग होते थे। इस प्रकार उसके शरीर

है कि शरीर की वृद्धि के लिये एक विशेष प्रकार के प्रोटीनों की आवश्यकता होती है। यदि वे प्रोटीन नही मिलते, तो वृद्धि बद हो जाती है। दूसरे प्रकार के प्रोटीन शरीर को केवल इसी अवस्था में बनाए रखने के लिये पर्याप्त होते हैं; कुछ इन दोनों में से एक भी काम नही कर सकते। उनसे न वृद्धि होती है और न शरीर का पोषण ही होता है। हम पहले देख चुके है कि आजकल के विद्वान् शरीर के लिये विटेमीन को आवश्यक समझते हैं।

यह नही कहा जा सकता कि मनुष्य की वृद्धि में और उसके जीवनकाल मे कोई विशेष सबंध है या नहीं। प्राचीन समय के कुछ लोगों का यह विचार था कि मनुष्य अथवा दूसरी पशु जातियो का जीवनकाल उनके वृद्धिकाल पर निर्भर करता है। अर्थात् यदि दस या बारह वर्ष तक उनकी पूर्ण वृद्धि होकर युवावस्था आ जाती है, तो समस्त जीवनकाल इस दस-बारह वर्ष का कोई गुणा होगा—सत्तर हो अस्सी हो, किंतु उसका और इसका किसी प्रकार संबध अवश्य होगा। बफ्फन (Baffon) का कथन है कि "Total duration of life bore some definite relation to the length of the period of growth." अर्थात् वृद्धिकाल और जीवनकाल का आपस में कोई विशेष सबध है। उसका विचार था कि जीवनकाल एक पूर्णतया निश्चित काल है, जिस पर भोजन, स्वभाव, आचार-व्यवहार का कोई भी प्रभाव नहीं पडता, जैसा निश्चित हो चुका है वैसा ही रहेगा।

इस आधार के ऊपर उसका यह विचार था कि जीवनकाल वृद्धि-काल से ६ व ७ गुणा होता है। उसका कहना था कि मनुष्य में पूर्ण वृद्धि १४ वर्ष में हो चुकती है। इसलिये मनुष्य १४ वष

के ६ व ७ गुणे वर्ष अर्थात् ९० या १०० वर्ष तक जी सकता है। घोड़ा चार वर्ष पर युवा हो जाता है, वह २८ या ३० वर्ष तक जीवित रह सकता है। बारहसिंघा ५ या ६ वर्ष पर पूर्ण युवा हो जाता है; वह ३५ या ४० वर्ष तक जी सकता है।

फ्लौरेंस (Flourens) ने भी बफ्फ़न ही के अनुसार जीवन की गणना की है। किन्तु उसके विचार में बफ्फ़न ने वृद्धि की जाँच करने में भूल की है। उसका विचार था कि पूर्ण वृद्धि उस समय पर समझनी चाहिए जब लम्बी अस्थियों के दोनो सिरे अस्थि के गात्र से जुड़ जायँ। इस प्रकार मनुष्य का वृद्धिकाल बीस वर्ष है। फ़्लौरेंस का यह मत है कि जीवनकाल वृद्धिकाल से पाँचगुणा होता है अर्थात् मनुष्य का जीवनकाल १०० वर्ष है। ऊँट आठ वर्ष में युवा होता है। वह ४० वर्ष जीता है। घोड़ा पाँच वर्ष तक वृद्धि करता है, इसलिये उसको २५ वर्ष तक जीना चाहिए।

बफ्फ़न और फ्लौरेंस दोनों के मत ठीक नहीं हैं। स्वयं वीज़-मेन ने इन पर आक्षेप किया है। उसने घोड़े का उदाहरण लिया है। घोड़ा चार वर्ष की आयु पर पूर्ण युवा हो जाता है। उसमें संतान उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। वह पच्चीस या तीस वर्ष जीवित न रहकर कभी-कभी ४० वर्ष तक जीवित रहता है। इस प्रकार ५ व ७ गुणा न होकर उसका जीवनकाल १२ गुणा हो जाता है। चूहे बहुत जल्दी बढ़ते हैं। वे चार महीने की आयु पर संतानोत्पत्ति प्रारंभ कर देते हैं। फ़्लौरेंस के हिसाब से वे २० महीने जीवित रहने चाहिए, किन्तु वे ६० महीने तक जीवित रहते हैं। भेड़ बहुत धीरे-धीरे बढ़ती है। वह पाँच वर्ष पर जाकर युवा-वस्था को प्राप्त होती है। उससे पहले उसके स्थायी दाँत नहीं

निकलते। यदि पाँच वर्ष भी उसका वृद्धिकाल मान लिया जाय, तो भी उसका जीवनकाल वृद्धिकाल का पूर्णतया तिगुना भी नहीं होता। चौदहवें वर्ष मेंपहुँचकर वह बिलकुल बुड्ढी हो जाती है।

बफ्फन का यह भी विचार था कि जीवनकाल का गर्भकाल के साथ कुछ संबन्ध है। जिन पशुओं का गर्भकाल अधिक होता है, वे अधिक समय तक जीवित रहते हैं; जिनका गर्भकाल कम होता है, उनका जीवन भी छोटा होता है। किन्तु यह विचार भी पहले विचार ही की भाँति असत्य है। तोते बहुत शीघ्रता से बढ़ते हैं। दो वर्ष की आयु पर पूर्णतया युवा हो जाते हैं और संतान उत्पन्न करना आरम्भ कर देते है। इनका गर्भकाल केवल २५ दिन है। पचीस दिन के पश्चात् अंडे से बच्चा बाहर आ जाता है किन्तु यह तोते दीर्घ जीवन के लिये विख्यात हैं। हंस का उत्पत्ति-काल ३० दिन है, किन्तु वह ८० व १०० वर्ष तक जीवित रहता है।

कुछ लोगों का विचार था कि जो जाति बहुत जल्दी-जल्दी संतानोत्पत्ति करती है, उनका जीवन थोड़ा होता है। जिनमें उत्पत्ति धीरे-धीरे होती है, उनका जीवन दीर्घ होता है। उत्पत्ति जाति की रक्षा करने का एक साधन है। जो जातियाँ दूसरे जाति का शिकार बनती रहती हैं, उनको यदि जाति की रक्षा करनी है, तो अधिक संतान उत्पन्न करना आवश्यक है, जिससे कुछ संतानें तो दूसरों के द्वारा नष्ट होने से बच जायँ और वंश का नाश न होने पावे। अतएव उनके लिये यह आवश्यक है कि वह बहुत दिनों तक जीवित रहें, जिससे काफ़ी संतान उत्पन्न कर सकें; क्योंकि उन पक्षियों के बहुत-से शत्रु होते हैं, जो उनके अंडों को खा जाते हैं व नाश कर देते हैं। जितने हिंसक पक्षी हैं, वह वर्ष में केवल दो या एक ही बच्चा उत्पन्न करते हैं। जो पशु बहुत शीघ्रता

से संतान उत्पन्न करते हैं, उनको दीर्घ जीवन की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपना सांसारिक धर्म थोड़े ही काल में पूर्ण कर देते हैं और वह इस संसार से बिदा ले सकते हैं। चूहा, खरगोश इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

इससे बहुत लोगों का यह विचार है कि सतानोत्पत्ति से शरीर पर एक ऐसा प्रभाव पड़ता है, जो शरीर को कमज़ोर करता है, वह शरीर की शक्ति को मानो खींच लेता है। इस कारण जिनमें संतानोत्पत्ति शीघ्रता से होती हैं उनमें वृद्धावस्था जल्दी आ जाती है और उनकी मृत्यु भी शीघ्र ही होती है। यह साधारणतया देखा जाता है कि जिन स्त्रियों के संतान बहुत जल्दी-जल्दी और अधिक होती हैं, वे शीघ्र ही वृद्धा हो जाती हैं। इससे यह अर्थ न निकाल लेना चाहिए कि संतानोत्पत्ति की अधिकता लघु जीवन का कारण होती है। संतान के उत्पन्न होने में अधिक भार माता ही पर पड़ता है। वही गर्भ को नव मास तक धारण करती है और उत्पन्न होने के पश्चात् उसका पालन-पोषण करती है। किंतु अधिकतर यही देखा जाता है कि स्त्री और पुरुष का जीवनकाल समान ही होता है।

कुछ लेखकों का विचार था कि जीवन का भोजन के साथ संबंध है। M. Oustalct कहता है कि शाकाहारी पशुओं का जीवन मांसाहारियों से अधिक होता है। इसका कारण उनकी सम्मति में यह है कि शाकाहारियों को भोजन के प्राप्त करने में अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता और उनको भोजन सहज ही में मिल जाता है। मांसाहारियों को भोजन पाने के लिये बहुत खोज करनी पड़ती है। चारों ओर दौड़-भाग और लड़ाई करने के पश्चात् उनको भोजन प्राप्त होता है। इनको बहुधा भूखा ही रहना पड़ता

है, क्योंकि उनका भोजन दूसरे पशुओं पर निर्भर होता है, जो स्वयं अपनी रक्षा करते है। हाथी, तोते आदि शाकाहारी पशु हैं। इनका जीवन बहुत दीर्घ होता है। किंतु साथ ही मांसाहारी पशु भी ऐसे हैं, जो बहुत समय तक जीवित रहते है। उल्लू, बाज इत्यादि मांस पर अपना जीवन व्यतीत करते है; किंतु इनका जीवन बहुत लंबा होता है। गिद्ध भी बहुत दीर्घजीवी है।

इन विचारों और भिन्न-भिन्न मतों से यही पता लगता है कि किसी विशेष दशा का जीवन के दीर्घत्व के साथ कुछ सम्बन्ध नही है। वंश का दीर्घजीवन पर अवश्य प्रभाव पडता है; क्योंकि ऐसे परिवार देखे जाते है, जिनमें सभी व्यक्ति दीर्घजीवी होते हैं। साथ ही भोजन, जीवन के क्रम, आचार, स्वभाव इत्यादि का भी जीवन-काल पर बहुत कुछ प्रभाव पडता है। वीजमेन स्वय इस बात को मानता है कि उचित साधनो द्वारा जीवन को अधिक दीर्घ किया जा सकता है।

वृद्धावस्था का कारण—किंतु वृद्धावस्था क्यों आती है? इसका क्या कारण होता है और क्या वह किसी प्रकार रोकी नहीं जा सकती है? इस सम्बन्ध में प्रत्येक देश के फ़िलासफ़र अत्यंत प्राचीन समय से विचार करते आए है। मनुष्यजाति सदा ही अमृत पीने की लालसा मे लिप्त रही है। अनेक संग्राम भी हुए है, किंतु अभी तक वह अमृत किसी को नही मिला।

Bitchsli का वृद्धावस्था के बारे में यह विचार था कि सेलों में जीवन को कायम रखनेवाली एक विशेष रासायनिक वस्तु है जिसके प्रभाव से सेलो में उत्पत्ति होती है। ज्यों-ज्यों उनमें उत्पत्ति अधिक होती है, त्यों-त्यों वह वस्तु दुर्बल होती चली जाती है। इसी से वृद्धावस्था का पदार्पण होता है। किंतु रासायनिक

विज्ञान के इतना उन्नति करने पर भी अभी तक किसी ऐसी वस्तु का कोई पता नहीं लगता है। वीजमेन के अनुसार सेलों में उत्पत्ति की शक्ति के ह्रास क कारण वृद्धावस्था आती है। रात-दिन सेल नष्ट हुआ करते हैं। जिस समय वह अवस्था आ जाती है कि सेल नवीन सेलों की उत्पत्ति नहीं कर सकते, उस समय वृद्धावस्था उत्पन्न हो जाती है।

यह तो केवल एक घटना हुई, जो वृद्धावस्था मे होती है। वृद्धावस्था के आने पर सेल उत्पत्ति कम कर देते हैं। यह क्योंकर कहा जा सकता है कि यही वृद्धावस्था का कारण है? वीजमेन यह नहीं बताता कि वृद्धावस्था में सेलों में क्यों उत्पत्ति कम होती है। इसी प्रकार का अमरीका के प्रोफेसर मिनट का मत है। वह कहते हैं कि सेलों की उत्पत्ति की शक्ति जीवन भर बराबर कम हुआ करती है। यहाँ तक कि वह समय आ जाता है जब व्यक्ति के शरीर में अपनी क्षति को पूर्ण करने की शक्ति नहीं रहती। बस, उस समय से शरीर का ह्रास आरंभ हो जाता है।

अब हमें देखना है कि यह बात कहाँ तक ठीक है। क्या वृद्धावस्था में सचमुच ही शरीर के सेल उत्पत्ति करना छोड़ देते हैं। डॉक्टर बुहलर के विचार से वृद्धावस्था मे घाव जो देर से भरते हैं उनका कारण ही यह होता है कि नवीन सेल नहीं बनते और यदि बनते है तो बहुत थोड़े बनते है। किंतु यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि यह बात ठीक नहीं है बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनसे मालूम होता है कि शरीर के कम से कम कुछ सेलों की उत्पत्ति-शक्ति किसी प्रकार कम नहीं होती। वृद्धावस्था मे बाल और नख वैसे ही उगते रहते है जैसे कि युवावस्था मे। बल्कि कुछ लोगों का कहना है कि उनकी वृद्धि

अधिक होती है। यह बहुधा देखा जाता है कि स्त्रियों के ओष्ठों पर जो हलका सा रुवाँ होता है, वह वृद्धावस्था में बड़ा हो जाता है और वहाँ पर बाल स्पष्टतया दिखाई देने लगते है। कुछ जातियों में, विशेषकर मगोल जाति के पुरुषों में, दाढ़ी और मूँछ दोनों वृद्धावस्था में बड़ी तेज़ी से बढ़ते हैं; किंतु युवावस्थावाले लोगों में दाढ़ी और मूँछ दोनों बहुत कम होते है। इसी प्रकार नाखून भी वृद्धावस्था में तेज़ी से बढ़ते है।

वृद्धावस्था के संबंध में मेचनिकाफ़ का सिद्धांत, जिसका संक्षेप से पहले उल्लेख हो चुका है, बड़ा विचित्र है। वह कहता है कि वृद्धावस्था का मुख्य कारण हमारी अंत्रियाँ हैं, जिनमें असंख्य जीवाणुओं का वास है। यह जीवाणु सदा अपनी क्रिया से कुछ विष बनाया करते हैं, जो मल और मूत्र द्वारा शरीर से निकल जाते हैं। किंतु हमारी बृहद् अंत्रियों की बनावट ऐसी है कि वहाँ पर मल बहुत समय तक जमा रहता है और अंत्रियों का यह भाग मल के विषों का शोषण कर लेता है। अधिकतर विष तो शरीर से बाहर निकल जाते है; किंतु कुछ शरीर में संचार करते हैं। इस प्रकार यह विष शरीर में एकत्रित होते रहते हैं। इन विषों के द्वारा सौत्रिक तंतु और रक्त के श्वेताणु, जिनका काम रोग के जीवाणुओं का भक्षण करना है, विषाक्त हो जाते हैं, जिससे वह उन्मत्त हस्ती की भाँति जो वस्तु पाते हैं, उसका नाश करते है। वह अपने उचित कर्म को भूल जाते हैं और उससे बिलकुल विपरीत कर्म करने लगते हैं। मेचनिकाफ़ ऐसे सेलों को भक्षक सेल कहता है; क्योंकि वह शरीर के भिन्न-भिन्न तंतुओं का नाश करते हैं। सिर के बालों के रंग का उड़ जाने का कारण यही होता है कि यह सेल रंग के कणों का भक्षण कर लेते हैं।

मेचनिकाफ़ के अनुसार सारे भिन्न-भिन्न अंगों में यह भक्षक सेल सचार करके वहाँ के तंतुओं का नाश करने लगते हैं। वृद्धावस्था में पेशी जो कमज़ोर हो जाती है, उसका कारण यह होता है कि पेशी के तंतु क्षीण होने लगते हैं। यह देखा गया है कि उनमें केंद्रों की बहुत अधिकता हो जाती है और पीले रंग के कुछ कण वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। पेशी के जो सूत्र होते हैं, वह धीरे-धीरे रचनाविहीन होने लगते हैं और अंत में केंद्रों के समूह की भाँति दीखने लगते हैं। अस्थियों के दुर्बल होने का भी यही कारण होता है। उनमें एकत्रित चूने के लवण, जिनके कारण अस्थियों में दृढ़ता आती है, वहाँ से निकल जाते हैं। अस्थि की घनिष्ठता कम हो जाती है; वह झर्झरी हो जाती है और तनिक अनुचित भार पड़ने से टूट जाती है। चूने को वहाँ से निकालने-वाले एक प्रकार के सेल होते हैं। इनमें केंद्रों की संख्या अधिक होती है। यह सेल अस्थि के भीतरी स्तरों के चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं और उनका नाश करते हैं। यह काम वह किस प्रकार करते हैं, इसका कुछ विशेष हाल मालूम नहीं है; किन्तु मेचनि-काफ़ की सम्मति में वह किसी प्रकार का अम्ल बनाते हैं, जिससे चूने के लवण घुल जाते हैं। यह चूना यहाँ से जाकर धमनी और शिराओं के भीतर एकत्रित हो जाता है, जिससे वह कड़ी पड़ जाती हैं।

इसी प्रकार मस्तिष्क के सेलों का भी नाश होता है। उनको भक्षण करनेवाले सेलों को मेचनिकाफ़ Neurophags कहता है। उसका कहना है कि शरीर की जीर्णता उत्पन्न करने में मस्तिष्क के सेलों के नाश का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। वह कहता है कि Neurophagy plays a most important part

in senescence' यह भक्षक सेल मस्तिष्क के सेलो को निगलते नहीं; किंतु वह उन पर चिपट जाते है और धीरे-धीरे उनको चूसते है। इस प्रकार यह उनका नाश कर डालते है। बहुत से वैज्ञानिक मेचनिकाफ के इस मत से सहमत नहो है। वह किसी प्रकार के भक्षक सेलो को नही मानते। विशेषकर मस्तिष्क के भक्षक सेलो के तो वह लोग बिलकुल ही विरुद्ध हैं। किंतु मेचनिकाफ पूर्ण विश्वास के साथ इन सेलो के न माननेवालों को ललकारता है। उसने ऐसे सेलों के बहुत से फोटो लिए हैं और उसने दीर्घ जीवन पर जो पुस्तक लिखी है, उसमें उनको प्रकाशित किया है।

मेचनिकाफ के सिद्धांत के अनुसार वृद्धावस्था का कारण बृहद् अंत्रियाँ हैं। यहाँ पर बहुत समय तक मल के एकत्रित रहने के कारण हमारा शरीर विष से संचरित हो जाता है। यदि किसी प्रकार इस विष से शरीर की रक्षा की जा सके, तो संभव है कि वृद्धावस्था बहुत समय तक न आए और इससे मृत्यु भी कुछ काल के लिये हट जाय। मेचनिकाफ को इसकी बड़ी आशा है। वह वृद्धावस्था को एक प्रकार का रोग समझता है, जो उचित प्रकार के साधनो द्वारा बहुत समय तक दूर रक्खा जा सकता है। इसके लिये उसने कई प्रकार के साधनो को बताया है।

वह कहता है कि यदि शरीर से बृहद् अंत्र को निकाल दिया जाय, तो इस रोग की संभावना बहुत कम रह जायगी; क्योंकि जब वह स्थान ही, जो सारे विकार को उत्पन्न करनेवाला है, निकल जायगा तो विकार की जड़ कट जायगी। मेचनिकाफ ने अनेक प्रकार से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विकार का मूल बृहद् अंत्र है, जहाँ भोजन का शेष एकत्रित होकर सड़ता है। बहुत

से पक्षियों में, जैसे तोते, यह भाग बहुत ही कम विकसित होता है। उनके शरीर को इस भाग से वह हानि नहीं पहुँचती, जो हमको व अन्य स्तनधारी पशुओ को पहुँचती है। मेचनिकाफ़ के विचारों के अनुसार इसमें तनिक भी सदेह करने का अवसर नहीं है कि वृहद् अंत्रि ही सारे दुख का मूल है।

दूसरा उपाय जो मेचनिकाफ़ बताता है, वह शरीर के भिन्न-भिन्न ततुओ की शक्ति को बढ़ाना है। इसके लिये उसकी सम्मति में उन्हीं ततुओं के रस को इनमें प्रविष्ट करना चाहिए। ऐसा करने से उनमें उत्तेजना पहुँचती और वह अधिक दृढ हो जाते है। किंतु इन दोनों उपायों को कार्यरूप में परिणत करना कठिन है। बृहद् अंत्रियों को निकालने के आपरेशन के लिये लोग जल्दी प्रस्तुत नहीं होगे।

तीसरा उपाय जिस पर मेचनिकाफ़ ने सबसे अधिक जोर दिया है, वह अंत्रियों में ही जीवाणुओ के नाश करने का उपाय है। उसका कहना है कि चोर को पकडने के लिये चोर ही को छोडना चाहिए। इसी प्रकार अंत्रियों के जीवाणुओं को मारने के लिये जीवाणुओ ही को काम मे लाना चाहिए। सारे जीवाणु रोग उत्पन्न करनेवाले नहीं होते। कुछ जीवाणुओं से हमको लाभ पहुँचता है। Bacillus Lacti-नामक जीवाणु एक ऐसे ही जीवाणुओं की जाति है, जो अंत्रियों में उपस्थित दूसरे जीवाणुओं को मारते हैं। दूध से जो दही जमता है, वह इन्हीं जीवाणुओं की क्रिया के कारण होता है। अतएव दही से इनकी बड़ी सख्या उपस्थित रहती है। यह खट्टे दही में अधिक होते हैं। अतएव मेचनिकाफ़ खट्टे दही, मट्ठे, केफ़िर इत्यादि के प्रयोग करने के लिये बहुत जोर देता है। उसने स्वय इसका प्रयोग किया है और वह

जीवन पर्यंत बराबर प्रयोग करता रहा। इसके द्वारा वह अपने पिता व वंश के अन्य कुटुम्बियों की अपेक्षा अधिक समय तक जीवित रहा।

दही व मट्ठे के साथ यह जीवाणु अंत्रियों में पहुँचकर एक प्रकार का अम्ल उत्पन्न करते हैं, जो दूसरे जीवाणुओं के लिये हानिकारक होता है। यह एक साधारण सी बात है कि अम्ल वस्तुओं को सड़ने नहीं देता। बहुत सी वस्तुओं को बहुत समय तक सुरक्षित रखने के लिये उनको अम्ल में रख देते हैं। अम्ल उन जीवाणुओं को, जो वस्तु को सड़ाते हैं, नाश कर देता है। शर्करा से भी यही होता है। जिन फलों को शक्कर में रखकर सुरक्षित कर देते हैं, वे नहीं सडते। कारण यह है कि उनमें फरमेंटेशन होने लगता है और इस क्रिया के कारण कुछ जीवाणु होते हैं, जो अम्ल बनाते हैं।

अंत्रियों मे जो सड़न होती है, उस पर इन जीवाणुओं का प्रभाव अध्ययन किया गया है। स्वयं जीवाणु खाए गए हैं। दूसरे प्रयोग लेक्टिक अम्ल के साथ किए गए है। इन प्रयोगों द्वारा यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है कि लेक्टिक जीवाणु अंत्रियों के हानि-कारण जीवाणुओं का नाश करता है और वहाँ की सड़न को रोकता है। अतएव वह विष, जो सड़न से उत्पन्न होकर शरीर में फैलते हैं, बहुत कम हो जाते हैं। इस कारण मेचनिकाफ इनको अंत्रियों के भीतर काफी संख्या मे पहुँचाने का आग्रह करता है।

किंतु स्वयं यह जीवाणु व लेक्टिक अम्ल अंत्रियों में न पहुँचने चाहिए। उनको खट्टे दही व मट्ठे के रूप में अंत्रियों में भेजना उचित है। इन वस्तुओं का हमारे देश में बहुत प्रयोग होता है, बहुत से अन्य देशों में यहाँ से भी अधिक प्रयोग होता है।

मानवजाति सदा से इन वस्तुओं द्वारा अपने शरीर को शुद्ध करने का प्रयत्न करती आई है। और बिना जाने हुए उसने अपने जीवनकाल को दीर्घ बनाने का उद्योग किया है।

संसार में कई देशों के निवासी व जातियों का दही और मट्ठा मुख्य भोजन-पदार्थ है। रूस में मट्ठे से दो प्रकार के पदार्थ बनते हैं और उनका प्रयोग किया जाता है। अमरीका के उष्ण प्रांतों के निवासियों का मुख्य भोजन मट्ठा है। जेम्सरिले नामक लेखक ने लिखा है कि उसको एक बार सन् १८१५ में अरब के जंगल में घूमने का अवसर पड़ा। उस समय उसे मालूम हुआ कि वहाँ के जंगली निवासियों का ऊँट के दही पर ही निर्वाह होता है। वह सब प्रकार का दही चाहे वह ताज़ा हो व खट्टा हो, प्रयोग करते थे। उनका स्वास्थ्य उत्तम था, उनके शरीर में काफ़ी तेज़ी थी और उनमें से बहुतों की बहुत अधिक आयु हो चुकी थी। रिले का कहना है कि उनमें से कोई-कोई तो दो वा तीन सौ वर्ष के वृद्ध थे। इन अंकों को सत्य मानना कठिन है। हाँ, उन लोगों की आयु अवश्य ही अधिक मानी जा सकती है।

इसी प्रकार बलगेरिया के निवासी दूध पर ही, जिससे वे मट्ठा बनाते हैं, अपना जीवननिर्वाह करते हैं। इस देश में सौ वर्ष से अधिक आयुवाले बहुत लोग मिलते हैं। M. Simine ने, जो कोकेसस में एक इंजिनियर थे, सन् १६०४ में एक पत्र में निम्नलिखित सूचना लिखी थी। "गौरी" (Gori) के प्रांत में स्बा (Sba) ग्राम में ओस्टेट जाति की एक स्त्री रहती है, जिसका नाम थैंस ऐबल्वा (Thense Abalva) है। इसकी आयु १८० वर्ष की कही जाती है। यह अभी तक अपने गृह के कार्यों को करने के योग्य है और वस्त्र सी सकती है। यद्यपि उसकी कमर

झुक गई है, तो भी वह अच्छी तरह चल-फिर सकती है। उसने कभी शराब नहीं पी है। वह प्रातःकाल उठती है। उसका मुख्य भोजन जौ की रोटी और मट्ठा है।"

मेचनिकाफ ने आठ वर्ष तक मट्ठा, दही इत्यादि का प्रयोग किया। उसका कहना है कि—"Am well pleased with the result and I think that my experiment has gone on long enough to justify my view

यदि अंत्रियाँ ही हमारे जीवन के अन्त का या उसकी क्षीणता का कारण हैं तो मेचनिकाफ के बताए हुए प्रयोग की अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारे रोगों का मुख्य कारण हमारी पाचन-प्रणाली ही में स्थित है। शरीर की दुर्बलताएँ वहीं से उत्पन्न होती हैं। दुर्भाग्य से विज्ञान अभी तक ऐसा भोजन नहीं बना सका है, जिसको 'आदर्श भोजन' कहा जा सके, जिससे शरीर की सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँ और उससे कुछ ऐसा शेष भाग न बचे कि वह अंत्रियों में एकत्रित होकर लाभ पहुँचाने के स्थान में हानि पहुँचाए। यदि ऐसा भोजन बन सके कि जो शरीर को पूर्णतया पोषित करे और उससे तनिक भी मल न बने, तो कदाचित् मनुष्यजाति के बहुत से कष्ट दूर हो सकें।

किंतु जब तक यह नहीं होता, तब तक अपने शरीर को उत्तम अवस्था में रखने, अपनी मानसिक शक्तियों को क्षीण न होने देने और शरीर की कार्यशक्ति का पूर्ण विकास चाहनेवालों को इन उपायों का प्रयोग करना चाहिए और साथ में सरल शुद्ध और प्रकृति के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे जीवन के दीर्घ होने की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

किंतु दिवस के पश्चात् रात्रि, कार्य के पश्चात् विश्राम, क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया का प्रकृति का अटल नियम है। जीवन के पश्चात् मृत्यु अवश्य होती है। ससार में यात्रा करने के पश्चात् "अपनी-अपनी गैल पथी सब जैहैं कोई।" संसार भी एक अद्भुत कार्यक्षेत्र है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्म करना होता है, और करने के पश्चात् चला जाना होता है। जो अपने कार्य में चूक जाते है, उन पर यह संसार कलंक का टीका लगा देता है जो संसार की भलाई के लिए कुछ काम कर जाते हैं, उनके सिर पर यश का सेहरा बाँध देता है।

'गच्छतीति जगत्' जो चलता-फिरता रहे वह जगत है। यहाँ प्रत्येक वस्तु आती-जाती रहती है। कोई वस्तु स्थिर नहीं है:—

दुनिया अजब सराय फ़ानी देखी ;
हर चीज यहाँ की आनी-जानी देखी।
आके न जाय वह बुढ़ापा देखा ;
जाके न आय वह जवानी देखी।

शब्दानुक्रमणिका

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अंगरेजी शब्द
उत्पादन	४६२	Reproduction
उदर	२६३	Abdomen
उन्नतोदर	४६०	Convex
उपचर्म	३१६,३२२	Epidermis
उपवटुका	४२५	Parathyroid
उपांड	४६७	Epididymis
उभयोत्पादक	४६६	Hermaphrodite
	ए, ऐ	
एक्रोमोगेली	४२१	Acromegaly
ऐडीसन का रोग	५२७	Addison's disease
ऐड्रिनेलिन	४२८	Adrenalin
ऐपोजेनिसिस	५८५	Epigenesis
ऐल्गी	४६५	Algae
	क	
कनीनिका	४४७	Cornea
कनीनिका का सच्छिद्र बंधन	४४८	Ligamentum pectinatum Iridis
कमल	५४६	Placenta
कर्णकुटी	४७३	Vestibule
कर्णकुटी का पश्चात् कोष्ठ	४७७	Saccule
,, ,, पूर्व कोष्ठ	,,	Utricle
कर्ण-कंठ-नाली	४७३	Eustachian tube

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेजी शब्द
कर्णपटह	४७३	Tympanic membrane
कर्णपाली	,,	Lobe of ear
कर्णपृष्ठ का यंत्र	४७४	Auroscope
कर्णेंद्रिय	४७२	Ear
कलल अवस्था	५२७	Morula stage
किरण-केंद्र	४५३	Focus
कुपोला	४८३	Cupola
केंचुवे	३४३	Earthworm
केलशियम आकूजेलेट	३१५	Calcium oxalate
कोक्लिया	४७३	Cochlea
कोर्टीका यंत्र	४८६	Cortis organ
क्रिटिनिज्म	४२०	Cretinism
क्रियेटीनीन	२६३	Cretinin
क्रोमोसोम	५२०	Chrmosome
	ख	
खातवेष्टितांकुर	४३८	Circum vallate papiltae
	ग	
गंड	३८७	Ganglion
गर्भकाल	५५४	Period of pregnancy

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी- शब्द
ा्भाधान	५२१	Fertilization
ा्भाशय	५१२	Uterus
ावीनी	२६८,३०२	Spherical aberration
ोजापेरण	४६३	Suppressed character
ेण	५६८	Ureter
	घ	
ाखंड	३५१	Oljactory lobe
ोंद्रिय	४४२	Organ of smell
	च	
क्रांग	३४६	Convolutions
र्म	३१६	Dermis
	छ	
ुत्रिकांकुर	४४०	——
	ज	
जेह्वा	४३८	Tongue
ह्वा कंठिका नाडी	४४२	Glossophraryngeal
ली मछली	३४२	Jelly fish
	ट	
पेल फास्फेट	३१४	Tripple phosphate

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	ड	
डिप्थीरिया	६१३	Diphtheria
डिंभ	५११,५१२	Ovum
डिंभकोष	५१०	Grafian follicle
डिंभ-ग्रंथि	४५५,५१०	Ovary
डिंभ-प्रणाली	५११,५१२	Fallopian tube
	त	
तारा	४४७	Pupil
ताल	४४६	Lens
त्वचा	३१७	Skin
	थ	
थायरो-आयोडोन	४२५	Thyro-iodin
	द	
दंड और शंकु	४४९	Rods and cones
दंद्र	३९०	Dendron
दूरदृष्टि	४६०	Hyper metropea
द्विध्रुवीय सेल	३८८	Bipolar cells
	ध	
धूसर पदार्थ	३५५	Grey matter

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
ध्रुवीय कण	५१६	Polar bodies

न

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
नतोदर	४५८	Concave
नाड़ी-अक्ष	३७६	Axis fibre
नाडी का ध्वंस	,,	Degeneration of nerve
नाड़ी-भक्षक	६१०	Neurophaly
नाडी-मडल	३३६	Nervus system
नाडी-सूत्र	३७६	Nerve fibre
नाडी-सेल	३८६	Nerve cells
नाड्यागु	३६०	Nevron
नाड्याश्रय	३६४	Nevroglia
नाति	५६६	जाति
नाल	५३६	Umbilical cord
निःस्रोत ग्रंथि	४१८	Ducllers gland
निद्धरिक	५८७	Determinants
निद्रा	४०५	Sleep
निद्रालुविष	४०८	Hypnotoxins
निरंतरता	५८६	Continuity
नेत्र	४४४	Eye
नेत्रगुहा	४४५	Orbit
नेत्रगोलक	,,	Eyeball
नेहाई	४७५	Incers

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	प	
पतंग-समुदाय	४६७	Insects
परावर्तन	४०३	Reflex
परावर्तित क्रिया	४००	Reflex action
परिपक्वीकरण	५१६	Maturation
पश्चात् कोष्ठ	४५६	Posterior chamber
पश्चात् प्रतिबिंब	४६६	After images
पश्चात् मूल	३५०	Posterior root
पाश्चात्य ध्रुव	३५१	Occipital lobe
पिट्यूटरीन	४३२	Pituitrin
पीत बिंदु	४४८	Yellow spot
पीतांग	५११	Corpus lutenno
पीयूष ग्रंथि	४३०	Pituitory gland
पुरुष-पूर्वकेंद्र	५२३	Male pronucleus
पूर्व कोष्ठ	४५६	Anterior chamber
पूर्व मूल	३५०	Anterior root
पौरुष ग्रंथि	५०१	Prostate
प्रत्यावर्तक क्रिया	४००	Reflex action
प्रधान संस्कार	५६८	Dominant character
प्रसव	५५५	Labour
प्रसूति-काल	५६६	Puerperium
प्लीहा	४१३	Spleen
प्लैहिक धमनी	४१५	Splenic Artery

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
	फ	
फलक	४७६	Septum
फ़्लाउरेंस (नाम)	३६८	Flourens (name)
	ब	
बहिःपटल	४४६	Sclera
बहिर्लसीका	४८१	Perilymph
बहुध्रुवीय सेल	३८६	Multipolar cells
बाल	३२३	Hair
बालकोष	,,	Hair follicle
बाल-ग्रंथि	४२५	Thymus
बोमेन (नाम)	३०६	Bowman (name)
वृद्धावस्था दृष्टि	४६०	Prisbyopia
वृद्धि	६०२	Growth
वृद्धिक्रम	५४२	Development
बृहद् मस्तिष्क	३४७	Cerebrum
ब्राउन सीकर्ड	४३४	Brown Sequard (name)
	भ	
भ्रूणसेल	५०७	Embryonic cell
	म	
मध्यकर्ण	४७५	Middle ear

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
मध्यपटल	४४६	Choroid
मध्योत्पादक	५२५	Mesoderm
मस्तिष्क के केंद्र	३६०	Centres of Brain
मस्तिष्क के कोष्ठ	३५३	Ventricles of Brain
मस्तिष्कीय नाड़ियाँ	३५०	Cerebral nerves
महासंयोजक	,,	——
मिक्सोडरमा	४२०	Myxoderma
मीनार	२६८	Pyramid
मुद्गर	४७५	Mallens
मूत्र-त्याग	३११	Micturition
मूत्र-प्रणाली	२६६	Urinary tubules
मूत्र-प्रवाहक	३०८	Dieuretics
मूत्रवाहक संस्थान	२६६	Urinary system
मूत्राशय	३०३	Urinary bladder
मूत्रोत्सिका	२६६	Glomerulus
मेदस्पिधान	३७६	Medullary sheath
मैथुनी विधि	४६६	Sexual reproduction
मैंडेल का सिद्धान्त	५६७	Mendalism
मोलस्क	५८४	Molluse
मौखिकी नाड़ी	४७३	Facial nerve

य

यूरिक अम्ल	३१३	Uric acid

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेजी-शब्द
यूरिया	२६३, ३०४, ३०६	Urea
योनि	५१४	Vagina
र		
रकाब	४७५	Stapes
रजोनिवृत्ति	५१६	Menopause
रंजक कण	४५०	Pigments
रश्मि	४५२	Ray of light
राजयक्ष्मा	२६४	Tuberculosis pulmonary
ल		
लघु मस्तिष्क	३४८	Cerebellum
लडविग (नाम)	३०५	Ludwig (name)
लब्ध	५६२	Acquired
ललाट ध्रुव	३५१	Frontal lobe
लसीका स्थान	३०७	Lymph hearts
लारवा	६१६	Laerva
लोमेश सेल	४८७	Prickle cells
व		
वर्ण	४२४	Colour

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
वर्णापेरण	४६४	Chromatic aberration
वर्तन	४५३	Refraction
वशानुगत	५९२	Inherited
वाष्पीभवन	५३४	Evaporation
वाह्यकर्ण	४७५	External ear
वाह्य कर्णगुहा	४७३	Cavity of external ear
वाह्य कला	४५०	External limiting membrane
वाह्योत्पादक	५२५	Ectoderm
विकासमत	५८५	Evolution
विष त्याग	३२८	Excretion of toxins
विशिष्ट जीवन-काल	६१७	Specific duration of life
वृक्क	२६३	Kidney
	स	
संगम	३९४	Synapse
संचालक नाड़ी	३७६	Motor nerve
समीप दृष्टि	४५७	Myopia
समीप स्थान	४५६	Near point
संस्कार	५८९	Character
संज्ञा	३२४	Sensation
सांवेदनिक नाड़ी	३७६	Sensory nerve

हिंदी-शब्द	पृष्ठ संख्या	पर्यायवाची अँगरेजी शब्द
सिलियरी पेशी	४४८	Cılıary muscle
सिलियरी प्रवर्द्धन	४४७,४४८	Cılıary processes
सुषुम्ना	३४६,३५०	Medulla Oblongata
सुषुम्ना शीर्षक	३४८,३५०	Spınal chord
सूत्रकांकुर	४४०	——
सेतु	३४८	Pores
सौषुम्निक नाड़ियाँ	३५०	Spinal nerves
स्टीनाच	५३४	Steınach
स्त्री पूर्वकेंद्र	५२३	Female pronucleus
स्पर्शकण	३२६	Paceınıan corpuscle
स्पायरोकीयकीटा पैलिडा	६१३	Spirochaeta pallıda
स्पायरो गायरा	४६५	Spırogyra
स्वपुनरुत्पत्ति	२७६	Autoregeneratıon
स्वाद-कोष	४४०	Taste buds
स्वेद-ग्रंथि	३१६	Sweet gland
स्वेद नलिका	,,	Ducts of sweat gland

श

शख भ्रव	३५१	Temporal lobe
शंखास्थि	४७३	Tympanıc bone

हिंदी शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
शलाका	३११	Catheter
शिफा प्रवर्द्धन	३७५	Styfoid process
शिश्न	५०७	Penis
शुक्र	५०२	Semen
शुक्र-ग्रंथि	४३२	Testis
शुक्र-नलिका	४६७	Seminiferous tubules
शुक्र-प्रणाली	,,	Ductus deferens
शुक्राणु	४३२,४६६	Sperms
शुक्राणुजनक सेल	५२०,५७६	Spermatocyte
शुक्राशय	५०१	Seminal vesicles
श्रवण-नाड़ी	४७८	Auditory nerve
श्वेत पदार्थ	३५५	White matter

ह

हिंदी शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
हारमोन	४६८	Harmone
हृदय का प्रसार	४२४	Dilation of heart

ज्ञ

हिंदी शब्द	पृष्ठ-संख्या	पर्यायवाची अँगरेज़ी-शब्द
ज्ञानेंद्रिय	४३७	Organs of sense